



श्री अष्टपाहुड

- कुन्दकुंदाचार्य

Index

गाथा / सूत्र	विषय
दर्शन-पाहुड	
001)	मंगलाचरण
002)	दर्शन-रहित अवन्दनीय
003)	दर्शन रहित चारित्र से निर्वाण नहीं
004)	ज्ञान से भी दर्शन को अधिकता
005)	सम्यक्त्वरहित तप से भी स्वरूप-लाभ नहीं
006)	सम्यक्त्व सहित सभी प्रवृत्ति सफल है
007)	सम्यक्त्व आत्मा को कर्मरज नहीं लगने देता
008)	दर्शनभ्रष्ट भ्रष्ट हैं
009)	दर्शन-भ्रष्ट द्वारा धर्मात्मा पुरुषों को दोष लगाना
010)	दर्शन-भ्रष्ट को फल-प्राप्ति नहीं
011)	जिनदर्शन ही मूल मोक्षमार्ग है
012)	दर्शन-भ्रष्ट दर्शन-धारकों की करें
013)	दर्शन-भ्रष्ट की विनय नहीं
014)	सम्यक्त्व के पात्र
015)	सम्यग्दर्शन से ही कल्याण-अकल्याण का निश्चय
016)	कल्याण-अकल्याण को जानने का प्रयोजन
017)	सम्यक्त्व जिनवचन से प्राप्त होता है
018)	जिनवचन में दर्शन का लिंग
019)	बाह्यलिंग सहित अन्तरंग श्रद्धान ही सम्यग्दृष्टि
020)	सम्यक्त्व के दो प्रकार
021)	सम्यग्दर्शन ही सब गुणों में सार
022)	श्रद्धानी के ही सम्यक्त्व
023)	दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित की वंदना
024)	यथाजातरूप को मत्सरभाव से वन्दना नहीं करते, वे मिथ्यादृष्टि
025)	इसी को दृढ़ करते हैं
026)	असंयमी वंदने योग्य नहीं
027)	इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं
028)	तप आदि से संयुक्त को नमस्कार
029)	समवसरण सहित तीर्थकर वंदने योग्य हैं या नहीं
030)	मोक्ष किससे होता है?
031)	ज्ञान आदि के उत्तरोत्तर सारपना
032)	इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं
033)	सम्यग्दर्शनरूप रत्न देवों द्वारा पूज्य

034)	सम्यक्त्व का माहात्म्य
035)	स्थावर प्रतिमा
036)	जंगम प्रतिमा

सूत्र-पाहुड

037)	सूत्र का स्वरूप
038)	सूत्रानुसार प्रवर्तनेवाला भव्य
039)	सूत्र-प्रवीण के संसार नाश
040)	सूई का दृष्टान्त
041)	सूत्र का जानकार सम्यक्त्वी
042)	दो प्रकार से सूत्र-निरूपण
043)	सूत्र और पद से भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि
044)	जिनसूत्र से भ्रष्ट हरि-हरादिक भी हो तो भी मोक्ष नहीं
045)	जिनसूत्र से च्युत, स्वच्छंद प्रवर्तते हैं, वे मिथ्यादृष्टि
046)	जिनसूत्र में मोक्षमार्ग ऐसा
047)	मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति
048)	उनकी प्रवृत्ति का विशेष
049)	शेष सम्यग्दर्शन ज्ञान से युक्त वस्त्रधारी इच्छाकार योग्य
050)	इच्छाकार योग्य श्रावक का स्वरूप
051)	इच्छाकार के अर्थ को नहीं जान, अन्य धर्म का आचरण से सिद्धि नहीं
052)	इस ही अर्थ को दृढ़ करके उपदेश
053)	जिनसूत्र के जानकार मुनि का स्वरूप
054)	अल्प परिग्रह ग्रहण में दोष
055)	इस ही का समर्थन करते हैं
056)	जिनवचन में ऐसा मुनि वन्दने योग्य
057)	दूसरा भेष उत्कृष्ट श्रावक का
058)	तीसरा लिंग स्त्री का
059)	वस्त्र धारक के मोक्ष नहीं
060)	स्त्रियों को दीक्षा नहीं है इसका कारण
061)	दर्शन से शुद्ध स्त्री पापरहित
062)	स्त्रियों के निशंक ध्यान नहीं
063)	सूत्रपाहुड का उपसंहार

चारित्र-पाहुड

064-065)	नमस्कृति तथा चारित्र-पाहुड लिखने की प्रतिज्ञा
066)	सम्यग्दर्शनादि तीन भावों का स्वरूप
067)	जो तीन भाव जीव के हैं उनकी शुद्धता के लिए चारित्र दो प्रकार का कहा है
068)	दो प्रकार का चारित्र
069)	सम्यक्त्वचरण चारित्र के मल दोषों का परिहार
070)	सम्यक्त्व के आठ अंग
071)	इसप्रकार पहिला सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहा

072)	सम्यक्त्वाचरण चारित्र को अंगीकार करके संयमचरण चारित्र को अंगीकार करने की प्रेरणा
073)	सम्यक्त्वाचरण से भ्रष्ट और वे संयमाचरण सहित को मोक्ष नहीं
074-075)	सम्यक्त्वाचरण चारित्र के चिह्न
076)	सम्यक्त्व कैसे छूटता है?
077)	सम्यक्त्व से च्युत कब नहीं होता है?
078)	अज्ञान मिथ्यात्व कुचारित्र के त्याग का उपदेश
079)	फिर उपदेश करते हैं
080)	यह जीव अज्ञान और मिथ्यात्व के दोष से मिथ्यामार्ग में प्रवर्तन करता है
081)	सम्यग्दर्शन-ज्ञान-श्रद्धान से चारित्र के दोष दूर होते हैं
082)	सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से शीघ्र मोक्ष
083)	सम्यक्त्वाचरण चारित्र के कथन का संकोच करते हैं
084)	संयमाचरण चारित्र
085)	सागार संयमाचरण
086)	इन स्थानों में संयम का आचरण किसप्रकार से है?
087)	पाँच अणुव्रतों का स्वरूप
088)	तीन गुणव्रत
089)	चार शिक्षाव्रत
090)	यतिधर्म
091)	यतिधर्म की सामग्री
092)	पाँच इन्द्रियों के संवरण का स्वरूप
094)	इनको महाव्रत क्यों कहते हैं?
095)	अहिंसाव्रत की पाँच भावना
096)	सत्य महाव्रत की भावना
097)	अचौर्य महाव्रत की भावना
098)	ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना
099)	पाँच अपरिग्रह महाव्रत की भावना
100)	पाँच समिति
101)	ज्ञान का स्वरूप
102)	जो इसप्रकार ज्ञान से ऐसे जानता है, वह सम्यग्ज्ञानी
103)	मोक्षमार्ग को जानकर श्रद्धा सहित इसमें प्रवृत्ति करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है
104)	निश्चयचारित्ररूप ज्ञान का स्वरूप कि महिमा
105)	गुण दोष को जानने के लिए ज्ञान को भले प्रकार से जानना
106)	जो सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र धारण करता है, वह थोड़े ही काल में अनुपम सुख को पाता है
107)	चारित्र के कथन का संकोच
108)	चारित्रपाहुड को भाने का उपदेश और इसका फल

बोध-पाहुड

109-110)	ग्रन्थ करने की मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा
111-112)	'बोधपाहुड' में ग्यारह स्थलों के नाम
113)	आयतन का निरूपण
116)	चैत्यगृह का निरूपण

118)	जिनप्रतिमा का निरूपण
122)	दर्शन का स्वरूप
124)	जिनबिंब का निरूपण
127)	जिनमुद्रा का स्वरूप
128)	ज्ञान का निरूपण
129)	इसी को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं
130)	इसप्रकार ज्ञान-विनय-संयुक्त पुरुष होवे वही मोक्ष को प्राप्त करता है
132)	देव का स्वरूप
133)	धर्मादिक का स्वरूप
134)	तीर्थ का स्वरूप
136)	अरहंत का स्वरूप
137)	नाम को प्रधान करके कहते हैं
139)	स्थापना द्वारा अरहंत का वर्णन
140)	गुणस्थान में अरिहंत की स्थापना
141)	मार्गणा में अरिहंत की स्थापना
142)	पर्याप्ति में अरिहंत की स्थापना
143)	प्राण में अरिहंत की स्थापना
144)	जीवस्थान में अरिहंत की स्थापना
145-148)	द्रव्य की प्रधानता से अरहंत का निरूपण
148-149-150)	प्रव्रज्या (दीक्षा) का निरूपण
151)	प्रव्रज्या का स्वरूप
157)	दीक्षा का बाह्यस्वरूप
163)	अन्य विशेष
166)	बोधपाहुड का संकोच
167)	बोधपाहुड पूर्वाचार्यों के अनुसार कहा है
168)	भद्रबाहु स्वामी की स्तुतिरूप वचन

भाव-पाहुड

169)	मंगलाचरण कर ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा
170)	दो प्रकार के लिंग में भावलिंग परमार्थ
171)	बाह्यद्रव्य के त्याग की प्रेरणा
172)	करोड़ों भवों के भाव रहित तप द्वारा भी सिद्धि नहीं
173)	इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं
174)	भाव को परमार्थ जानकर इसी को अंगीकार करो
175)	भाव-रहित द्रव्य-लिंग बहुत बार धारण किये, परन्तु सिद्धि नहीं हुई
176)	भाव-रहितपने के कारण चारों गतियों में दुःख प्राप्ति
177)	नरकगति के दुःख
178)	मनुष्यगति के दुःख
179)	तिर्य्यगति के दुःख
180)	देवगति के दुःख
181)	अशुभ भावना द्वारा देवों में भी दुःख

182)	पार्श्वस्थ भावना से दुःख
183)	देव होकर मानसिक दुःख पाये
184)	अशुभ भावना से नीच देव होकर दुःख पाते हैं
185)	मनुष्य-तिर्यच होवे, वहाँ गर्भ के दुःख
186)	अनंतों बार गर्भवास के दुःख प्राप्त किये
187)	मरण द्वारा दुखी हुआ
188)	अनन्त बार संसार में जन्म लिया
189)	जल-थल आदि स्थानों में सब जगह रहा
190)	लोक में सर्व पुद्गल भक्षण किये तो भी अतृप्त रहा
191)	समस्त जल पीया फिर भी प्यासा रहा
192)	अनेक बार शरीर ग्रहण किया
193-195)	आयुकर्म अनेक प्रकार से क्षीण हो जाता है
196)	निगोद के दुःख
197)	क्षुद्रभव -- अंतर्मुहूर्त के जन्म-मरण
198)	इसलिए अब रत्नत्रय धारण कर
199)	रत्नत्रय इसप्रकार है
200)	सुमरण का उपदेश
201)	क्षेत्र-परावर्तन
202)	काल-परावर्तन
203)	द्रव्य-परावर्तन
204)	क्षेत्र परावर्तन
205)	शरीर में रोग का वर्णन
206)	उन रोगों का दुःख तूने बहुत सहा
207)	अपवित्र गर्भवास में भी रहा
208)	फिर इसी को कहते हैं
209)	बालकपन में भी अज्ञान-जनित दुःख
210)	देह के स्वरूप का विचार करो
211)	अन्तरंग से छोड़ने का उपदेश
212)	भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं -- उदाहरण बाहुबली
213)	मधुपिंगल मुनि का उदाहरण करते हैं
214)	भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं -- वशिष्ठ मुनि
215)	भावरहित चौरासी लाख योनियों में भ्रमण
216)	द्रव्य-मात्र से लिंगी नहीं, भाव से होता है
217)	द्रव्यलिंगधारक को उलटा उपद्रव हुआ -- उदाहरण
218)	दीपायन मुनि का उदाहरण
219)	भाव-शुद्धि सहित मुनि हुए उन्होंने सिद्धि पाई, उसका उदाहरण
220)	भाव-शुद्धि बिना शास्त्र भी पढ़े तो सिद्धि नहीं -- उदाहरण अभव्यसेन
221)	शास्त्र पढ़े बिना भी भाव-विशुद्धि द्वारा सिद्धि -- उदाहरण शिवभूति मुनि
222)	इसी अर्थ को सामान्यरूप से कहते हैं
223)	इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं
224)	भावलिंग का निरूपण करते हैं

225)	इसी अर्थ को स्पष्ट कर कहते हैं
226)	ज्ञान, दर्शन, संयम, त्याग संवर और योग इनमें अभेद के अनुभव की प्रेरणा
227)	इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं
228)	जो मोक्ष चाहे वह इसप्रकार आत्मा की भावना करे
229)	जो आत्मा को भावे वह इसके स्वभाव को जानकर भावे, वही मोक्ष पाता है
230)	जीव का स्वरूप
231)	जो पुरुष जीव का अस्तित्व मानते हैं वे सिद्ध होते हैं :
232)	वचन के अगोचर है और अनुभवगम्य जीव का स्वरूप इसप्रकार है
233)	जीव का स्वभाव -- ज्ञानस्वरूप
234)	पढ़ना, सुनना भी भाव बिना कुछ नहीं है
235)	यदि बाह्य नग्नपने से ही सिद्धि हो तो नग्न तो सब ही होते हैं
236)	केवल नग्नपने की निष्फलता दिखाते हैं
237)	भाव-रहित द्रव्य-नग्न होकर मुनि कहलावे उसका अपयश होता है
238)	भावलिंगी होने का उपदेश करते हैं
239)	भावरहित नग्न मुनि है वह हास्य का स्थान है
240)	द्रव्यलिंगी बोधि-समाधि जैसी जिनमार्ग में कही है वैसी नहीं पाता है
241)	पहिले भाव से नग्न हो, पीछे द्रव्यमुनि बने यह मार्ग है
242)	शुद्ध भाव ही स्वर्ग-मोक्ष का कारण है, मलिनभाव संसार का कारण है
243)	भाव के फल का माहात्म्य
244)	भावों के भेद
245)	भाव -- शुभ, अशुभ और शुद्ध । आर्त्त और रौद्र ये अशुभ ध्यान हैं तथा धर्मध्यान शुभ है
246)	जिनशासन का इसप्रकार माहात्म्य है
247)	ऐसा मुनि ही तीर्थकर-प्रकृति बाँधता है
248)	भाव की विशुद्धता के लिए निमित्त आचरण कहते हैं
249)	द्रव्य-भावरूप सामान्यरूप से जिनलिंग का स्वरूप
250)	जिनधर्म की महिमा
251)	धर्म का स्वरूप
252)	पुण्य ही को धर्म मानना केवल भोग का निमित्त, कर्मक्षय का नहीं
253)	आत्मा का स्वभावरूप धर्म ही मोक्ष का कारण
254)	आत्मा के लिए इष्ट बिना समस्त पुण्य के आचरण से सिद्धि नहीं
255)	आत्मा ही का श्रद्धान करो, प्रयत्न-पूर्वक जानो, मोक्ष प्राप्त करो
256)	बाह्य-हिंसादिक क्रिया के बिना, अशुद्ध-भाव से तंदुल मत्स्य नरक को गया
257)	भावरहित के बाह्य परिग्रह का त्यागादिक निष्प्रयोजन
258)	भावशुद्धि के लिये इन्द्रियादिक को वश करो, भावशुद्धि-रहित बाह्यभेष का आडम्बर मत करो
259)	फिर उपदेश कहते हैं
260)	फिर कहते हैं
261)	ऐसा करने से क्या होता है ?
262)	भावशुद्धि के लिए फिर उपदेश
263)	परीषह जय की प्रेरणा
265)	भाव-शुद्ध रखने के लिए ज्ञान का अभ्यास
266)	भाव-शुद्धि के लिए अन्य उपाय

267)	भावसहित आराधना के चतुष्क को पाता है, भाव बिना संसार में भ्रमण
268)	आगे भाव ही के फल का विशेषरूप से कथन
269)	अशुद्ध-भाव से अशुद्ध ही आहार किया, इसलिये दुर्गति ही पाई
270)	सचित्त भोजन पान -- अशुद्ध-भाव
271)	कंद-मूल-पुष्प आदि सचित्त भोजन -- अशुद्ध-भाव
272)	विनय का वर्णन
273)	वैयावृत्य का उपदेश
274)	गर्हा का उपदेश
275)	क्षमा का उपदेश
276)	क्षमा का फल
277)	क्षमा करना और क्रोध छोड़ना
278)	दीक्षाकालादिक की भावना का उपदेश
279)	भावलिंग शुद्ध करके द्रव्यलिंग सेवन का उपदेश
280)	चार संज्ञा का फल संसार-भ्रमण
281)	बाह्य उत्तरगुण की प्रेरणा
282)	तत्त्व की भावना का उपदेश
283)	तत्त्व की भावना बिना मोक्ष नहीं
284)	पाप-पुण्य का और बन्ध-मोक्ष का कारण जीव के परिणाम
285)	पाप-बंध के परिणाम
286)	इससे उलटा जीव है वह पुण्य बाँधता है
287)	आठों कर्मों से मुक्त होने की भावना
288)	कर्मों का नाश के लिये उपदेश
289)	भेदों के विकल्प से रहित होकर ध्यान का उपदेश
290)	यह ध्यान भावलिंगी मुनियों का मोक्ष करता है
291)	दृष्टांत
292)	पंच परमेष्ठी का ध्यान करने का उपदेश
293)	ज्ञान के अनुभवन का उपदेश
294)	ध्यानरूप अग्नि से आठों कर्म नष्ट होते हैं
295)	उपसंहार - भाव श्रमण हो
296)	भाव-श्रमण का फल प्राप्त कर
297)	भावश्रमण धन्य है, उनको हमारा नमस्कार
298)	भावश्रमण देवादिक की ऋद्धि देखकर मोह को प्राप्त नहीं होते
299)	भाव-श्रमण को सांसारिक सुख की कामना नहीं
300)	बुढ़ापा आए उससे पहले अपना हित कर लो
301)	अहिंसाधर्म के उपदेश का वर्णन
302)	अज्ञान-पूर्वक भूत-काल में त्रस-स्थावर जीवों का भक्षण
303)	प्राणि-हिंसा से संसार में भ्रमण कर दुःख पाया
304)	दया का उपदेश
305)	मिथ्यात्व से संसार में भ्रमण । मिथ्यात्व के भेद
306)	अभव्यजीव अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता, उसका मिथ्यात्व नहीं मिटता
307)	एकान्त मिथ्यात्व के त्याग की प्रेरणा

308)	कुरु के त्याग की प्रेरणा
309)	अनायातन त्याग की प्रेरणा
310)	सर्व मिथ्या मत को छोड़ने की प्रेरणा
311)	सम्यग्दर्शन-रहित प्राणी चलता हुआ मृतक है
312)	सम्यक्त्व का महानपना
313)	सम्यक्त्व ही जीव को विशिष्ट बनाता है
314)	सम्यग्दर्शन-सहित लिंग की महिमा
315)	ऐसा जानकर दर्शनरत्न को धारण करो
316)	जीवपदार्थ का स्वरूप
317)	सम्यक्त्व सहित भावना से घातिया कर्मों का क्षय
318)	घातिया कर्मों के नाश से अनन्त-चतुष्टय
319)	अनन्तचतुष्टय धारी परमात्मा के अनेक नाम
320)	अरिहंत भगवान मुझे उत्तम बोधि देवे
321)	अरहंत जिनेश्वर को नमस्कार से संसार की जन्मरूप बेल का नाश
322)	जिनसम्यक्त्व को प्राप्त पुरुष आगामी कर्म से लिप्त नहीं होता
323)	भाव सहित सम्यग्दृष्टि हैं वे ही सकल शील संयमादि गुणों से संयुक्त हैं, अन्य नहीं
324)	सम्यग्दृष्टि होकर जिनने कषायरूप सुभट जीते वे ही धीरवीर
325)	आप दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप होकर अन्य को भी उन सहित करते हैं, उनको धन्य है
326)	ऐसे मुनियों की महिमा करते हैं
327)	उन मुनियों के सामर्थ्य कहते हैं
328)	इसप्रकार मूलगुण और उत्तरगुणों से मंडित मुनि हैं वे जिनमत में शोभा पाते हैं
329)	इसप्रकार विशुद्ध-भाव द्वारा तीर्थंकर आदि पद के सुखों पाते हैं
330)	मोक्ष का सुख भी ऐसे ही पाते हैं
331)	सिद्ध-सुख को प्राप्त सिद्ध-भगवान मुझे भावों की शुद्धता देवें
332)	भाव के कथन का संकोच
333)	भावपाहुड़ को पढ़ने-सुनने व भावना करने का उपदेश

मोक्ष-पाहुड

334)	मंगलाचरण और ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा
335)	मंगलाचरण कर ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा
336)	ध्यानी उस परमात्मा का ध्यान कर परम पद को प्राप्त करते हैं
337)	आत्मा के तीन प्रकार
338)	तीन प्रकार के आत्मा का स्वरूप
339)	परमात्मा का विशेषण द्वारा स्वरूप
340)	अंतरात्मपन द्वारा बहिरात्मपन को छोड़कर परमात्मा बनो
341)	बहिरात्मा की प्रवृत्ति
342)	मिथ्यादृष्टि का लक्षण
343)	मिथ्यादृष्टि पर में मोह करता है
344)	मिथ्याज्ञान और मिथ्याभाव से आगामी भव में भी यह मनुष्य देह को चाहता है
345)	देह में निर्मम निर्वाण को पाता है
346)	बंध और मोक्ष के कारण का संक्षेप

347)	स्वद्रव्य में रत सम्यग्दृष्टि कर्मों का नाश करता है
348)	परद्रव्य में रत मिथ्यादृष्टि कर्मों को बाँधता है
349)	पर-द्रव्य से दुर्गति और स्व-द्रव्य से ही सुगति होती है
350)	पर-द्रव्य का स्वरूप
351)	स्व-द्रव्य (आत्म-स्वभाव) ऐसा होता है
352)	ऐसे निज-द्रव्य के ध्यान से निर्वाण
353)	शुद्धात्मा के ध्यान से स्वर्ग की भी प्राप्ति
354)	दृष्टांत
355)	अन्य दृष्टान्त
356)	ध्यान के योग से स्वर्ग / मोक्ष की प्राप्ति
357)	दृष्टांत / दार्ष्टान्त
358)	अव्रतादिक श्रेष्ठ नहीं है
359)	संसार से निकलने के लिए आत्मा का ध्यान करे
360)	आत्मा का ध्यान करने की विधि
361)	इसी को विशेषरूप से कहते हैं
362)	क्या विचारकर ध्यान करनेवाला मौन धारण करता है ?
363)	ध्यान द्वारा संवर और निर्जरा
364-365)	जो व्यवहार में तत्पर है उसके यह ध्यान नहीं
366)	जिनदेवने द्वारा ध्यान अध्ययन में प्रवृत्ति की प्रेरणा
367)	जो रत्नत्रय की आराधना करता है वह जीव आराधक ही है
368)	शुद्धात्मा केवलज्ञान है और केवलज्ञान शुद्धात्मा है
369)	रत्नत्रय का आराधक ही आत्मा का ध्यान करता है
370-371)	आत्मा में रत्नत्रय कैसे है ?
372-373)	सम्यग्दर्शन को प्रधान कर कहते हैं
374)	सम्यग्ज्ञान का स्वरूप
375)	सम्यक्चारित्र का स्वरूप
376)	रत्नत्रय-सहित तप-संयम-समिति का पालन द्वारा शुद्धात्मा का ध्यान से निर्वाण की प्राप्ति
377-378)	ध्यानी मुनि ऐसा बनकर परमात्मा का ध्यान करता है
379)	विषय-कषायों में आसक्त परमात्मा की भावना से रहित है, उसे मोक्ष नहीं
380)	जिनमुद्रा जिन जीवों को नहीं रुचती वे दीर्घ-संसारी
381)	परमात्मा के ध्यान से लोभ-रहित होकर निरास्रव
382)	ऐसा निर्लोभी दृढ़ रत्नत्रय सहित परमात्मा के ध्यान द्वारा परम-पद को पाता है
383)	चारित्र क्या है ?
384)	जीव के परिणाम की स्वच्छता को दृष्टांत पूर्वक दिखाते हैं
385)	वह बाह्य में कैसा होता है?
386)	तीन गुप्ति की महिमा
387)	परद्रव्य में राग-द्वेष करे वह अज्ञानी, ज्ञानी इससे उल्टा है
388)	ज्ञानी मोक्ष के निमित्त भी राग नहीं करता
389)	कर्ममात्र से ही सिद्धि मानना अज्ञान
390)	चारित्र रहित ज्ञान और सम्यक्त्व रहित तप अर्थ-क्रियाकारी नहीं
391)	सांख्यमती आदि के आशय का निषेध

392-393)	तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप अकार्य हैं, दोनों के संयुक्त होने पर ही निर्वाण है
394)	बाह्यलिंग-सहित और अभ्यंतरलिंग-रहित मोक्षमार्ग नहीं
395)	तपश्चरण सहित ज्ञान को भाना
396)	आहार, आसन, निद्रा को जीतकर आत्मा का ध्यान करना
397)	ध्येय का स्वरूप
398)	आत्मा का जानना, भाना और विषयों से विरक्त होना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ
399)	जब तक विषयों में प्रवर्तता है तब तक आत्म-ज्ञान नहीं होता
400)	आत्मा को जानकर भी भावना बिना संसार में ही रहना है
401)	जो विषयों से विरक्त होकर आत्मा को जानकर भाते हैं वे संसार को छोड़ते हैं
402)	पर-द्रव्य में लेशमात्र भी राग हो तो वह अज्ञानी
403)	इस अर्थ को संक्षेप से कहते हैं
404)	राग संसार का कारण होने से योगीश्वर आत्मा में भावना करते हैं
405)	रागद्वेष से रहित ही चारित्र होता है
406-407)	पंचमकाल आत्मध्यान का काल नहीं है, उसका निषेध
408)	जो ऐसा कहता है कि पंचम-काल ध्यान का काल नहीं, उसको कहते हैं
409)	अभी इस पंचमकाल में धर्मध्यान होता है, यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है
410)	इस काल में भी रत्नत्रय का धारक मुनि स्वर्ग प्राप्त करके वहाँ से चयकर मोक्ष जाता है
411)	ध्यान का अभाव मानकर मुनिलिंग ग्रहण कर पाप में प्रवृत्ति करने का निषेध
412)	मोक्षमार्ग से च्युत वे कैसे हैं
413)	मोक्षमार्गी कैसे होते हैं ?
414)	मोक्षमार्गी की प्रवृत्ति
415)	फिर कहते हैं
416)	निश्चयनय से ध्यान इस प्रकार करना
417)	इस ही अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं
418)	अब श्रावकों को प्रवर्तने के लिए कहते हैं
419)	श्रावकों को पहिले क्या करना, वह कहते हैं
420-421)	सम्यक्त्व के ध्यान की ही महिमा
422)	जो निरन्तर सम्यक्त्व का पालन करते हैं उनको धन्य है
423)	इस सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न बताते हैं
424)	इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं
425-426-427)	मिथ्यादृष्टि के चिह्न कहते हैं
428)	मिथ्यादृष्टि जीव संसार में दुःख-सहित भ्रमण करता है
429)	सम्यक्त्व-मिथ्यात्व भाव के कथन का संकोच
430)	यदि मिथ्यात्व-भाव नहीं छोड़ा तब बाह्य भेष से कुछ लाभ नहीं
431)	मूलगुण बिगाड़े उसके सम्यक्त्व नहीं रहता ?
432-433)	आत्म-स्वभाव से विपरीत को बाह्य क्रिया-कर्म निष्फल
434-435)	ऐसा साधु मोक्ष पाता है
436)	सब से उत्तम पदार्थ -- शुद्ध-आत्मा इस देह में ही रह रहा है, उसको जानो
437-438)	आत्मा ही मुझे शरण है
439)	मोक्षपाहुड़ पढ़ने, सुनने, भाने का फल कहते हैं

लिंग-पाहुड

440)	इष्ट को नमस्कार कर ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा
441)	बाह्यभेष अंतरंग-धर्म सहित कार्यकारी है
442)	निर्ग्रथ लिंग ग्रहणकर कुक्रिया करके हँसी करावे, वे पापबुद्धि
443)	लिंग धारण करके कुक्रिया करे उसको प्रगट कहते हैं
444)	फिर कहते हैं
445)	फिर कहते हैं
446)	फिर कहते हैं
447)	फिर कहते हैं
448)	यदि भावशुद्धि के बिना गृहस्थपद छोड़े तो यह प्रवृत्ति होती है
449)	फिर कहते हैं
450)	लिंग धारण करके दुःखी रहता है, आदर नहीं करता, वह भी नरक में जाता है
451)	जो भोजन में भी रसों का लोलुपी होता है वह भी लिंग को लजाता है
452)	इसी को विशेषरूप से कहते हैं
453)	फिर कहते हैं
454)	जो लिंग धारण करके ऐसे प्रवर्तते हैं वे श्रमण नहीं हैं
455)	लिंग ग्रहणकर वनस्पति आदि स्थावर जीवों की हिंसा का निषेध
456)	लिंग धारण करके स्त्रियों से राग करने का निषेध
457)	फिर कहते हैं
458)	उपसंहार
459)	श्रमण को स्त्रियों के संसर्ग का निषेध
460)	फिर कहते हैं
461)	जो धर्म का यथार्थरूप से पालन करता है वह उत्तम सुख पाता है

शील-पाहुड

462)	नमस्काररूप मंगल
463)	शील का रूप
464)	ज्ञान की भावना करना और विषयों से विरक्त होना दुर्लभ
465)	विषयों में प्रवर्तता है तबतक ज्ञान को नहीं जानता है
466)	ज्ञान का, लिंगग्रहण का तथा तप का अनुक्रम
467)	ऐसा करके थोड़ा भी करे तो बड़ा फल होता है
468)	विषयासक्त रहते हैं वे संसार ही में भ्रमण करते हैं
469)	ज्ञान प्राप्त करके इसप्रकार करे तब संसार कटे
470)	शीलसहित ज्ञान से जीव शुद्ध होता है उसका दृष्टान्त
471)	विषयासक्ति ज्ञान का दोष नहीं, कुपुरुष का दोष
472)	इसप्रकार निर्वाण होता है
473)	शील की मुख्यता द्वारा नियम से निर्वाण
474)	अविरति को भी 'मार्ग' विषयों से विरक्त ही कहना योग्य
475)	ज्ञान से भी शील की प्राथमिकता
476)	शील बिना मनुष्य जन्म निरर्थक
477)	

	बहुत शास्त्रों का ज्ञान होते हुए भी शील ही उत्तम
478)	जो शील गुण से मंडित हैं, वे देवों के भी वल्लभ हैं
479)	शील सहित का मनुष्यभवं में जीना सफल
480)	जितने भी भले कार्य हैं वे सब शील के परिवार हैं
481)	शील ही तप आदिक हैं
482)	विषयरूप विष महा प्रबल है
483)	विषय-रूपी विष से संसार में बारबार भ्रमण
484)	विषयों की आसक्ति से चतुर्गति में दुःख
485)	विषयों को छोड़ने से कुछ भी हानि नहीं है
486)	सब अंगों में शील ही उत्तम है
487)	विषयों में आसक्त, मूढ़, कुशील का संसार में भ्रमण
488)	जो कर्म की गांठ विषय सेवन करके आप ही बाँधी है उसको सत्पुरुष तपश्चरणादि करके आप ही काटते हैं
489)	जो शील के द्वारा आत्मा शोभा पाता है उसको दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं
490)	जो शीलवान पुरुष हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं
491)	शील के बिना ज्ञान ही से मोक्ष नहीं है, इसका उदाहरण
492)	शील के बिना ज्ञान से ही भाव की शुद्धता नहीं होती है
493)	यदि नरक में भी शील हो जाय और विषयों में विरक्त हो जाय तो वहाँ से निकलकर तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है
494)	इस कथन का संकोच करते हैं
495)	इस शील से निर्वाण होता है उसका बहुतप्रकार से वर्णन
496)	ऐसे अष्टकर्मों को जिनने दग्ध किये वे सिद्ध हुए हैं
497)	जो लावण्य और शीलयुक्त हैं वे मुनि प्रशंसा के योग्य होते हैं
498)	जो ऐसा हो वह जिनमार्ग में रत्नत्रय की प्राप्तिरूप बोधि को प्राप्त होता है
499)	यह प्राप्ति जिनवचन से होती है
500)	अंतसमय में सल्लेखना कही है, उसमें दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चार आराधना का उपदेश है
501)	ज्ञान से सर्वसिद्धि है यह सर्वजन प्रसिद्ध है वह ज्ञान तो ऐसा हो

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः !!

श्रीमद्-भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य-देव-प्रणीत

श्री

अष्टपाहुड

मूल प्राकृत गाथा,
पं जयचंदजी छाबडा कृत हिंदी टीका सहित

आभार :

!! नमः श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नमः ॥१॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥२॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥३॥

॥ श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरुवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं
श्रीअष्टपाहुड नामधेयं, अस्य मूलाग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां
वचनानुसारमासाद्य आचार्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचितं, श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

दर्शन-पाहुड

+ मंगलाचरण -

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्डमाणस्स
दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकमं समासेण ॥१॥

अन्वयार्थ : [जिणवरवसहस्स] कर्मरूप शत्रुओं को जीतने वालों में वृषभ-श्रेष्ठ [वड्डमाणस्स] श्री वर्धमान भगवान् को, अथवा गणादि गुणों से वर्धमान -निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होने वाले जिनवरवृषभ-भगवान् वृषभ देव प्रथम तीर्थंकर अथवा समस्त तीर्थंकरों को [णमुक्कारं] नमस्कार [काऊण] कर मैं (कुन्दकुन्ददेवा) [जहाकमं] अनुक्रम से [समासेण] संक्षेप में [दंसणमग्गं] दर्शन के मार्ग (मोक्षमार्ग) का स्वरूप [वोच्छामि] कहूँगा ।

छाबडा :

कृत्वा नमस्कारं जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य;;दर्शनमार्गं वक्ष्यामि यथाक्रमं समासेन ॥१॥

यहाँ 'जिनवर वृषभ' विशेषण है; उसमें जो जिन शब्द है उसका अर्थ ऐसा है कि -- जो कर्म-शत्रु को जीते सो जिन । वहाँ सम्यग्दृष्टि अत्रती से लेकर कर्म की गुणश्रेणी-रूप निर्जरा करनेवाले सभी जिन हैं उनमें वर अर्थात् श्रेष्ठ । इस प्रकार गणधर आदि मुनियों को जिनवर कहा जाता है; उनमें वृषभ अर्थात् प्रधान ऐसे भगवान तीर्थंकर परम देव हैं । उनमें प्रथम तो श्री ऋषभदेव हुए और इस पंचमकाल के प्रारंभ तथा चतुर्थकाल के अन्तमें अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान-स्वामी हुए हैं । वे समस्त तीर्थंकर जिनवर वृषभ हुए हैं उन्हें नमस्कार हुआ । वहाँ 'वर्द्धमान' ऐसा विशेषण सभी के लिये जानना; क्योंकि सभी अन्तरंग एवं बाह्य लक्ष्मी से वर्द्धमान हैं । अथवा जिनवर वृषभ शब्द से तो आदि तीर्थंकर श्री ऋषभ-देव को और वर्द्धमान शब्द से अन्तिम तीर्थंकर को जानना । इस प्रकार आदि और अन्तके तीर्थंकरों को नमस्कार करने से मध्य के तीर्थंकरों को भी सामर्थ्य से नमस्कार जानना । तीर्थंकर सर्वज्ञ वीतराग को तो परम-गुरु कहते हैं और उनकी परिपाटी में चले आ रहे गौतमादि मुनियों को जिनवर विशेषण दिया, उन्हें अपर-गुरु कहते हैं; -- इसप्रकार परापर गुरुओंका प्रवाह जानना । वे शास्त्र की उत्पत्ति तथा ज्ञान के कारण हैं । उन्हें ग्रन्थ के आदि में नमस्कार किया ॥१॥

+ दर्शन-रहित अवन्दनीय -

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं ।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥२॥

अन्वयार्थ : [जिणवरेहिं] जिनेन्द्र भगवान ने [सिस्साणं] शिष्यों के लिए [दंसण] दर्शन [मूलो] मूलक [धम्मो] धर्म का [उवइट्ठो] उपदेश दिया है, सो [तं] उसे [सकण्णे] अपने कानों से [सोऊण] सुनकर [दंसणहीणो] दर्शन रहित मनुष्यों की [वंदिव्वो] वन्दना [ण] नहीं करनी चाहिए ।

दर्शनमूलो धर्मः उपदिष्टः जिनवरैः शिष्याणाम्; तं श्रुत्वा स्वकर्णे दर्शनहीनो न वन्दितव्यः ॥२॥

जिनवर जो सर्वज्ञदेव हैं, उन्होंने शिष्य जो गणधर आदिक को धर्म का उपदेश दिया है; कैसा उपदेश दिया है ? कि दर्शन जिसका मूल है । मूल कहाँ होता है कि जैसे मन्दिर की नींव और वृक्ष की जड़ होती है, उसीप्रकार धर्म का मूल दर्शन है । इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि हे सकर्ण अर्थात् सत्पुरुषो ! सर्वज्ञ के कहे हुए उस दर्शनमूलरूप धर्म को अपने कानों से सुनकर जो दर्शन से रहित हैं, वे वंदन योग्य नहीं हैं; इसलिए दर्शनहीन की वंदना मत करो । जिसके दर्शन नहीं है, उसके धर्म भी नहीं है, क्योंकि मूलरहित वृक्ष के स्कन्ध, शाखा, पुष्प फलादिक कहाँ से होंगे? इसलिए यह उपदेश है कि जिसके धर्म नहीं है, उससे धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, फिर धर्म के निमित्त उसकी वंदना किसलिए करें ? - ऐसा जानना ।

अब, यहाँ धर्म का तथा दर्शन का स्वरूप जानना चाहिए । वह स्वरूप तो संक्षेप में ग्रन्थकार ही आगे कहेंगे, तथापि कुछ अन्य ग्रन्थों के अनुसार यहाँ भी दे रहे हैं - 'धर्म' शब्द का अर्थ यह है कि जो आत्मा को संसार से उबारकर सुखस्थान में स्थापित करे सो धर्म है और दर्शन अर्थात् देखना । इसप्रकार धर्म की मूर्ति दिखायी दे, वह दर्शन है तथा प्रसिद्धि में जिसमें धर्म का ग्रहण हो ऐसे मत को 'दर्शन' कहा है । लोक में धर्म की तथा दर्शन की मान्यता सामान्यरूप से तो सबके हैं, परन्तु सर्वज्ञ के बिना यथार्थ स्वरूप का जानना नहीं हो सकता; परन्तु छद्मस्थ प्राणी अपनी बुद्धि से अनेक स्वरूपों की कल्पना करके अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनकी प्रवृत्ति करते हैं और जिनमत सर्वज्ञ की परम्परा से प्रवर्तमान है, इसलिए इसमें यथार्थ स्वरूप का प्ररूपण है ।

वहाँ धर्म को निश्चय और व्यवहार - ऐसे दो प्रकार से साधा है । उसकी प्ररूपणा चार प्रकार से है -

- प्रथम वस्तु-स्वभाव,
- दूसरे उत्तम क्षमादिक दस प्रकार,
- तीसरे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप और
- चौथे जीवों की रक्षारूप

ऐसे चार प्रकार हैं । वहाँ निश्चय से सिद्ध किया जाय, तब तो सबमें एक ही प्रकार है, इसलिए वस्तु-स्वभाव का तात्पर्य तो जीव नामक वस्तु की परमार्थरूप दर्शन-ज्ञान-परिणाममयी चेतना है और वह चेतना सर्व विकारों से रहित शुद्ध-स्वभावरूप परिणमित हो, वही जीव का धर्म है तथा उत्तम क्षमादिक दस प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि आत्माक्रोधादि कषायरूप न होकर अपने स्वभाव में स्थिर हो वही धर्म है, यह भी शुद्ध चेतनारूप ही हुआ ।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहने का तात्पर्य यह है कि तीनों एक ज्ञान-चेतना के ही परिणाम हैं, वही ज्ञानस्वभावरूप धर्म है और जीवों की रक्षा का तात्पर्य यह है कि जीव क्रोधादि कषायों के वश होकर अपनी या पर की पर्याय के विनाशरूप मरण तथा दुःख संक्लेश परिणाम न करे - ऐसा अपना स्वभाव ही धर्म है । इसप्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिकरूप निश्चय-नय से साधा हुआ धर्म एक ही प्रकार है ।

व्यवहार-नय पर्यायाश्रित है इसलिए भेद-रूप है, व्यवहार-नय से विचार करें तो जीव के पर्याय-रूप परिणाम अनेक-प्रकार हैं इसलिए धर्म का भी अनेक प्रकार से वर्णन किया है । वहाँ

1. प्रयोजन-वश एकदेश का सर्वदेश से कथन किया जाये सो व्यवहार है,
2. अन्य वस्तु में अन्य का आरोपण अन्य के निमित्त से और प्रयोजनवश किया जाये वह भी व्यवहार है, वहाँ वस्तु-स्वभाव कहने का तात्पर्य तो निर्विकार चेतना के शुद्ध-परिणाम के साधकरूप,
3. मंद-कषाय-रूप शुभ परिणाम है तथा जो बाह्य-क्रियाएँ हैं, उन सभी को व्यवहार-धर्म कहा जाता है । उसी प्रकार रत्नत्रय का तात्पर्य स्वरूप के भेद दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा उनके कारण बाह्य क्रियादिक हैं, उन सभी को व्यवहार धर्म कहा जाता है । उसीप्रकार
4. जीवों की दया कहने का तात्पर्य यह है कि क्रोधादि मंद-कषाय होने से अपने या पर के मरण, दुःख, क्लेश आदि न करना; उसके साधक समस्त बाह्य-क्रियादिक को धर्म कहा जाता है ।

इसप्रकार जिनमत में निश्चय-व्यवहार-नय से साधा हुआ धर्म कहा है ।

वहाँ एकस्वरूप अनेकस्वरूप कहने में स्याद्वाद से विरोध नहीं आता, कथञ्चित् विवक्षा से सर्व प्रमाण-सिद्ध है । ऐसे धर्म का

मूल दर्शन कहा है, इसलिए ऐसे धर्म की श्रद्धा, प्रतीति, रुचिसहित आचरण करना ही दर्शन है, यह धर्म की मूर्ति है, इसी को मत (दर्शन) कहते हैं और यही धर्म का मूल है तथा ऐसे धर्म की प्रथम श्रद्धा, प्रतीति, रुचि न हो तो धर्म का आचरण भी नहीं होता। जैसे वृक्ष के मूल बिना स्कंधादिक नहीं होते। इसप्रकार दर्शन को धर्म का मूल कहना युक्त है। ऐसे दर्शन का सिद्धान्तों में जैसा वर्णन है, तदनुसार कुछ लिखते हैं।

वहाँ अंतरंग सम्यग्दर्शन तो जीव का भाव है, वह निश्चय द्वारा उपाधिरहित शुद्ध जीव का साक्षात् अनुभव होना ऐसा एक प्रकार है। वह ऐसा अनुभव अनादिकाल से मिथ्यादर्शन नामक कर्म के उदय से अन्यथा हो रहा है। सादि मिथ्यादृष्टि के उस मिथ्यात्व की तीन प्रकृतियाँ सत्त में होती हैं - मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति तथा उनकी सहकारिणी अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के भेद से चार कषाय नामक प्रकृतियाँ हैं। इसप्रकार यह सात प्रकृतियाँ ही सम्यग्दर्शन का घात करनेवाली हैं; इसलिए इन सातों का उपशम होने से पहले तो इस जीव के उपशमसम्यक्त्व होता है। इन प्रकृतियों का उपशम होने का बाह्य कारण सामान्यतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हैं, उनमें द्रव्य में तो साक्षात् तीर्थंकर के देखनादि (दर्शनादि) प्रधान हैं, क्षेत्र में समवसरणादिक प्रधान हैं, काल में अर्द्धपुद्गलपरावर्तन संसार भ्रमण शेष रहे वह तथा भाव में अधःप्रवृत्त करण आदिक हैं।

(सम्यक्त्व के बाह्य कारण) विशेषरूप से तो अनेक हैं। उनमें से कुछ के तो अरिहंत बिम्ब का देखना, कुछ के जिनेन्द्र के कल्याणक आदि की महिमा देखना, कुछ के जातिस्मरण, कुछ के वेदना का अनुभव, कुछ के धर्म श्रवण तथा कुछ के देवों की ऋद्धि का देखना इत्यादि बाह्य कारणों द्वारा मिथ्यात्वकर्म का उपशम होने से उपशमसम्यक्त्व होता है। तथा इन सात प्रकृतियों में छह का तो उपशम या क्षय हो और एक सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो, तब क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। इस प्रकृति के उदय से किंचित् अतिचार - मल लगता है तथा इन सात प्रकृतियों का सत्त में से नाश हो, तब क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

इसप्रकार उपशमादि होने पर जीव के परिणामभेद से तीन प्रकार होते हैं; वे परिणाम अति सूक्ष्म हैं, केवलज्ञानगम्य हैं, इसलिए इन प्रकृतियों के द्रव्य पुद्गलपरमाणुओं के स्कंध हैं, वे अतिसूक्ष्म हैं और उनमें फल देने की शक्तिरूप अनुभाग है, वह अतिसूक्ष्म है, वह छद्मस्थ के ज्ञानगम्य नहीं है। तथा उनका उपशमादिक होने से जीव के परिणाम भी सम्यक्त्वरूप होते हैं, वे भी अतिसूक्ष्म हैं, वे भी केवलज्ञानगम्य हैं। तथापि जीव के कुछ परिणाम छद्मस्थ के ज्ञान में आने योग्य होते हैं, वे उसे पहिचानने के बाह्य-चिह्न हैं, उनकी परीक्षा करके निश्चय करने का व्यवहार है - ऐसा न हो तो छद्मस्थ व्यवहारी जीव के सम्यक्त्व का निश्चय नहीं होगा और तब आस्तिक्य का अभाव सिद्ध होगा, व्यवहार का लोप होगा - यह महान दोष आयेगा। इसलिए बाह्य चिह्नों को आगम, अनुमान तथा स्वानुभव से परीक्षा करके निश्चय करना चाहिए।

वे चिह्न कौन से हैं सो लिखते हैं - मुख्य चिह्न तो उपाधिरहित शुद्ध ज्ञान चेतनास्वरूप आत्मा की अनुभूति है। यद्यपि यह अनुभूति ज्ञान का विशेष है, तथापि वह सम्यक्त्व होने पर होती है, इसलिए उसे बाह्य चिह्न कहते हैं। ज्ञान तो अपना अपने को स्वसंवेदनरूप है; उसका रागादि विकाररहित शुद्धज्ञानमात्र का अपने को आस्वाद होता है कि - “जो यह शुद्ध ज्ञान है सो मैं हूँ और ज्ञान में जो रागादि विकार हैं, वे कर्म के निमित्त से उत्पन्न होते हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है” - इसप्रकार भेदज्ञान से ज्ञानमात्र के आस्वादन को ज्ञान की अनुभूति कहते हैं, वही आत्मा की अनुभूति है तथा वही शुद्धनय का विषय है। ऐसी अनुभूति से शुद्धनय के द्वारा ऐसा भी श्रद्धान होता है कि जो सर्व कर्मजनित रागादिकभाव से रहित अनंतचतुष्टय मेरा स्वरूप है, अन्य सबभाव संयोगजनित हैं - ऐसी आत्मा की अनुभूति सो सम्यक्त्व का मुख्य चिह्न है। यह मिथ्यात्व अनन्तानुबंधी के अभाव से सम्यक्त्व होता है, उसका चिह्न है; उस चिह्न को ही सम्यक्त्व कहना, सो व्यवहार है।

उसकी परीक्षा सर्वज्ञ के आगम, अनुमान तथा स्वानुभव प्रत्यक्ष प्रमाण इन प्रमाणों से की जाती है। इसी को निश्चय तत्त्वार्थश्रद्धान भी कहते हैं। वहाँ अपनी परीक्षा तो अपने स्वसंवेदन की प्रधानता से होती है और पर की परीक्षा तो पर के अंतरंग तथा पर के वचन व काय की क्रिया से होती है, यह व्यवहार है, परमार्थ सर्वज्ञ जानते हैं। व्यवहारी जीव को सर्वज्ञ ने भी व्यवहार के ही शरण का उपदेश दिया है।

(नोध - अनुभूति ज्ञान गुण की पर्याय है, वह श्रद्धा गुण से भिन्न है; इसलिए ज्ञान के द्वारा श्रद्धान का निर्णय करना व्यवहार है, उसका नाम व्यवहारी जीवों को व्यवहार का ही शरण अर्थात् आलम्बन समझना)

अनेक लोग कहते हैं कि - सम्यक्त्व तो केवलीगम्य है, इसलिए अपने को सम्यक्त्व होने का निश्चय नहीं होता, इसलिए अपने को सम्यग्दृष्टि नहीं मान सकते? परन्तु इसप्रकार सर्वथा एकान्त से कहना तो मिथ्यादृष्टि है; सर्वथा ऐसा कहने से व्यवहार का लोप होगा, सर्व मुनि-श्रावकों की प्रवृत्ति मिथ्यात्वरूप सिद्ध होगी और सब अपने को मिथ्यादृष्टि मानेंगे तो व्यवहार कहाँ रहेगा? इसलिए परीक्षा होने के पश्चात् ऐसा श्रद्धान नहीं रखना चाहिए कि मैं मिथ्यादृष्टि ही हूँ। मिथ्यादृष्टि तो अन्यमती को कहते हैं और उसी के समान स्वयं भी होगा, इसलिए सर्वथा एकान्तपक्ष ग्रहण नहीं करना चाहिए तथा तत्त्वार्थश्रद्धान तो बाह्य चिह्न है।

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष - ऐसे सात तत्त्वार्थ हैं; उनमें पुण्य और पाप को जोड़ देने से नव पदार्थ होते

हैं। उनकी श्रद्धा अर्थात् सन्मुखता, रुचि अर्थात् तद्रूप भाव करना तथा प्रतीति अर्थात् जैसे सर्वज्ञ ने कहे हैं, तदनुसार ही अंगीकार करना और उनके आचरणरूप क्रिया - इसप्रकार श्रद्धानादिक होना सो सम्यक्त्व का बाह्य चिह्न है।

तथा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य भी सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं। वहाँ

1. प्रशम - अनंतानुबंधी क्रोधादिक कषाय के उदय का अभाव सो प्रशम है। उसके बाह्य चिह्न जैसे कि सर्वथा एकान्त तत्त्वार्थ का कथन करनेवाले अन्य मतों का श्रद्धान, बाह्यवेश में सत्यार्थपने का अभिमान करना, पर्यायों में एकान्त के कारण आत्मबुद्धि से अभिमान तथा प्रीति करना वह अनंतानुबंधी का कार्य है, वह जिसके न हो तथा किसी ने अपना बुरा किया तो उसका घात करना आदि मिथ्यादृष्टि की भाँति विकारबुद्धि अपने को उत्पन्न न हो तथा वह ऐसा विचार करे कि मैंने अपने परिणामों से जो कर्म बाँधे थे, वे ही बुरा करनेवाले हैं, अन्य तो निमित्तमात्र हैं - ऐसी बुद्धि अपने को उत्पन्न हो - ऐसे मंदकषाय है तथा अनंतानुबंधी के बिना अन्य चारित्रमोह की प्रकृतियों के उदय से आरम्भादिक क्रिया में हिंसादिक होते हैं, उनको भी भला नहीं जानता; इसलिए उससे प्रशम का अभाव नहीं कहते।
2. संवेग - धर्म में और धर्म के फल में परम उत्साह हो वह संवेग है तथा साधर्मियों से अनुराग और परमेष्ठियों में प्रीति वह भी संवेग ही है तथा धर्म के फल में अभिलाषा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि अभिलाषा तो उसे कहते हैं, जिसे इन्द्रियविषयों की चाह हो। अपने स्वरूप की प्राप्ति में अनुराग को अभिलाषा नहीं कहते।
3. निर्वेग - इस संवेग में ही निर्वेद भी हुआ समझना, क्योंकि अपने स्वरूप रूप धर्म की प्राप्ति में अनुराग हुआ, तब अन्यत्र सभी अभिलाष का त्याग हुआ, सर्व परद्रव्यों से वैराग्य हुआ, वही निर्वेग है।
4. अनुकम्पा - सर्व प्राणियों में उपकार की बुद्धि और मैत्रीभाव सो अनुकम्पा है तथा मध्यस्थभाव होने से सम्यग्दृष्टि के शल्य नहीं है, किसी से बैरभाव नहीं होता, सुख-दुःख, जीवन-मरण अपना पर के द्वारा और पर का अपने द्वारा नहीं मानता है तथा पर में जो अनुकम्पा है सो अपने में ही है, इसलिए पर का बुरा करने का विचार करेगा तो अपने कषायभाव से स्वयं अपना ही बुरा हुआ; पर का बुरा नहीं सोचेगा तब अपने कषायभाव नहीं होंगे, इसलिए अपनी अनुकम्पा ही हुई।
5. आस्तिक्य - जीवादि पदार्थों में अस्तित्वभाव सो आस्तिक्यभाव है। जीवादि पदार्थों का स्वरूप सर्वज्ञ के आगम से जानकर उनमें ऐसी बुद्धि हो कि जैसे सर्वज्ञ ने कहे वैसे ही यह हैं, अन्यथा नहीं हैं, वह आस्तिक्यभाव है।

इसप्रकार यह सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न हैं।

सम्यक्त्व के आठ गुण हैं - संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा। यह सब प्रशमादि चार में ही आ जाते हैं। संवेग में निर्वेद, वात्सल्य और भक्ति - ये आ गये तथा प्रशम में निन्दा, गर्हा आ गई।

सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे हैं, उन्हें लक्षण भी कहते हैं और गुण भी। उनके नाम हैं - निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

वहाँ शंका नाम संशय का भी है और भय का भी। वहाँ धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालाणुद्रव्य, परमाणु इत्यादि तो सूक्ष्मवस्तु हैं तथा द्वीप, समुद्र, मेरुपर्वत आदि दूरवर्ती पदार्थ हैं तथा तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि अन्तरित पदार्थ हैं; वे सर्वज्ञ के आगम में जैसे कहे हैं, वैसे हैं या नहीं हैं? अथवा सर्वज्ञदेव ने वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक कहा है सो सत्य है या असत्य? - ऐसे सन्देह को शंका कहते हैं। जिसके यह न हो उसे निःशंकित अंग कहते हैं तथा यह जो शंका होती है सो मिथ्यात्वकर्म के उदय से (उदय में युक्त होने से) होती है; पर में आत्मबुद्धि होना उसका कार्य है। जो पर में आत्मबुद्धि है, सो पर्यायबुद्धि है और पर्यायबुद्धि भय भी उत्पन्न करती है।

शंका भय को भी कहते हैं, उसके सात भेद हैं - इस लोक का भय, परलोक का भय, मृत्यु का भय, अरक्षा का भय, अगुप्ति का भय, वेदना का भय, अकस्मात् का भय। जिसके यह भय हों, उसे मिथ्यात्व कर्म का उदय समझना चाहिए; सम्यग्दृष्टि होने पर यह नहीं होते।

प्रश्न - भयप्रकृति का उदय तो आठवें गुणस्थान तक है; उसके निमित्त से सम्यग्दृष्टि को भय होता ही है, फिर भय का अभाव कैसा ?

समाधान -

- कि यद्यपि सम्यग्दृष्टि के चारित्रमोह के भेदरूप भयप्रकृति के उदय से भय होता है, तथापि उसे निर्भय ही कहते हैं; क्योंकि उसके कर्म के उदय का स्वामित्व नहीं है और परद्रव्य के कारण अपने द्रव्यस्वभाव का नाश नहीं मानता।

पर्याय का स्वभाव विनाशीक मानता है, इसलिए भय होने पर भी उसे निर्भय ही कहते हैं। भय होने पर उसका उपचार भागना (पलायन) इत्यादि करता है; वहाँ वर्तमान की पीड़ा सहन न होने से वह इलाज (उपचार) करता है, वह निर्बलता का दोष है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के संदेह तथा भयरहित होने से **निःशंकित अंग** होता है ॥१॥

- कांक्षा अर्थात् भोगों की इच्छा-अभिलाषा। वहाँ पूर्वकाल में किये भोगों की वांछा तथा उन भोगों की मुख्य क्रिया में वांछा तथा कर्म और कर्म के फल की वांछा तथा मिथ्यादृष्टियों के भोगों की प्राप्ति देखकर उन्हें अपने मन में भला जानना अथवा जो इन्द्रियों को न रुचे ऐसे विषयों में उद्वेग होना - यह भोगाभिलाष के चिह्न हैं। यह भोगाभिलाष मिथ्यात्वकर्म के उदय से होता है और जिसके यह न हो, वह निःकांक्षित अंगयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। वह सम्यग्दृष्टि यद्यपि शुभक्रिया-व्रतादिक आचरण करता है और उसका फल शुभकर्मबन्ध है, किन्तु उसकी वह वांछा नहीं करता। व्रतादिक को स्वरूप का साधक जानकर उनका आचरण करता है कर्म के फल की वांछा नहीं करता - ऐसा **निःकांक्षित अंग** है ॥२॥
- अपने में अपने गुण की महत्त की बुद्धि से अपने को श्रेष्ठ मानकर पर में हीनता की बुद्धि हो, उसे विचिकित्सा कहते हैं; वह जिसके न हो सो निर्विचिकित्सा अंगयुक्त सम्यग्दृष्टि होता है। उसके चिह्न ऐसे हैं कि यदि कोई पुरुष पाप के उदय से दुःखी हो, असाता के उदय से ग्लानियुक्त शरीर हो तो उसमें ग्लानिबुद्धि नहीं करता। ऐसी बुद्धि नहीं करता कि मैं सम्पदावान हूँ, सुन्दर शरीरवान हूँ, यह दीन, रंक मेरी बराबरी नहीं कर सकता। उलटा ऐसा विचार करता है कि प्राणियों के कर्मोदय से अनेक विचित्र अवस्थाएँ होती हैं; जब मेरे ऐसे कर्म का उदय आवे, तब मैं भी ऐसा ही हो जाऊँ - ऐसे विचार से **निर्विचिकित्सा अंग** होता है ॥३॥
- अतत्त्व में तत्त्वपने का श्रद्धान सो मूढदृष्टि है। ऐसी मूढदृष्टि जिसके न हो सो अमूढदृष्टि है। मिथ्यादृष्टियों द्वारा मिथ्या हेतु एवं मिथ्या दृष्टान्त से साधित पदार्थ हैं, वह सम्यग्दृष्टि को प्रीति उत्पन्न नहीं कराते हैं तथा लौकिक रूढि अनेक प्रकार की हैं, वह निःसार हैं, निःसार पुरुषों द्वारा ही उसका आचरण होता है, जो अनिष्ट फल देनेवाली है तथा जो निष्फल है; जिनका बुरा फल है तथा उनका कुछ हेतु नहीं है, कुछ अर्थ नहीं है; जो कुछ लोकरूढि चल पड़ती है, उसे लोग अपना मान लेते हैं और फिर उसे छोड़ना कठिन हो जाता है इत्यादि लोकरूढि है।

अदेव में देवबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि, अगुरु में गुरुबुद्धि इत्यादि देवादिक मूढता है, वह कल्याणकारी नहीं है। सदोष देव को देव मानना तथा उनके निमित्त हिंसादि द्वारा अधर्म को धर्म मानना तथा मिथ्या आचारवान्, शल्यवान्, परिग्रहवान् सम्यक्त्वव्रतरहित को गुरु मानना इत्यादि मूढदृष्टि के चिह्न हैं। अब, देव-गुरु-धर्म कैसे होते हैं, उनका स्वरूप जानना चाहिए, सो कहते हैं -

रागादिक दोष और ज्ञानावरणादिक कर्म ही आवरण हैं; यह दोनों जिसके नहीं हैं, वह देव है। उसके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य - ऐसे अनन्तचतुष्टय होते हैं। सामान्यरूप से तो देव एक ही है और विशेषरूप से अरहंत, सिद्ध ऐसे दो भेद हैं तथा इनके नामभेद के भेद से भेद करें तो हजारों नाम हैं तथा गुणभेद किए जायें तो अनन्त गुण हैं। परमौदारिक देह में विद्यमान घातियाकर्मरहित अनन्तचतुष्टयसहित धर्म का उपदेश करनेवाले ऐसे तो अरिहंतदेव हैं तथा पुद्गलमयी देह से रहित लोक के शिखर पर विराजमान सम्यक्त्वादि अष्टगुणमंडित अष्टकर्मरहित ऐसे सिद्ध देव हैं। इनके अनेकों नाम हैं - अरहंत, जिन, सिद्ध, परमात्मा, महादेव, शंकर, विष्णु, ब्रह्मा, हरि, बुद्ध, सर्वज्ञ, वीतराग परमात्मा इत्यादि अर्थ सहित अनेक नाम हैं - ऐसा देव का स्वरूप जानना।

गुरु का भी अर्थ से विचार करें तो अरिहंत देव ही हैं, क्योंकि मोक्षमार्ग का उपदेश करनेवाले अरिहंत ही हैं, वे ही साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रवर्तन कराते हैं तथा अरिहंत के पश्चात् छद्मस्थ ज्ञान के धारक उन्हीं का निर्ग्रन्थ दिगम्बर रूप धारण करनेवाले मुनि हैं सो गुरु हैं; क्योंकि अरिहंत की सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकदेश शुद्धता उनके पायी जाती है और वे ही संवर-निर्जरा-मोक्ष का कारण हैं, इसलिए अरिहंत की भाँति एकदेशरूप से निर्दोष हैं, वे मुनि भी गुरु हैं, मोक्षमार्ग का उपदेश करनेवाले हैं।

ऐसा मुनिपना सामान्यरूप से एक प्रकार का है और विशेषरूप से वही तीन प्रकार का है - आचार्य, उपाध्याय, साधु। इसप्रकार यह पदवी की विशेषता होने पर भी उनके मुनिपने की क्रिया समान ही है; बाह्य लिंग भी समान है, पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति, तीन गुप्ति - ऐसे तेरह प्रकार का चारित्र भी समान ही है, तप भी शक्ति अनुसार समान ही है, साम्यभाव भी समान है, मूलगुण उत्तरगुण भी समान है, परिषद् उपसर्गों का सहना भी समान है, आहारादि की विधि भी समान है, चर्या, स्थान, आसनादि भी समान हैं, मोक्षमार्ग की साधना, सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र भी समान हैं। ध्याता, ध्यान, ध्येयपना भी समान है, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयपना भी समान है, चार आराधना की आराधना, क्रोधादिक कषायों का जीतना इत्यादि मुनियों की प्रवृत्ति है, वह सब समान है।

विशेष यह है कि जो आचार्य हैं, वे पञ्चचार अन्य को ग्रहण कराते हैं तथा अन्य को दोष लगे तो उसके प्रायश्चित्त की विधि बतलाते हैं, धर्मोपदेश, दीक्षा एवं शिक्षा देते हैं - ऐसे आचार्य गुरुवन्दना करने योग्य हैं।

जो उपाध्याय हैं वे वादित्व, वाग्मित्व, कवित्व, गमकत्व - इन चार विद्याओं में प्रवीण होते हैं; उसमें शास्त्र का अभ्यास प्रधान कारण है। जो स्वयं शास्त्र पढ़ते हैं और अन्य को पढ़ाते हैं, ऐसे उपाध्याय गुरु वन्दनयोग्य हैं; उनके अन्य मुनिव्रत, मूलगुण, उत्तरगुण की क्रिया आचार्य के समान ही होती है तथा साधु रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग की साधना करते हैं सो साधु हैं; उनके दीक्षा, शिक्षा और उपदेशादि देने की प्रधानता नहीं है, वे तो अपने स्वरूप की साधना में ही तत्पर होते हैं; जिनागम में जैसी निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि की प्रवृत्ति कही है, वैसी सभी प्रवृत्ति उनके होती है - ऐसे साधु वन्दना के योग्य हैं। अन्यलिङ्गी-वेषी व्रतादिक से रहित परिग्रहवान, विषयों में आसक्त गुरु नाम धारण करते हैं, वे वन्दनयोग्य नहीं हैं।

इस पंचमकाल में जिनतमत्त में भी भेषी हुए हैं। वे श्वेताम्बर, यापनीयसंघ, गोपुच्छपिच्छसंघ, निःपिच्छसंघ, द्राविडसंघ आदि अनेक हुए हैं; यह सब वन्दनयोग्य नहीं हैं। मूलसंघ, नग्नदिगम्बर, अट्टाईस मूलगुणों के धारक, दया के और शौच के उपकरण मयूरपिच्छक, कमण्डल धारण करनेवाले, यथोक्त विधि से आहार करनेवाले गुरु वन्दनयोग्य हैं, क्योंकि जब तीर्थंकर देव दीक्षा लेते हैं, तब ऐसा ही रूप धारण करते हैं, अन्य भेष धारण नहीं करते; इसी को जिनदर्शन कहते हैं।

धर्म उसे कहते हैं जो जीव को संसार के दुःखरूप नीच पद से मोक्ष के सुखरूप उच्च पद में स्थापित करे - ऐसा धर्म मुनि-श्रावक के भेद से, दर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मक एकदेश सर्वदेशरूप निश्चय-व्यवहार द्वारा दो प्रकार कहा है; उसका मूल सम्यग्दर्शन है; उसके बिना धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। इसप्रकार देव-गुरु-धर्म में तथा लोक में यथार्थ दृष्टि हो और मूढता न हो सो **अमूढदृष्टि अंग** है ॥४॥

- अपने आत्मा की शक्ति को बढ़ाना सो उपबृंहण अंग है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अपने पुरुषार्थ द्वारा बढ़ाना ही उपबृंहण है। उसे उपगूहन भी कहते हैं - ऐसा अर्थ जानना चाहिए कि जिनमार्ग स्वयंसिद्ध है; उसमें बालक के तथा असमर्थ जन के आश्रय से जो न्यूनता हो, उसे अपनी बुद्धि से गुप्त कर दूर ही करे, वह **उपगूहन अंग** है ॥५॥
- जो धर्म से च्युत होता हो उसे दृढ़ करना सो स्थितिकरण अंग है। स्वयं कर्मोदय के वश होकर कदाचित् श्रद्धान से तथा क्रिया-आचार से च्युत होता हो तो अपने को पुरुषार्थपूर्वक पुनः श्रद्धान में दृढ़ करे; उसीप्रकार अन्य कोई धर्मात्मा धर्म से च्युत होता हो तो उसे उपदेशादिक द्वारा धर्म में स्थापित करे, वह **स्थितिकरण अंग** है ॥६॥
- अरिहंत, सिद्ध, उनके बिम्ब, चैत्यालय चतुर्विध संघ और शास्त्र में दासत्व हो - जैसे स्वामी का भृत्य दास होता है तदनुसार वह वात्सल्य अंग है। धर्म के स्थान पर उपसर्गादि आयें उन्हें अपनी शक्ति अनुसार दूर करे, अपनी शक्ति को न छिपाये - यह सब धर्म में अति प्रीति हो तब होता है ॥७॥
- धर्म का उद्योत करना सो प्रभावना अंग है। रत्नत्रय द्वारा अपने आत्मा का उद्योत करना तथा दान, तप, पूजा-विधान द्वारा एवं विद्या, अतिशय-चमत्कारादि द्वारा जिनधर्म का उद्योत करना वह **प्रभावना अंग** है ॥८॥

इसप्रकार यह सम्यक्त्व के आठ अंग हैं; जिसके यह प्रगट हों उसके सम्यक्त्व है - ऐसा जानना चाहिए।

प्रश्न - यदि यह सम्यक्त्व के चिह्न मिथ्यादृष्टि के भी दिखाई दें तो सम्यक्-मिथ्या का विभाग कैसे होगा ?

समाधान - जैसे चिह्न सम्यक्त्वी के होते हैं, वैसे मिथ्यात्वी के तो कदापि नहीं होते, तथापि अपरीक्षक को समान दिखाई दें तो परीक्षा करके भेद जाना जा सकता है। परीक्षा में अपना स्वानुभव प्रधान है। सर्वज्ञ के आगम में जैसा आत्मा का अनुभव होना कहा है, वैसा स्वयं को हो तो उसके होने से अपनी वचन-काय की प्रवृत्ति भी तदनुसार होती है, उस प्रवृत्ति के अनुसार अन्य की भी वचन-काय की प्रवृत्ति पहचानी जाती है - इसप्रकार परीक्षा करने से विभाग होते हैं तथा यह व्यवहार मार्ग है, इसलिए व्यवहारी छद्मस्थ जीवों के अपने ज्ञान के अनुसार प्रवृत्ति है; यथार्थ सर्वज्ञदेव जानते हैं।

व्यवहारी को सर्वज्ञदेव ने व्यवहार का ही आश्रय बतलाया है*। यह अन्तरंग सम्यक्त्वभावरूप सम्यक्त्व है, वही सम्यग्दर्शन है, बाह्यदर्शन, व्रत, समिति, गुप्तिरूप चारित्र और तपसहित अट्टाईस मूलगुण सहित नग्न दिगम्बर मुद्रा उसकी मूर्ति है, उसे जिनदर्शन कहते हैं। इसप्रकार धर्म का मूल सम्यग्दर्शन जानकर जो सम्यग्दर्शनरहित हैं, उनके वंदन-पूजन का निषेध किया है - ऐसा यह उपदेश भव्यजीवों को अंगीकार करनेयोग्य है ॥२॥

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥३॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [दंसणभट्टा] दर्शन से भ्रष्ट हैं वे [भट्टा] भ्रष्ट हैं; जो [दंसणभट्टस्स] दर्शन से भ्रष्ट हैं उनको [णिव्वाणं] निर्वाण [णत्थि] नहीं होता; क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जो [चरियभट्टा] चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे तो [सिज्झंति] सिद्धि को प्राप्त होते हैं, परन्तु जो [दंसणभट्टा] दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे [सिज्झंति] सिद्धि को प्राप्त [ण] नहीं होते ।

छाबडा :

दर्शनभ्रष्टाः भ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम्; सिध्यन्ति चारित्रभ्रष्टाः दर्शनभ्रष्टाः न सिध्यन्ति ॥३॥

जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं, उन्हें भ्रष्ट कहते हैं और जो श्रद्धा से भ्रष्ट नहीं हैं, किन्तु कदाचित् कर्म के उदय से चारित्रभ्रष्ट हुए हैं, उन्हें भ्रष्ट नहीं कहते; क्योंकि जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, उन्हें निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती; जो चारित्र से भ्रष्ट होते हैं और श्रद्धानटव रहते हैं उनके तो शीघ्र ही पुनः चारित्र का ग्रहण होता है और मोक्ष होता है तथा दर्शन से भ्रष्ट होय उसी के फिर चारित्र का ग्रहण कठिन होता है, इसलिए निर्वाण की प्राप्ति दुर्लभ होती है । जैसे - वृक्ष की शाखा आदि कट जायें और जड़ बनी रहे तो शाखा आदि शीघ्र ही पुनः उग आयेंगे और फल लगेंगे, किन्तु जड़ उखड़ जाने पर शाखा आदि कैसे होंगे ? उसीप्रकार धर्म का मूल दर्शन जानना ॥३॥

+ ज्ञान से भी दर्शन को अधिकता -

सम्मत्तरयणभट्टा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥४॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [सम्मत्त] सम्यक्त्व-रूपी [रयण] रत्न से [भट्टा] भ्रष्ट है तथा [बहुविहाइं] अनेक प्रकार के [सत्थाइं] शास्त्रों को [जाणंता] जानते हैं, तथापि वह [आराहणा] आराधना से [विरहिया] रहित होते हुए [तत्थेवतत्थेव] वहीं का वहीं अर्थात् संसार में ही [भमंति] भ्रमण करते हैं ।

छाबडा :

सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टाः जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि; आराधना विरहिताः भ्रमन्ति तत्रैव तत्रैव ॥४॥

जो जिनमत की श्रद्धा से भ्रष्ट हैं और शब्द, न्याय, छन्द, अलंकार आदि अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं तथापि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तपस्वरूप आराधना उनके नहीं होती; इसलिए कुमरण से चतुर्गतिरूप संसार में ही भ्रमण करते हैं- मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते; इसलिए सम्यक्त्वरहित ज्ञान को आराधना नाम नहीं देते ।

+ सम्यक्त्वरहित तप से भी स्वरूप-लाभ नहीं -

सम्मत्तविरहिया णं सुद्धं वि उगं तवं चरंता णं ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥५॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [सम्मत्त] सम्यक्त्व से [विरहिया] रहित हैं, वे [सुद्धं] सुष्ठु अर्थात् भलीभांति [वि] भी [उगं] उग्र [तवंचरंता] तप का आचरण करते हैं, तथापि वे [बोहि] बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय जो अपना स्वरूप है उसका [लाहं] लाभ प्राप्त [ण] नहीं करते; यदि [सहस्स] हजार [कोडीहिं] कोटि [वास] वर्ष तक तप करते रहें, तब [अवि] भी स्वरूप की [लहंति] प्राप्ति [णं] नहीं होती ।

छाबडा :

सम्यक्त्व के बिना हजार कोटि वर्ष तप करने पर भी मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं होती । यहाँ हजार कोटि कहने का तात्पर्य उतने ही वर्ष नहीं समझना, किन्तु काल का बहुतपना बतलाया है । तप मनुष्य पर्याय में ही होता है, और मनुष्यकाल भी थोड़ा है, इसलिए तप के तात्पर्य से यह वर्ष भी बहुत कम कहे हैं ॥५॥

+ सम्यक्त्व सहित सभी प्रवृत्ति सफल है -

सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण जे सव्वे कलिकलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण ॥६॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [सम्मत्त] सम्यक्त्व [णाण] ज्ञान, [दंसण] दर्शन, बल, [बीरिय] वीर्य से [वड्ढमाण] वर्द्धमान हैं तथा [कलुस] कलिकलुष [पाव] पाप अर्थात् इस [कलि] पञ्चमकाल के मलिन पाप से [रहिया] रहित हैं, [जे] वे [सव्वे] सभी [अइरेण] अल्पकाल में [वर] उत्कृष्ट [णाणी] ज्ञानी अर्थात् केवलज्ञानी [होंति] होते हैं ।

छाबडा :

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनबलवीर्यवर्द्धमानाः ये सर्वे; कलिकलुषपापरहिताः वरज्ञानिनः भवन्ति अचिरेण ॥६॥

इस पंचमकाल में जड़-वक्र जीवों के निमित्त से यथार्थ मार्ग अपभ्रंश हुआ है । उसकी वासना से जो जीव रहित हुए वे यथार्थ जिनमार्ग के श्रद्धानरूप सम्यक्त्वसहित ज्ञान-दर्शन के अपने पराक्रम-बल को न छिपाकर तथा अपने वीर्य अर्थात् शक्ति से वर्द्धमान होते हुए प्रवर्तते हैं, वे अल्पकाल में ही केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥६॥

+ सम्यक्त्व आत्मा को कर्मरज नहीं लगने देता -

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स कम्मं वालुयवरणं बन्धुच्चिय णासए तस्स ॥७॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिस पुरुष के [हियए] हृदय में [सम्मत्त] सम्यक्त्वरूपी [सलिल] जल का [पवहो] प्रवाह [णिच्चं] निरंतर [पवट्टए] प्रवर्तमान है, [तस्स] उसके [कम्मं] कर्मरूपी [वालुयवरणं] धूल का आवरण नहीं लगता तथा पूर्वकाल में जो [बन्धुच्चिय] कर्मबंध हुआ हो वह भी [णासए] नाश को प्राप्त होता है ।

छाबडा :

सम्यक्त्वसलिलप्रवाहः नित्यं हृदये प्रवर्तते यस्य; कर्म वालुकावरणं वद्धमपि नश्यति तस्य ॥७॥

सम्यक्त्व-सहित पुरुष को (निरन्तर ज्ञानचेतना के स्वामित्वरूप परिणामन है इसलिए) कर्म के उदय से हुए रागादिक भावों का स्वामित्व नहीं होता, इसलिए कषायों की तीव्र कलुषता से रहित परिणाम उज्ज्वल होते हैं; उसे जल की उपमा है । जैसे - जहाँ निरन्तर जल का प्रवाह बहता है, वहाँ बालू-रेत-रज नहीं लगती; वैसे ही सम्यक्त्वी जीव कर्म के उदय को भोगता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता तथा बाह्य व्यवहार की अपेक्षा से ऐसा भी तात्पर्य जानना चाहिए कि जिसके हृदय में निरन्तर सम्यक्त्वरूपी जल का प्रवाह बहता है, वह सम्यक्त्वी पुरुष इस कलिकाल सम्बन्धी वासना अर्थात् कुदेव-कुशास्त्र-कुगुरु को नमस्कारादिरूप अतिचाररूप रज भी नहीं लगाता तथा उसके मिथ्यात्व सम्बन्धी प्रकृतियों का आगामी बंध भी नहीं होता ॥७॥

+ दर्शनभ्रष्ट भ्रष्ट हैं -

जे दंसणेसु भट्टा णाणे भट्टा चरित्तभट्टा य एदे भट्ट वि भट्टा सेसं पि जणं विणासंति ॥८॥

अन्वयार्थ : [जे] जो मनुष्य [दंसणेसु] दर्शन से [भट्टा] भृष्ट है वे [णाणे] ज्ञान और [चरित्तभट्टाय] चरित्र से भी भृष्ट है, [एवे] वे [भट्टविभट्टा] भृष्टों में भी अतिभृष्ट है और [सेसंपि] अन्य [जणं] मनुष्यों को भृष्ट कर उनका भी [विणासंति] विनाश करते हैं ।

छाबडा :

ये दर्शनेषु भ्रष्टाः ज्ञाने भ्रष्टाः चारित्रभ्रष्टाः च; एते भ्रष्टात् अपि भ्रष्टाः शेषं अपि जनं विनाशयन्ति ॥८॥

यहाँ सामान्य वचन है, इसलिए ऐसा भी आशय सूचित करता है कि सत्यार्थ श्रद्धान, ज्ञान, चारित्र तो दूर ही रहा, जो अपने मत की श्रद्धा, ज्ञान, आचरण से भी भ्रष्ट हैं, वे तो निर्गल स्वेच्छाचारी हैं । वे स्वयं भ्रष्ट हैं, उसीप्रकार अन्य लोगों को उपदेशादिक द्वारा भ्रष्ट करते हैं तथा उनकी प्रवृत्ति देखकर लोग स्वयमेव भ्रष्ट होते हैं, इसलिए ऐसे तीव्रकषायी निषिद्ध हैं; उनकी संगति करना भी उचित नहीं है ॥८॥

+ दर्शन-भ्रष्ट द्वारा धर्मात्मा पुरुषों को दोष लगाना -

जो कोवि धम्मसीलो संजमतवणियमजोगगुणधारी तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गतणं दिति ॥९॥

अन्वयार्थ : [जो] जो [कोवि] किसी भी, [धम्मोसीलो] धर्मशील-धर्म के अभ्यासियों, [संजम] संयम [तव] तप, [णियम] नियम [जोय] योग [च] और [गुणधारी] गुणों से युक्त महापुरुषों में मिथ्या [दोस] दोषरोपण [कहंता] करते हैं [तस्स] वे स्वयं तो चरित्र से [भग्गा] पतित है [भग्गतणं] दूसरों को भी पतित [दिति] कर देते हैं ।

छाबडा :

यः कोऽपि धर्मशीलः संयमतपोनियमयोगगुणधारी; तस्य च दोषान् कथयन्तः भग्ना भग्नत्वं ददति ॥९॥

जो पुरुष धर्मशील अर्थात् अपने स्वरूपरूप धर्म को साधने का जिसका स्वभाव है तथा संयम अर्थात् इन्द्रिय-मन का निग्रह और षट्काय के जीवों की रक्षा, तप अर्थात् बाह्याभ्यंतर भेद की अपेक्षा से बारह प्रकार के तप, नियम अर्थात् आवश्यकादि नित्यकर्म, योग अर्थात् समाधि, ध्यान तथा वर्षाकाल आदि कालयोग, गुण अर्थात् मूलगुण, उत्तरगुण - इनका धारण करनेवाला है, उसे कई मतभ्रष्ट जीव दोषों का आरोपण करके कहते हैं कि यह भ्रष्ट है, दोषयुक्त है, वे पापात्मा जीव स्वयं भ्रष्ट हैं, इसलिए अपने अभिमान की पुष्टि के लिए अन्य धर्मात्मा पुरुषों को भ्रष्टपना देते हैं ।

पापियों का ऐसा ही स्वभाव होता है कि स्वयं पापी हैं, उसीप्रकार धर्मात्मा में दोष बतलाकर अपने समान बनाना चाहते हैं । ऐसे पापियों की संगति नहीं करना चाहिए ॥९॥

+ दर्शन-भ्रष्ट को फल-प्राप्ति नहीं -

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी तह जिणदंसणभट्टा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥१०॥

अन्वयार्थ : [जह] जिस प्रकार [मूलम्मि] जड़ के [विणट्ठे] नष्ट होने से [दुमस्स] वृक्ष के [परिवार] परिवार की [परिवड्ढी] अभीवृद्धि [णत्थी] नहीं होती [तह] उसी प्रकार [जिण] जिन [दंसण] दर्शन अर्थात् अरिहंत भगवान के मत से [भट्टा] भृष्ट, [मूलविणट्ठा] मूल से विनष्ट है / जड़ से रहित है उन की [सिज्झंति] सिद्धि [ण] नहीं होती अर्थात् मोक्ष नहीं प्राप्त होता ।

यथा मूले विनष्टे द्रुमस्य परिवारस्य नास्ति परिवृद्धिः; तथा जिनदर्शनभ्रष्टाः मूलविनष्टाः न सिद्ध्यन्ति ॥१०॥

जिसप्रकार वृक्ष का मूल विनष्ट होने पर उसके परिवार अर्थात् स्कंध, शाखा, पत्र, पुष्प, फल की वृद्धि नहीं होती, उसीप्रकार जो जिनदर्शन से भ्रष्ट हैं, बाह्य में तो नग्न-दिगम्बर यथाजातरूप निर्ग्रन्थ लिंग, मूलगुण का धारण, मयूर पिच्छिका (मोर के पंखों की पीछी) तथा कमण्डल धारण करना, यथाविधि दोष टालकर खड़े-खड़े शुद्ध आहार लेना - इत्यादि बाह्य शुद्ध वेष धारण करते हैं तथा अन्तरंग में जीवादि छह द्रव्य, नवपदार्थ, सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान एवं भेदविज्ञान से आत्मस्वरूप का अनुभवन - ऐसे दर्शन-मत से बाह्य हैं, वे मूलविनष्ट हैं, उनके सिद्धि नहीं होती, वे मोक्षफल को प्राप्त नहीं करते ।

+ जिनदर्शन ही मूल मोक्षमार्ग है -

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होइ तह जिणदंसण मूलो णिद्धिट्ठो मोक्खमग्गस्स ॥११॥

अन्वयार्थ : [जह] जिस प्रकार [मूलाओ] जड़ से [खंधो] वृक्ष का स्कंध और [साहा] शाखाओं का [परिवार] परिवार [बहुगुणो] वृद्धि आदि अनेक गुणों से युक्त [होई] होता है [तह] वैसे ही [जिणदंसण] जिनदर्शन अथवा जिनेन्द्रदेव का प्रगाढ़ श्रद्धान [मोक्ख] मोक्ष [मग्गस्स] मार्ग का [मूलो] मूल कारण [णिद्धिट्ठो] कहा है ।

छाबडा :

यथा मूलात् स्कन्धः शाखापरिवारः बहुगुणः भवति; तथा जिनदर्शनं मूलं निर्दिष्टं मोक्षमार्गस्य ॥११॥

जिसप्रकार वृक्ष के मूल से स्कंध होते हैं; कैसे स्कंध होते हैं कि जिनके शाखा आदि परिवार बहुत गुण हैं । यहाँ गुण शब्द बहुत का वाचक है; उसीप्रकार गणधर देवादिक ने जिनदर्शन को मोक्षमार्ग का मूल कहा है ।

यहाँ जिनदर्शन अर्थात् तीर्थंकर परमदेव ने जो दर्शन ग्रहण किया उसी का उपदेश दिया है, वह मूलसंघ है; वह अट्टाईस मूलगुण सहित कहा है । पाँच महाव्रत, पाँच समिति, छह आवश्यक, पाँच इन्द्रियों को वश में करना, स्नान नहीं करना, भूमिशयन, वस्त्रादिक का त्याग अर्थात् दिगम्बर मुद्रा, केशलोच करना, एकबार भोजन करना, खड़े-खड़े आहार लेना, दंतधावन न करना - यह अट्टाईस मूलगुण हैं तथा छियालीस दोष टालकर आहार करना, वह एषणा समिति में आ गया ।

ईर्यापथ - देखकर चलना वह ईर्या समिति में आ गया तथा दया का उपकरण मोरपुच्छ की पीछी और शौच का उपकरण कमण्डल धारण करना - ऐसा बाह्य भेष है तथा अन्तरंग में जीवादिक षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थों को यथोक्त जानकर श्रद्धान करना और भेदविज्ञान द्वारा अपने आत्मस्वरूप का चिंतवन करना, अनुभव करना ऐसा दर्शन अर्थात् मत वह मूलसंघ का है । ऐसा जिनदर्शन है, वह मोक्षमार्ग का मूल है; इस मूल से मोक्षमार्ग की सर्व प्रवृत्ति सफल होती है तथा जो इससे भ्रष्ट हुए हैं, वे इस पंचमकाल के दोष से जैनाभास हुए हैं, वे श्वेताम्बर, द्राविड़, यापनीय, गोपुच्छ-पिच्छ, निःपिच्छ - पाँच संघ हुए हैं; उन्होंने सूत्र सिद्धान्त अपभ्रंश किये हैं । जिन्होंने बाह्य वेष को बदलकर आचरण को बिगाड़ा है, वे जिनमत के मूलसंघ से भ्रष्ट हैं, उनको मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं है । मोक्षमार्ग की प्राप्ति मूलसंघ के श्रद्धान-ज्ञान-आचरण ही से है - ऐसा नियम जानना ॥११॥

+ दर्शन-भ्रष्ट दर्शन-धारकों की करें -

जे दंसणेसु भट्ठा पाए पाडंति दंसणधराणं ते होति लल्लमूआ बोही पुण दुल्लहा तेसिं ॥१२॥

अन्वयार्थ : [जे] जो [दंसणेसु] दर्शन से [भट्ठा] भ्रष्ट होकर [दंसणधराणं] दर्शन-धारकों के [पाए] चरणों में [ण] नहीं पड़ते/उन्हें नमस्कार नहीं करते, [ते] वे [लल्लमूआ] गूंगे [होति] होते हैं [तेसिं] उनको [बोही] रत्नत्रय की [पुण] फिर प्राप्ति [दुल्ला] दुर्लभ रहती है ।

छाबडा :

ये दर्शनेषु भ्रष्टाः पादयोः पातयन्ति दर्शनधरान्; ते भवन्ति लल्लमूकाः बोधिः पुनः दुर्लभा तेषाम् ॥१२॥

जो पुरुष दर्शन में भ्रष्ट हैं तथा अन्य जो दर्शन के धारक हैं, उन्हें अपने पैरों पड़ाते हैं, नमस्कारादि कराते हैं, वे परभव में लूले, मूक होते हैं और उनके बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है ।

जो दर्शन भ्रष्ट हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं और दर्शन के धारक हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं; जो मिथ्या- दृष्टि होकर सम्यग्दृष्टियों से नमस्कार चाहते हैं वे तीव्र मिथ्यात्व के उदय सहित हैं, वे परभव में लूले, मूक होते हैं अर्थात् एकेन्द्रिय होते हैं, उनके पैर नहीं होते, वे परमार्थतः लूले-मूक हैं, इस-प्रकार एकेन्द्रिय-स्थावर होकर निगोद में वास करते हैं, वहाँ अनन्तकाल रहते हैं; उनके दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ होती है; मिथ्यात्व का फल निगोद ही कहा है । इस पंचम काल में मिथ्यामत के आचार्य बनकर लोगों से विनयादिक पूजा चाहते हैं, उनके लिए मालूम होता है कि त्रसराशि का काल पूरा हुआ, अब एकेन्द्रिय होकर निगोद में वास करेंगे - इसप्रकार जाना जाता है ।

+ दर्शन-भ्रष्ट की विनय नहीं -

**जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जगारवभयेण
तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणानं ॥१३॥**

अन्वयार्थ : [लज्ज] लज्जा, [गारव] गर्व [च] और [भयेण] भय वश [तेसिं] मिथ्यादृष्टियों के चरणों में, [जेपि] जो [तेसिं] उनको [जाणंता] जानते हुए भी, [पडंति] पड़ते हैं, [पावं] पाप की [अणुमो] अनुमोदन [अमाणानं] करने वालों को [पि] भी [बोहि] रत्नत्रय की प्राप्ति [णत्थि] नहीं होती ।

छाबडा :

येऽपि पतन्ति च तेषां जानन्तः लज्जगारवभयेन; तेषामपि नास्ति बोधिः पापं अनुमन्यमानानाम् ॥१३॥

यहाँ लज्ज तो इसप्रकार है कि हम किसी की विनय नहीं करेंगे तो लोग कहेंगे यह उद्धत है, मानी है, इसलिए हमें तो सर्व का साधन करना है । इसप्रकार लज्ज से दर्शनभ्रष्ट के भी विनयादिक करते हैं तथा भय इसप्रकार है कि यह राज्यमान्य है और मंत्र, विद्यादिक की सामर्थ्ययुक्त है, इसकी विनय नहीं करेंगे तो कुछ हमारे ऊपर उपद्रव करेगा; इसप्रकार भय से विनय करते हैं तथा गारव तीन प्रकार कहा है; रसगारव, ऋद्धिगारव, सातगारव । वहाँ रसगारव तो ऐसा है कि मिष्ट, इष्ट, पुष्ट भोजनादि मिलता रहे, तब उससे प्रमादी रहता है तथा ऋद्धिगारव ऐसा है कि कुछ तप के प्रभाव आदि से ऋद्धि की प्राप्ति हो उसका गौरव आ जाता है, उससे उद्धत, प्रमादी रहता है तथा सातगारव ऐसा है कि शरीर निरोग हो, कुछ क्लेश का कारण न आये तब सुखीपना आ जाता है, उससे मग्न रहते हैं - इत्यादिक गारवभाव की मस्ती से भले-बुरे का कुछ विचार नहीं करता, तब दर्शनभ्रष्ट की भी विनय करने लग जाता है । इत्यादि निमित्त से दर्शन-भ्रष्ट की विनय करे तो उसमें मिथ्यात्व का अनुमोदन आता है; उसे भला जाने तो आप भी उसी समान हुआ, तब उसके बोधि कैसे कही जाये ? ऐसा जानना ॥१३॥

+ सम्यक्त्व के पात्र -

**दुविंह पि गंधचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होदि ॥१४॥**

अन्वयार्थ : [दुविंह पि] दोनों प्रकार के (अंतरंग और बाह्य) [गंधचायं] परिग्रहों का त्याग और [तीसुवि] तीन प्रकार का [जोएसु] योग (मन, वचन, काय) पर [संजमो] संयम (प्रवृत्ति पर नियंत्रण) [ठादि] रखना, [णाणम्मि] ज्ञान को [करण] कृत, कारित, अनुमोदन से [सुद्धे] निर्मल रखना, [उब्भसणे] खड़े होकर भोजन लेना, ऐसा [दंसणं] दर्शन [होई] होता है ।

छाबडा :

द्विविधः अपि ग्रन्थत्यागः त्रिषु अपि योगेषु संयमः तिष्ठति; ज्ञाने करणशुद्धे उद्भूतभोजने दर्शनं भवति ॥१४॥

यहाँ दर्शन अर्थात् मत है; वहाँ बाह्य वेष शुद्ध दिखाई दे वह दर्शन; वही उसके अंतरंगभाव को बतलाता है। वहाँ बाह्य परिग्रह अर्थात् धन-धान्यादिक और अंतरंग परिग्रह मिथ्यात्व-कषायादिक, वे जहाँ नहीं हों, यथाजात दिगम्बर मूर्ति हो तथा इन्द्रिय-मन को वश में करना, त्रस-स्थावर जीवों की दया करना, ऐसे संयम का मन-वचन-काय द्वारा शुद्ध पालन हो और ज्ञान में विकार करना, कराना, अनुमोदन करना - ऐसे तीन कारणों से विकार न हो और निर्दोष पाणिपात्र में खड़े रहकर आहार लेना - इसप्रकार दर्शन की मूर्ति है, वह जिनदेव का मत है, वही वंदन-पूजनयोग्य है, अन्य पाखंड वेष वंदना-पूजा योग्य नहीं है ॥१४॥

+ सम्यग्दर्शन से ही कल्याण-अकल्याण का निश्चय -

सम्मत्तदो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥१५॥

अन्वयार्थः : [सम्मत्तादो] सम्यक्त्व से [णाणं] ज्ञान, [णाणादो] ज्ञान से [सव्वभावउवलद्धी] समस्त पदार्थ उपलब्ध होते हैं, [पयत्थे] पदार्थ [उवलद्ध] उपलब्ध होने से [पुण] फिर जीव [सेयासेयं] कल्याण और अकल्याण को [वियाणेदि] विशेष रूप से जानता है।

छाबडा :

सम्यक्त्वात् ज्ञानं ज्ञानात् सर्वभावोपलब्धिः; उपलब्धपदार्थे पुनः श्रेयोऽश्रेयो विजानाति ॥१५॥

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा है, इसलिए सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यग्ज्ञान होता है और सम्यग्ज्ञान से जीवादि पदार्थों का स्वरूप यथार्थ जाना जाता है तथा जब पदार्थों का यथार्थ स्वरूप जाना जाये तब भला-बुरा मार्ग जाना जाता है। इसप्रकार मार्ग के जानने में भी सम्यग्दर्शन ही प्रधान है ॥१५॥

+ कल्याण-अकल्याण को जानने का प्रयोजन -

सेयासेयविदण्ह उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि सीलफलेणभ्युदयं तत्ते पुण लहइ णिव्वाणं ॥१६॥

अन्वयार्थः : [सेयासेय] कल्याण और अकल्याण को [विदण्ह] जानने-वाला मनुष्य [दुस्सील] दुःशील / दुष्ट-स्वभाव को [उद्धुद] उन्मूलित कर लेता है तथा [सीलवंतोवि] उत्तमशील/श्रेष्ठ स्वभाव युक्त होता है, [सीलफलेण] शील के फलस्वरूप वह [अभ्युदयं] सांसारिक सुख प्राप्तकर [तत्ते पुण] फिर [णिव्वाणं] मोक्ष [लहइ] प्राप्त करता है।

छाबडा :

श्रेयोऽश्रेयवेत्त उद्धृतदुःशीलः शीलवानपि; शीलफलेनाभ्युदयं ततः पुनः लभते निर्वाणम् ॥१६॥

भले-बुरे मार्ग को जानता है, तब अनादि संसार से लगाकर, जो मिथ्या-भाव-रूप प्रकृति है, वह पलटकर सम्यक्-स्वभाव-स्वरूप प्रकृति होती है; उस प्रकृति से विशिष्ट पुण्यबंध करे तब अभ्युदयरूप तीर्थकरादि की पदवी प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त होता है ॥१६॥

+ सम्यक्त्व जिनवचन से प्राप्त होता है -

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥१७॥

अन्वयार्थ : [जिणवयण] जिनवचन रूपी [मोसहमिण] औषधि [विसयसुह] विषयसुखों को [विरेयण] दूर करने वाली है, [अमिदभूयं] अमृत रूप है, [जरमरण] जरा और मृत्यु की [वाहि] व्याधि को [हरण] हरने वाली है तथा [सव्व] सब [दुक्खाण] दुखों का [खय] क्षय [करण] करने वाली है ।

छाबडा :

जिनवचनमौषधमिदं विषयसुखविरेचनममृतभूतम् ;:जरामरणव्याधिहरणङ्क्षयकरणं सर्वदुःखानाम् ॥१७॥

इस संसार में प्राणी विषयसुखों को सेवन करते हैं, जिनसे कर्म बँधते हैं और उससे जन्म-जरा-मरणरूप रोगों से पीड़ित होते हैं; वहाँ जिनवचनरूप औषधि ऐसी है जो विषय-सुखों से अरुचि उत्पन्न करके उसका विरेचन करती है । जैसे गरिष्ठ आहार से जब मल बढ़ता है, तब ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं और तब उसके विरेचन को हरड़ आदि औषधि उपकारी होती है, उसीप्रकार उपकारी है । उन विषयों से वैराग्य होने पर कर्मबन्धन नहीं होता और तब जन्म-जरा-मरण रोग नहीं होते तथा संसार के दुःखों का अभाव होता है । इसप्रकार जिनवचनों को अमृत समान मानकर अंगीकार करना ॥१७॥

+ जिनवचन में दर्शन का लिंग -

एगं जिणस्स रूवं बिदियं उक्किट्ठसावयाणं तु अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥१८॥

अन्वयार्थ : [एक्कं] एक [जिणस्स] जिनेन्द्र भगवान् का नग्न [रूवं] रूप, [वीयं] दुसरा [उक्किट्ठ] उत्कृष्ट [सावयाण] श्रावकों [तु] और [तइयं] तीसरा [अवरट्ठियाण] जघन्यपद में स्थित ऐसी आर्यिकाओं का लिंग है, ये तीन लिंग ही [दंसणं] जिन दर्शन के कहे गए हैं, [पुण] फिर [चउत्थं] चौथा [लिंगं] लिंग [णत्थि] नहीं है ।

छाबडा :

एकं जिनस्य रूपं द्वितीयं उत्कृष्टश्रावकाणां तु;:अवरस्थितानां तृतीयं चतुर्थं पुनः लिङ्गदर्शनं नास्ति ॥१८॥

जिनमत में तीनों लिंग अर्थात् भेष कहते हैं । एक तो वह है जो यथाजातरूप जिनदेव ने धारण किया तथा दूसरा ग्यारहवीं प्रतिमा के धारी उत्कृष्ट श्रावक का है और तीसरा स्त्री आर्यिका का है । इसके सिवा चौथा अन्य प्रकार का भेष जिनमत में नहीं है । जो मानते हैं वे मूल-संघ से बाहर हैं ॥१८॥

+ बाह्यलिंग सहित अन्तरंग श्रद्धान ही सम्यग्दृष्टि -

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्धिट्ठा सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥१९॥

अन्वयार्थ : [छहदव्व] छः द्रव्यों, [णव] नौ [पयत्था] पदार्थों, [पंचत्थी] पांच अस्तिकाय और [सत्ततच्च] सात तत्व [णिद्धिट्ठा] कहे गए हैं, [ताण] उनके [रूवं] स्वरूप का जो [सद्दहइ] श्रद्धान करता है [सो] उसे [सद्दिट्ठी] सम्यग्दृष्टि [मुणेयव्वो] जानना / मानना चाहिए ।

छाबडा :

षट् द्रव्याणि नव पदार्थाः पञ्चास्तिकायाः सप्ततत्त्वानि निर्दिष्टानि;:श्रद्धधाति तेषां रूपं सः सदृष्टिः ज्ञातव्यः ॥१९॥

(जाति अपेक्षा छह द्रव्यों के नाम) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - यह तो छह द्रव्य हैं तथा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष और पुण्य, पाप - यह नव तत्त्व अर्थात् नव पदार्थ हैं; छह द्रव्य काल बिना पंचास्तिकाय हैं। पुण्य-पाप बिना नव पदार्थ सप्त तत्त्व हैं। इनका संक्षेप स्वरूप इसप्रकार है - जीव तो चेतनास्वरूप है और चेतना दर्शनज्ञानमयी है; पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, गुणसहित मूर्तिक है, उसके परमाणु और स्कंध दो भेद हैं; स्कंध के भेद शब्द, बन्ध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत इत्यादि अनेक प्रकार हैं; धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य - ये एक-एक हैं, अमूर्तिक हैं, निष्क्रिय हैं, कालाणु असंख्यात द्रव्य हैं। काल को छोड़कर पाँच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं, इसलिए अस्तिकाय पाँच हैं। कालद्रव्य बहुप्रदेशी नहीं है, इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है; इत्यादिक उनका स्वरूप तत्त्वार्थ सूत्र की टीका से जानना।

जीव पदार्थ एक है और अजीव पदार्थ पाँच हैं, जीव के कर्मबन्ध योग्य पुद्गलों को आना आस्रव है, कर्मों का बँधना बन्ध है, आस्रव का रुकना संवर है, कर्मबन्ध का झड़ना निर्जरा है, सम्पूर्ण कर्मों का नाश होना मोक्ष है, जीवों को सुख का निमित्त पुण्य है और दुःख का निमित्त पाप है; ऐसे सप्त तत्त्व और नव पदार्थ हैं। इनका आगम के अनुसार स्वरूप जानकर श्रद्धान करनेवाले सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥१९॥

+ सम्यक्त्व के दो प्रकार -

जीवादीसद्ग्रहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

अन्वयार्थ : [जिणवरेहिं] जिनेन्द्र देव ने [पण्णत्तं] कहा है कि [ववहारा] व्यवहारनय से [जीवादि] जीवादि तत्वों का और [णिच्छयदो] निश्चयनय से अपनी [अप्पाणं] आत्मा का [सद्ग्रहणं] श्रद्धान करना [सम्मत्तं] सम्यक्त्व [हवइ] है।

छाबडा :

जीवादीनां श्रद्धानं सम्यक्त्वं जिनवरैः प्रज्ञप्तम्;;व्यवहारात् निश्चयतः आत्मैव भवति सम्यक्त्वम् ॥२०॥

तत्त्वार्थ का श्रद्धान व्यवहार से सम्यक्त्व है और अपने आत्म-स्वरूप के अनुभव द्वारा उसकी श्रद्धा, प्रतीति, रुचि, आचरण सो निश्चय से सम्यक्त्व है, यह सम्यक्त्व आत्मा से भिन्न वस्तु नहीं है, आत्मा ही का परिणाम है सो आत्मा ही है। ऐसे सम्यक्त्व और आत्मा एक ही वस्तु है, यह निश्चय का आशय जानना ॥२०॥

+ सम्यग्दर्शन ही सब गुणों में सार -

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण सारं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥२१॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [जिणपण्णत्तं] जिनेन्द्रदेव द्वारा प्रणीत [दंसण रयणं] सम्यग्दर्शनरूपी रत्न को [भावेण] भावपूर्वक [धरेह] धारण करो ! यह [गुणरयणत्तय] क्षमादि गुणों और रत्नत्रय में [सारं] श्रेष्ठतम है क्योंकि [मोक्खस्स] मोक्ष की [पढम] प्रथम [सोवाणं] सीढ़ी है।

छाबडा :

एवं जिनप्रणीतं दर्शनरत्नं धरत भावेन;;सारं गुणरत्नत्रये सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ॥२१॥

+ श्रद्धानी के ही सम्यक्त्व -

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्वहणं केवलिजिणेहिं भणियं सद्वमाणस्स सम्मतं ॥२२॥

अन्वयार्थ : [जं] जो कार्य [सक्कइ] किया जा सकता है [तं] वह [कीरइ] करे [च] और [जं ण] जो नहीं [सक्केइ] कर सकते [तं] उसका [सद्वहणं] श्रद्धान करे । [केवलि] केवलि, [जिणेहिं] जिनेन्द्र भगवान ने [भणियं] कहा है कि [सद्वमाणस्स] श्रद्धान करने वाला [सम्मतं] सम्यक्त्व से युक्त, सम्यग्दृष्टि है ।

छाबडा :

यत् शक्नोति तत् क्रियते यत् च न शक्नुयात् तस्य चश्रद्धानम्;;केवलिजिनैः भणितं श्रद्धानस्य सम्यक्त्वम् ॥२२॥

यहाँ आशय ऐसा है कि यदि कोई कहे कि सम्यक्त्व होने के बाद में तो सब परद्रव्य-संसार को हेय जानते हैं । जिसको हेय जाने उसको छोड़ मुनि बनकर चारित्र का पालन करे तब सम्यक्त्वी माना जावे, इसके समाधानरूप यह गाथा है, जिसने सब परद्रव्य को हेय जानकर निजस्वरूप को उपादेय जाना, श्रद्धान किया तब मिथ्याभाव तो दूर हुआ, परन्तु जबतक (चारित्र में प्रबल दोष है तबतक) चारित्र-मोहकर्म का उदय प्रबल होता है (और) तबतक चारित्र अंगीकार करने की सामर्थ्य नहीं होती ।

जितनी सामर्थ्य है उतना तो करे और शेष का श्रद्धान करे, इसप्रकार श्रद्धान करने को ही भगवान ने सम्यक्त्व कहा है ॥ २२॥

+ दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित की वंदना -

दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालसुपसत्था एदे तु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं ॥२३॥

अन्वयार्थ : [जे] जो (मुनि) [दंसणणाणचरित्ते] दर्शन,ज्ञान,चरित्र, [तवविणये] तप और विनय मे [णिच्चकाल] सदाकाल [सुपसत्था] लीन रहते है तथा अन्यो [गुणधराणं] गुणधारक मनुष्यों के [गुणवादी] गुणों का वर्णन करते है [एदे] वे [वंदणीया] नमस्कार करने योग्य है ।

छाबडा :

दर्शनज्ञानचारित्रे तपोविनये नित्यकालसुप्रस्वस्था;;एते तु वन्दनीया ये गुणवादिनः गुणधराणाम् ॥२३॥

+ यथाजातरूप को मत्सरभाव से वन्दना नहीं करते, वे मिथ्यादृष्टि -

सहजुप्पणं रूवं दट्ठं जो मण्णए ण मच्छरिओ सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो ॥२४॥

अन्वयार्थ : जो [सहजुप्पणं] स्वाभाविक नग्न [रूवं] रूप को [दट्ठं] देखकर उसे [ण] नहीं [मण्णए] मानते [मच्छरिओ] मत्सर भाव करते हैं, [सो] वह [संजमपडिवण्णो] संयमप्राप्त कर भी [मिच्छाइट्ठीहवइएसो] मिथ्यादृष्टि होता है ।

छाबडा :

सहजोत्पन्नं रूपं दृष्ट्वा यः मन्यते न मत्सरी;;सः संयमप्रतिपन्नः मिथ्यादृष्टिः भवति एषः ॥२४॥

जो यथाजातरूप को देखकर मत्सरभाव से उसका विनय नहीं करते हैं तो ज्ञात होता है कि इनके इस रूप की श्रद्धा-रुचि नहीं है, ऐसी श्रद्धा-रुचि बिना तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं । यहाँ आशय ऐसा है कि जो श्वेताम्बरादिक हुए वे दिगम्बर रूप के प्रति मत्सरभाव रखते हैं और उसका विनय नहीं करते हैं, उनका निषेध है ॥२४॥

+ इसी को दृढ़ करते हैं -

अमराण वंदियाणं रूवं ददूण सीलसहियाणं जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति ॥२५॥

अन्वयार्थ : जिनका नग्न [रूवं] स्वरूप [अमराण] देवों द्वारा [वंदियाणं] वन्दनीय है और जो [सीलसहियाणं] शीलसहित है [जे] जो उन्हें [ददूण] देखकर [गारवं] मान से उनकी उपासना नहीं करते वे [सम्मत्त] सम्यक्त्व से [विवज्जिया] रहित [होंति] है ।

छाबडा :

अमरैः वन्दितानां रूपं दृष्ट्वा शीलसहितानाम्;; ये गौरवं कुर्वन्ति च सम्यक्त्वविवर्जिताः भवन्ति ॥२५॥

जिस यथाजातरूप को देखकर अणिमादिक ऋद्धियों के धारक देव भी चरणों में गिरते हैं, उसको देखकर मत्सरभाव से नमस्कार नहीं करते हैं, उनके सम्यक्त्व कैसा ? वे सम्यक्त्व से रहित ही हैं ॥२५॥

+ असंयमी वंदने योग्य नहीं -

अस्संजदं ण वन्दे वत्थविहीणोवि तो ण वंदिज्ज दोण्णि वि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ॥२६॥

अन्वयार्थ : [अस्संजदं] असंयमी [सो] की [वंदे] वन्दना / नमस्कार [ण] नहीं करना चाहिए, [वत्थविहीणो] वस्त्र रहित होने पर भी (असंयमी) भी [वंदिज्ज] वन्दना/नमस्कार के योग्य [ण] नहीं है, [दोण्णिवि] ये दोनों ही एक [समाणा] समान [होंति] है, दोनों में से [एगोवि] एक भी [संजदो] संयमी [ण] नहीं [होदि] है ।

छाबडा :

असंयतं न वन्देत वस्त्रविहीनोऽपि स न वन्देत;; द्वौ अपि भवतः समानौ एकः अपि न संयतः भवति ॥२६॥

जिसने गृहस्थ का भेष धारण किया है, वह तो असंयमी है ही, परन्तु जिसने बाह्य में नग्नरूप धारण किया है और अंतरंग में भावसंयम नहीं है तो वह भी असंयमी ही है, इसलिए यह दोनों ही असंयमी हैं, अतः दोनों ही वंदने योग्य नहीं हैं अर्थात् ऐसा आशय नहीं जानना चाहिए कि जो आचार्य यथाजातरूप को दर्शन कहते आये हैं, वह केवल नग्नरूप ही यथाजातरूप होगा, क्योंकि आचार्य तो बाह्य-अभ्यंतर सब परिग्रह से रहित हो उसको यथाजातरूप कहते हैं । अभ्यंतर भावसंयम बिना बाह्य नग्न होने से तो कुछ संयमी होता नहीं है - ऐसा जानना ।

प्रश्न - बाह्य भेष शुद्ध हो, आचार निर्दोष पालन करनेवाले के अभ्यंतर भाव में कपट हो उसका निश्चय कैसे हो तथा सूक्ष्मभाव केवली-गम्य हैं, मिथ्याभाव हो उसका निश्चय कैसे हो, निश्चय बिना वंदने की क्या रीति ?

समाधान - ऐसे कपट का जबतक निश्चय नहीं हो तबतक आचार शुद्ध देखकर वंदना करे उसमें दोष नहीं है और कपट का किसी कारण से निश्चय हो जाय तब वंदना नहीं करे, केवलीगम्य मिथ्यात्व की व्यवहार में चर्चा नहीं है, छद्मस्थ के ज्ञानगम्य की चर्चा है । जो अपने ज्ञान का विषय ही नहीं, उसका बाधनिर्बाध करने का व्यवहार नहीं है, सर्वज्ञ भगवान की भी यही आज्ञा है । व्यवहारी जीव को व्यवहार का ही शरण है ॥२६॥

+ इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं -

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुतो को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेय सावओ होइ ॥२७॥

अन्वयार्थ : [ण वि] न ही [देहो] शरीर की [वंदिज्जइ] वन्दना करी जाती है, न [कुलो] कुल की वन्दना करी जाती है और न [जाइ] जाति [संजुतो] से युक्त की वन्दना करी जाती है । [को] किस गुणहीन की [वंदमि] वन्दना करू ? क्योंकि [गुणहीणो] गुण से हीन, न तो [सवणो] मुनि है और न ही [सावओ] श्रावक है ।

छाबडा :

नापि देहो वन्द्यते नापि च कुलं नापि च जातिसंयुक्तः; कः वन्द्यते गुणहीनः न खलु श्रमणः नैव श्रावकः भवति ॥
२७॥

लोक में भी ऐसा न्याय है जो गुणहीन हो उसको कोई श्रेष्ठ नहीं मानता है, देह रूपवान हो तो क्या, कुल बड़ा हो तो क्या, जाति बड़ी हो तो क्या, क्योंकि मोक्षमार्ग में तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण हैं, इनके बिना जाति-कुल-रूप आदि वंदनीय नहीं हैं, इनसे मुनि-श्रावकपणा नहीं आता है, मुनि-श्रावकपणा तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से होता है, इसलिए इनके धारक हैं वही वंदने योग्य हैं, जाति, कुल आदि वंदने योग्य नहीं हैं ॥२७॥

+ तप आदि से संयुक्त को नमस्कार -

वंदमि तवसावण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण३ सुद्धभावेण ॥२८॥

अन्वयार्थ : मैं [तव] तप [समणा] सहित मुनियों को [वंदामि] नमस्कार करता हूँ ! [तेसिं] उनके [सीलं] शील, [गुणं] गुणों [वंभचेरं] ब्रह्मचर्य [सिद्धि] मोक्ष [गमणं] प्राप्ति के लिए प्रयास सहित, [सम्मत्तेण] श्रद्धापूर्वक तथा [सुद्धभावेण] शुद्ध भावों से वन्दना करता हूँ ।

छाबडा :

वन्दे तपः श्रमणान् शीलं च गुणं च ब्रह्मचर्यं च; सिद्धिगमनं च तेषां सम्यक्त्वेन शुद्धभावेन ॥२८॥

पहले कहा कि देहादिक वंदने योग्य नहीं हैं, गुण वंदने योग्य हैं । अब यहाँ गुण सहित की वंदना की है । वहाँ जो तप धारण करके गृहस्थपना छोड़कर मुनि हो गये हैं, उनको तथा उनके शील-गुण-ब्रह्मचर्य सम्यक्त्व सहित शुद्धभाव से संयुक्त हो उनकी वंदना की है । यहाँ शील शब्द से उत्तरगुण और गुण शब्द से मूलगुण तथा ब्रह्मचर्य शब्द से आत्म-स्वरूप में मग्नता समझना चाहिए ॥२८॥

+ समवसरण सहित तीर्थकर वंदने योग्य हैं या नहीं -

चउसट्ठि चमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्ते अणवरबहुसत्तहिओ कम्मक्खयकारणणिमित्ते ॥२९॥

अन्वयार्थ : जो [चउसट्ठिचमरसहिओ] चौसठ चमरो सहित, चौतीस [अइसएहिं] अतिशयों से [संजुत्ते] युक्त है, विहार के समय पीछे चलने वाले [अणुवर] सेवको तथा अन्य [बहु सत्त हिओ] अनेक जीवों का हित करने वाले, तीर्थकर परमदेव को मैं [कम्मक्खय] कर्मों के क्षय में [निमित्त] कारणभूत नमस्कार करता हूँ ।

छाबडा :

चतुःषष्टिचमरसहितः चतुस्त्रिंशद्विरतिशयैः संयुक्तः; अनवरतबहुसत्त्वहितः कर्मक्षयकारणनिमित्तः २ ॥२९॥

यहाँ चौसठ चँवर चौतीस अतिशय सहित विशेषणों से तो तीर्थकर का प्रभुत्व बताया है और प्राणियों का हित करना तथा कर्मक्षय का कारण विशेषण से दूसरे का उपकार करने वाला बताया है, इन दोनों ही कारणों से जगत में वंदने, पूजने योग्य हैं । इसलिए इसप्रकार भ्रम नहीं करना कि तीर्थकर कैसे पूज्य हैं, यह तीर्थकर सर्वज्ञ वीतराग हैं । उनके समवसरणादिक विभूति रचकर इन्द्रादिक भक्तजन महिमा करते हैं । इनके कुछ प्रयोजन नहीं है, स्वयं दिगम्बरत्व को धारण करते हुए अंतरीक्ष तिष्ठते हैं - ऐसा जानना ॥२९॥

+ मोक्ष किससे होता है? -

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥३०॥

अन्वयार्थ : [णाणेण दंसणेण] सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, [तवेण] सम्यक्तप [य] और [चरियेण] सम्यक्चारित्र ये [चउसिंहपि] चार प्रकार के [संजमगुणेण] संयम गुण है, इन चारों के [समाजोगे] संयोग (एकत्रित होने) पर ही [जिणसासणे] जिशासन में [मोक्खो] मोक्ष की प्राप्ति [दिट्ठो] कही है ।

छाबडा :

ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण संयमगुणेन;;चतुर्णामपि समायोगे मोक्षः जिनशासने दृष्टः ॥३०॥

+ ज्ञान आदि के उत्तरोत्तर सारपना -

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥३१॥

अन्वयार्थ : [णाणं] ज्ञान [णरस्स] जीव का [सारो] सारभूत है, और ज्ञान की अपेक्षा [सम्मत्तं] सम्यक्त्व [सारोवि] सारभूत [होइ] है क्योंकि [सम्मत्ताओ] सम्यक्त्व से ही [चरणं] चरित्र होता है, [चरणाओ] चरित्र से [णिव्वाणं] निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

छाबडा :

ज्ञानं नरस्य सारः सारः अपि नरस्य भवति सम्यक्त्वम्;;सम्यक्त्वात् चरणं चरणात् भवति निर्वाणम् ॥३१॥

चारित्र से निर्वाण होता है और चारित्र ज्ञानपूर्वक सत्यार्थ होता है तथा ज्ञान सम्यक्त्वपूर्वक सत्यार्थ होता है, इसप्रकार विचार करने से सम्यक्त्व के सारपना आया । इसलिए पहिले तो सम्यक्त्व सार है; पीछे ज्ञान चारित्र सार है । पहिले ज्ञान से पदार्थों को जानते हैं अतः पहिले ज्ञान सार है तो भी सम्यक्त्व बिना उसका भी सारपना नहीं है, ऐसा जानना ॥३१॥

+ इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं -

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण चउण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण सन्देहो ॥३२॥

अन्वयार्थ : [णाणम्मि] ज्ञान, [दंसणम्मि] दर्शन [य] और [सम्मसहिएण] सम्यक्त्व सहित [तवेण] तप, [चरिएण] चारित्र, इन [चउण्हं] चारों का [समाजोगे] समायोग होने से [जीवा] जीव [सिद्धा] सिद्ध हुए हैं, इसमें [संदेहो] सन्देह [ण] नहीं है ।

छाबडा :

ज्ञाने दर्शने च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन;;चतुर्णामपि समायोगे सिद्धा जीवा न सन्देहः ॥३२॥

पहिले जो सिद्ध हुए हैं, वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों के संयोग से ही हुए हैं, यह जिनवचन है, इसमें सन्देह नहीं है ॥३२॥

+ सम्यग्दर्शनरूप रत्न देवों द्वारा पूज्य -

**कल्याणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं
सम्मदंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ॥३३॥**

अन्वयार्थ : [जीवा] जीव, [कल्याण] कल्याणों के [परंपरया] समूह (पँचकल्याण को) को [विसुद्ध] विशुद्ध (निर्दोष) [सम्मत्तं] सम्यक्त्व से [लहंति] प्राप्त करते हैं, [सम्मदंसणरयणं] सम्यग्दर्शन रूप रत्न [अग्घेदि] पूजा जाता है [सुरासुरे] देवों, दानवों (सहित) [लोए] समस्त लोक द्वारा ।

छाबडा :

कल्याणपरम्परया लभन्ते जीवाः विशुद्धसम्यक्त्वम्;;सम्यग्दर्शनरत्नं अर्घ्यते सुरासुरे लोके ॥३३॥

विशुद्ध अर्थात् पच्चीस मलदोषों से रहित निरतिचार सम्यक्त्व से कल्याण की परम्परा अर्थात् तीर्थकर पद पाते हैं, इसलिए यह सम्यक्त्व रत्न लोक में सब देव, दानवों और मनुष्यों से पूज्य होता है । तीर्थकर प्रकृति के बंध के कारण सोलह-कारण भावना कही हैं, उनमें पहली दर्शन-विशुद्धि है, वही प्रधान है, यही विनयादिक पंद्रह भावनाओं का कारण है, इसलिए सम्यग्दर्शन के ही प्रधानपना है ॥३३॥

+ सम्यक्त्व का माहात्म्य -

**लद्धूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गोत्तेण
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसोक्खं च मोक्खं च ॥३४॥**

अन्वयार्थ : जो [मणुयत्तं] मनुष्य जन्म, [उत्तमेण] उत्तम [गुत्तेण] गोत्र (कुल) की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ विचार [सहियं] सहित [सम्मत्तं] सम्यक्त्व [य] और ज्ञान [लद्धूण] प्राप्त करता है वह [अक्खय] अक्षय / अविनाशी अनन्त [सुक्खं] सुख [च] एवम [मोक्खं] मोक्ष प्राप्त करता है ।

छाबडा :

लब्ध्वा च मनुजत्वं सहितं तथा उत्तमेन गोत्रेण;;लब्ध्वा च सम्यक्त्वं अक्षयसुखं च मोक्षं च ॥३४॥

यह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य है ॥३४॥

+ स्थावर प्रतिमा -

**विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खणेहिं संजुत्ते
चउतीसअइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥३५॥**

अन्वयार्थ : [सहसट्ठ] एक हजार आठ [सुलक्खणेहिं] शुभ लक्षणों और [चउतीस] ३४ [अइसय] अतिशयों [संजुत्तो] से युक्त [जिणिंदो] जिनेन्द्र भगवान् जब तक यहाँ [विहरदि] विहार करते हैं [जाव] तब तक [सा] उन्हें [थावरा] स्थावर

[पडिमा] प्रतिमा [भणिया] कहा गया है ।

छाबडा :

विहरति यावत् जिनेन्द्रः सहस्राष्टलक्षणैः संयुक्तः, चतुस्त्रिंशदतिशययुतः सा प्रतिमा स्थावरा भणिता ॥३५॥

चौतीस अतिशयों में दस तो जन्म से ही लिये हुए उत्पन्न होते हैं - १. निस्वेदता, २. निर्मलता, ३. श्वेतरुधिरता, ४. समचतुरस्रसंस्थान, ५. वज्रवृषभनाराचसंहनन, ६. सुरूपता, ७. सुगंधता, ८. सुलक्षणता, ९. अतुलवीर्य, १०. हितमितवचन - ऐसे दस होते हैं ।

घातिया कर्मों के क्षय होने पर दस होते हैं - १. शतयोजन सुभिक्षता, २. आकाशगमन, ३. प्राणिवध का अभाव, ४. कवलाहार का अभाव, ५. उपसर्ग का अभाव, ६. चतुर्मुखपना, ७. सर्वविद्याप्रभुत्व, ८. छाया रहितत्व, ९. लोचन स्पंदन रहितत्व, १०. केश-नख वृद्धि-रहितत्व - ऐसे दस होते हैं ।

देवों द्वारा किये हुए चौदह होते हैं - १. सकलार्द्धमागधी भाषा, २. सर्वजीव मैत्रीभाव, ३. सर्वऋतु-फलपुष्पप्रादुर्भाव, ४. दर्पण के समान पृथ्वी का होना, ५. मंद सुगंध पवन का चलना, ६. सारे संसार में आनन्द का होना, ७. भूमिकंटकादिरहित होना, ८. देवों द्वारा गंधोदक की वर्षा होना, ९. विहार के समय चरणकमल के नीचे देवों द्वारा सुवर्णमयी कमलों की रचना होना, १०. भूमि धान्यनिष्पत्ति सहित होना, ११. दिशा आकाश निर्मल होना, १२. देवों का आह्वान शब्द होना, १३. धर्मचक्र का आगे चलना, १४. अष्ट मंगल द्रव्य होना - ऐसे चौदह होते हैं । सब मिलाकर चौतीस हो गये ।

आठ प्रातिहार्य होते हैं, उनके नाम - १. अशोकवृक्ष, २. पुष्पवृष्टि, ३. दिव्यध्वनि, ४. चामर, ५. सिंहासन, ६. छत्र, ७. भामंडल, ८. दुन्दुभिवादित्र - ऐसे आठ होते हैं ।

ऐसे अतिशयसहित अनन्तज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य सहित तीर्थंकर परमदेव जबतक जीवों के सम्बोधन निमित्त विहार करते विराजते हैं, तबतक स्थावर प्रतिमा कहलाते हैं ।

स्थावर प्रतिमा कहने से तीर्थंकर के केवलज्ञान होने के बाद में अवस्थान बताया है और धातु पाषाण की प्रतिमा बनाकर स्थापित करते हैं, वह इसी का व्यवहार है ॥३५॥

+ जंगम प्रतिमा -

**बारसविहतवजुत्त कम्मं खविऊण विहिबलेण सं
वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्त ॥३६॥**

अन्वयार्थ : [बारसविह] बारह प्रकार के [तव] तपो से [जुत्ता] युक्त [ऊण] मुनि [वीहि] विधि के [वलेण] बल से [कम्मं] कर्मों का [खवि] क्षय कर [वोसट्ट] दो प्रकार के व्युत्सर्गों -- पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग से [देहा] शरीर [चत्त] त्याग कर [णिव्वाणमणुत्तरं] सर्वोत्कृष्ट निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

छाबडा :

द्वादशविधतपोयुक्ताः कर्मक्षपयित्वा विधिबलेन स्वीयम्, व्युत्सर्गत्यक्तदेहा निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताः ॥३६॥

जो तप द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर जबतक विहार करें, तबतक अवस्थान रहें पीछे द्रव्य, क्षेत्र, काल-भाव की सामग्रीरूप विधि के बल से कर्म नष्टकर व्युत्सर्ग द्वारा शरीर को छोड़कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं । यहाँ आशय ऐसा है कि जब निर्वाण को प्राप्त होते हैं, तब लोकशिखर पर जाकर विराजते हैं, वहाँ गमन में एकसमय लगता है, उस समय जंगम प्रतिमा कहते हैं । ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य से मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसमें सम्यग्दर्शन प्रधान है । इस पाहुड में सम्यग्दर्शन के प्रधानपने का व्याख्यान किया है ॥३६॥; (सवैया छन्द); मोक्ष उपाय कह्यो जिनराज जु सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्रा; तामधि सम्यग्दर्शन मुख्य भये निज बोध फले सु चरित्रा ॥; जे नर आगम जानि करै पहचानि यथावत मित्रा ॥; घाति क्षिपाय रु केवल पाय अघाति हने लहि मोक्ष पवित्रा ॥१॥

नमूं देव गुरु धर्म कूं, जिन आगम कूं मानि ।;जा प्रसाद पायो अमल, सम्यग्दर्शन जानि ॥२॥

इति श्री कुन्दकुन्दस्वामि विरचित अष्टप्राभृत में प्रथम दर्शनप्राभृत और उसकी जयचन्द्रजी छाबड़ा कृत देशभाषामयवचनिका का हिन्दी भाषानुवाद समाप्त हुआ ।

सूत्र-पाहुड

+ सूत्र का स्वरूप -

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंधियं सम्मं
सुत्तत्थमग्गणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥१॥

अन्वयार्थ : [अरहन्तभासियत्थं] अरिहंत देव द्वारा प्रतिपादित अर्थमय, [गणहरदेवेहिं] गणधर देव द्वारा [सम्मं] सम्यक रूप से / पूर्वापरविरोधरहित [गंधियं] गुणित (गुम्फन किया) तथा [सुत्तत्थं] शास्त्र के [मग्गणत्थं] अर्थ को खोजने वाले, सूत्रों से [सवणा] श्रमण अपने [परमत्थं] परमार्थ को [साहंति] साधते हैं ।

छाबड़ा :

अर्हद्भाषितार्थं गणधरदेवैः प्रथितं सम्यक्; सूत्रार्थमार्गणार्थं श्रमणाः साधयन्ति परमार्थम् ॥१॥

जो अरहंत सर्वज्ञ द्वारा भाषित है तथा गणधरदेवों ने अक्षरपद वाक्यमयी गूंथा है और सूत्र के अर्थ को जानने का ही जिसमें अर्थ-प्रयोजन है - ऐसे सूत्र से मुनि परमार्थ जो मोक्ष उसको साधते हैं । अन्य जो अक्षपाद, जैमिनि, कपिल, सुगत आदि छद्मस्थों के द्वारा रचे हुए कल्पित सूत्र हैं, उनसे परमार्थ की सिद्धि नहीं है, इसप्रकार आशय जानना ॥१॥

+ सूत्रानुसार प्रवर्तनेवाला भव्य -

सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं आइरियपरंपूरेण मग्गेण
णाऊण दुविह सुत्तं वट्ठदि सिवमग्ग जो भव्वो ॥२॥

अन्वयार्थ : [सुत्तम्मि] सूत्र (श्रुत) में [जं] जो [सुदिट्ठं] भली प्रकार कहा है उसे [आइरिय] आचार्य [परंपूरेण] परंपरायुक्त [मग्गेण] मार्ग (क्रम) से, [दुविहसुत्तं] दो प्रकार के सूत्र (शब्दमय और अर्थमय) [णाऊण] जानकर [सिवमग्ग] मोक्ष मार्ग में जो [वट्ठइ] प्रवृत्त होता है वह [भव्वो] भव्य है ।

छाबड़ा :

सूत्रे यत् सुदृष्ट आचार्यपरम्परेण मार्गेण; ज्ञात्वा द्विविधं सूत्रं वर्तते शिवमार्गे यः भव्यः ॥२॥

यहाँ कोई कहे - अरहंत द्वारा भाषित और गणधर देवों से गूंथा हुआ सूत्र तो द्वादंशागरूप है, वह तो इस काल में दीखता नहीं है, तब परमार्थरूप मोक्षमार्ग कैसे सधे, इसका समाधान करने के लिए यह गाथा है, अरहंतभाषित गणधररचित सूत्र में जो उपदेश है, उसको आचार्यों की परम्परा से जानते हैं, उसको शब्द और अर्थ के द्वारा जानकर जो मोक्षमार्ग को साधता

है, वह मोक्ष होने योग्य भव्य है । यहाँ फिर कोई पूछे कि आचार्यों की परम्परा क्या है ? अन्य ग्रन्थों में आचार्यों की परम्परा निम्न प्रकार से कही गई है -

श्री वर्द्धमान तीर्थकर सर्वज्ञ देव के पीछे तीन केवलज्ञानी हुए - १. गौतम, २. सुधर्म, ३. जम्बू । इनके पीछे पाँच श्रुतकेवली हुए; इनको द्वादशांग सूत्र का ज्ञान था, १. विष्णु, २. नंदिमित्र, ३. अपराजित, ४. गौवर्द्धन, ५. भद्रबाहु । इनके पीछे दस पूर्व के ज्ञाता ग्यारह हुए; १. विशाख, २. प्रौष्ठिल, ३. क्षत्रिय, ४ जयसेन, ५. नागसेन, ६. सिद्धार्थ, ७. धृतिषेण, ८. विजय, ९. बुद्धिल, १०. गंगदेव, ११. धर्मसेन । इनके पीछे पाँच ग्यारह अंगों के धारक हुए; १. नक्षत्र, २. जयपाल, ३. पांडु, ४. ध्रुवसेन, ५. कंस । इनके पीछे एक अंग के धारक चार हुए; १. सुभद्र, २. यशोभद्र, ३. भद्रबाहु, ४. लोहाचार्य । इनके पीछे एक अंग के पूर्णज्ञानी की तो व्युच्छिति (अभाव) हुई और अंग के एकदेश अर्थ के ज्ञाता आचार्य हुए । इनमें से कुछ के नाम ये हैं - अर्हद्बलि, माघनंदि, धरसेन, पुष्पदंत, भूतबलि, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समंतभद्र, शिवकोटि, शिवायन, पूज्यपाद, वीरसेन, जिनसेन, नेमिचन्द्र इत्यादि ।

इनके पीछे इनकी परिपाटी में आचार्य हुए, इनसे अर्थ का व्युच्छेद नहीं हुआ, ऐसी दिगम्बरों के संप्रदाय में प्ररूपणा यथार्थ है । अन्य श्वेताम्बरादिक वर्द्धमान स्वामी से परम्परा मिलते हैं, वह कल्पित है, क्योंकि भद्रबाहु स्वामी के पीछे कई मुनि अवस्था में भ्रष्ट हुए, ये अर्द्धफालक कहलाये । इनकी सम्प्रदाय में श्वेताम्बर हुए, इनमें 'देवर्द्धिगणी' नाम का साधु इनकी संप्रदाय में हुआ है, इसने सूत्र बनाये हैं सो इनमें शिथिलाचार को पुष्ट करने के लिए कल्पित कथा तथा कल्पित आचरण का कथन किया है, वह प्रमाणभूत नहीं है । पंचमकाल में जैनाभासों के शिथिलाचार की अधिकता है सो युक्त है, इस काल में सच्चे मोक्षमार्ग की विरलता है, इसलिए शिथिलाचारियों के सच्चा मोक्षमार्ग कहाँ से हो इसप्रकार जानना ।

अब यहाँ कुछ द्वादशांगसूत्र तथा अङ्गबाह्यश्रुत का वर्णन लिखते हैं - तीर्थकर के मुख से उत्पन्न हुई सर्व भाषामय दिव्यध्वनि को सुनकर के चार ज्ञान, सप्तऋद्धि के धारक गणधर देवों ने अक्षर पदमय सूत्ररचना की । सूत्र दो प्रकार के हैं - १. अंग, २. अङ्गबाह्य । इनके अपुनरुक्त अक्षरों की संख्या बीस अङ्क प्रमाण है, ये अङ्क एक घाटि इकट्ठी प्रमाण हैं । ये अङ्क - १८४४६७४४०७३७०९५५१६१५ इतने अक्षर हैं । इनके पद करें तब एक मध्यपद के अक्षर सोलह सौ चौतीस करोड़ तियासी लाख सात हजार आठ सौ अठ्यासी कहे हैं । इनका भाग देने पर एक सौ बारह करोड़ तियासी लाख अठावन हजार पाँच इतने पावें, ये पद बारह अंगरूप सूत्र के पद हैं और अवशेष बीस अङ्कों में अक्षर रहे, ये अङ्गबाह्य सूत्र कहलाते हैं । ये आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर अक्षर हैं, इन अक्षरों में चौदह प्रकीर्णक रूप सूत्ररचना है ।

अब इन द्वादशांगरूप सूत्ररचना के नाम और पद संख्या लिखते हैं - प्रथम अंग आचारांग हैं, इसमें मुनीश्वरों के आचार का निरूपण है, इसके पद अठारह हजार हैं ।

दूसरा सूत्रकृत अंग है, इसमें ज्ञान का विनय आदिक अथवा धर्मक्रिया में स्वमत परमत की क्रिया के विशेष का निरूपण है, इसके पद छत्तीस हजार हैं ।

तीसरा स्थान अंग है, इसमें पदार्थों के एक आदि स्थानों का निरूपण है जैसे जीव सामान्यरूप से एक प्रकार विशेषरूप से दो प्रकार, तीन प्रकार इत्यादि ऐसे स्थान कहे हैं, इसके पद बियालीस हजार हैं ।

चौथा समवाय अंग है, इसमें जीवादिक छह द्रव्यों का द्रव्य-क्षेत्र-कालादि द्वारा वर्णन है, इसके पद एक लाख चौसठ हजार हैं ।

पाँचवाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग है, इसमें जीव के अस्ति नास्ति आदिक साठ हजार प्रश्न गणधरदेवों ने तीर्थकर के निकट किये उनका वर्णन है, इसके पद दो लाख अठाईस हजार हैं ।

छठा ज्ञातृधर्मकथा नाम का अंग है, इसमें तीर्थकरों के धर्म की कथा जीवादिक पदार्थों के स्वभाव का वर्णन तथा गणधर के प्रश्नों का उत्तर का वर्णन है, इसके पद पाँच लाख छप्पनहजार हैं ।

सातवाँ उपासकाध्ययन नाम का अङ्ग है, इसमें ग्यारह प्रतिमा आदि श्रावक के आचार का वर्णन है, इसके पद ग्यारह लाख सत्तर हजार हैं ।

आठवाँ अन्तःकृतदशांग नाम का अंग है, इसमें एक-एक तीर्थकर के काल में दस दस अन्तःकृत केवली हुए उनका वर्णन है, इसके पद तेईस लाख अठाईस हजार हैं ।

नौवाँ अनुत्तरोपपादक नाम का अंग है, इसमें एक-एक तीर्थकर के काल में दस-दस महामुनि घोर उपसर्ग सहकर अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए उनका वर्णन है, इसके पद बाणवै लाख चवालीस हजार हैं ।

दसवाँ प्रश्न व्याकरण नाम का अंग है, इसमें अतीत अनागत काल संबंधी शुभाशुभ का

प्रश्न कोई करे उसका उत्तर यथार्थ कहने के उपाय का वर्णन है तथा आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी - इन चार कथाओं का भी इस अंग में वर्णन है, इसके पद तिराणवें लाख सोलह हजार हैं ।

ग्यारहवाँ विपाकसूत्र नाम का अंग है, इसमें कर्म के उदय का तीव्र, मंद अनुभाग का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा लिए हुए वर्णन है, इसके पद एक करोड़ चौरासी लाख हैं । इसप्रकार ग्यारह अंग हैं, इनके पदों की संख्या को जोड़ देने पर चार करोड़ पंद्रह लाख दो हजार पद होते हैं ।

बारहवाँ दृष्टिवाद नाम का अंग है, इसमें मिथ्यादर्शन संबंधी तीन सौ तरेसठ कुवादों का वर्णन है, इसके पद एक सौ आठ करोड़ अड़सठ लाख छप्पन हजार पाँच हैं । इस बारहवें अंग के पाँच अधिकार हैं - १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग, ४. पूर्वगत, ५. चूलिका । परिकर्म में गणित के करण सूत्र हैं; इनके पाँच भेद हैं - प्रथम चन्द्रप्रज्ञप्ति है, इसमें चन्द्रमा के गमनादिक परिवार वृद्धि, हानि, ग्रह आदि का वर्णन है, इसके पद छत्तीस लाख पाँच हजार हैं । दूसरा सूर्यप्रज्ञप्ति है, इसमें सूर्य की ऋद्धि, परिवार, गमन आदि का वर्णन है, इसके पद पाँच लाख तीन हजार हैं । तीसरा जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति है, इसमें जम्बूद्वीप संबंधी मेरु गिरि क्षेत्र कुलाचल आदि का वर्णन है, इसके पद तीन लाख पच्चीस हजार हैं । चौथा द्वीप सागर प्रज्ञप्ति है, इसमें द्वीपसागर का स्वरूप तथा वहाँ स्थित ज्योतिषी, व्यन्तर भवनवासी देवों के आवास तथा वहाँ स्थित जिनमन्दिरों का वर्णन है, इसके पद बावन लाख छत्तीस हजार हैं । पाँचवाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति है, इसमें जीव अजीव पदार्थों के प्रमाण का वर्णन है, इसके पद चौरासी लाख छत्तीस हजार हैं । इसप्रकार परिकर्म के पाँच भेदों के पद जोड़ने पर एक करोड़ इक्कासी लाख पाँच हजार होते हैं ।

बारहवें अंग का दूसरा भेद सूत्र नाम का है, इसमें मिथ्यादर्शन संबंधी तीन सौ तरेसठ कुवादों का पूर्वपक्ष लेकर उनको जीव पदार्थ पर लगाने आदि का वर्णन है, इसके पद अठ्यासी लाख हैं । बारहवें अंग का तीसरा भेद प्रथमानुयोग है, इसमें प्रथम जीव के उपदेशयोग्य तीर्थकर आदि तरेसठ शलाका पुरुषों का वर्णन है, इसके पद पाँच हजार हैं । बारहवें अंग का चौथा भेद पूर्वगत है, इसके चौदह भेद हैं, प्रथम उत्पाद नाम का है इसमें जीव आदि वस्तुओं के उत्पाद व्यय ध्रौव्य आदि अनेक धर्मों की अपेक्षा भेद वर्णन है, इसके पद एक करोड़ हैं । दूसरा अग्रायणी नाम का पूर्व है, इसमें सात सौ सुनय दुर्नय का और षट्द्रव्य, सप्ततत्त्व, नव पदार्थों का वर्णन है, इसके छिनवें लाख पद हैं ।

तीसरा वीर्यानुवाद नाम का पूर्व है, इसमें छह द्रव्यों की शक्तिरूप वीर्य का वर्णन है, इसके पद सत्तर लाख हैं । चौथा अस्तिनास्तिप्रवाद नाम का पूर्व है, इसमें जीवादिक वस्तु का स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अस्ति, पररूप द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा नास्ति आदि अनेक धर्मों के विधि निषेध करके सप्तभंग के द्वारा कथंचित् विरोध मेटनेरूप मुख्य गौण करके वर्णन है, इसके पद साठ लाख हैं ।

पाँचवाँ ज्ञानप्रवाद नाम का पूर्व है, इसमें ज्ञान के भेदों का स्वरूप, संख्या, विषय, फल आदि का वर्णन है, इसके पद एक कम करोड़ हैं । छठा सत्यप्रवाद नाम का पूर्व है, इसमें सत्य, असत्य आदि वचनों की अनेक प्रकार की प्रवृत्ति का वर्णन है, इसके पद एक करोड़ छह हैं । सातवाँ आत्मप्रवाद नाम का पूर्व है, इसमें आत्मा (जीव) पदार्थ के कर्ता, भोक्ता आदि अनेक धर्मों का निश्चय-व्यवहारनय की अपेक्षा वर्णन है, इसके पद छब्बीस करोड़ हैं ।

आठवाँ कर्मप्रवाद नाम का पूर्व है, इसमें ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के बंध, सत्व, उदय, उदीरणा आदि का तथा क्रियारूप कर्मों का वर्णन है, इसके पद एक करोड़ अस्सी लाख हैं । नौवाँ प्रत्याख्यान नाम का पूर्व है, इसमें पाप के त्याग का अनेक प्रकार से वर्णन है, इसके पद चौरासी लाख हैं । दसवाँ विद्यानुवाद नाम का पूर्व है, इसमें सात सौ क्षुद्रविद्या और पाँचसौ महाविद्याओं के स्वरूप, साधन, मंत्रादिक और सिद्ध हुए इनके फल का वर्णन है तथा अष्टांग निमित्तज्ञान का वर्णन है, इसके पद एक करोड़ दस लाख हैं ।

ग्यारहवाँ कल्याणवाद नाम का पूर्व है, इसमें तीर्थकर चक्रवर्ती आदि के गर्भ आदि कल्याणक का उत्सव तथा उसके कारण षोडश भावनादि के तपश्चरणादिक तथा चन्द्रमा सूर्यादिक के गमन विशेष आदि का वर्णन है, इसके पद छब्बीस करोड़ हैं ।

बारहवाँ प्राणवाद नाम का पूर्व है, इसमें आठ प्रकार वैद्यक तथा भूतादिक की व्याधि के दूर करने के मंत्रादिक तथा विष दूर करने के उपाय और स्वरोदय आदि का वर्णन है, इसके तेरह करोड़ पद हैं । तेरहवाँ क्रियाविशाल नाम का पूर्व है, इसमें संगीतशास्त्र, छन्द, अलंकारादिक तथा चौसठ कला, गर्भाधानादि चौरासी क्रिया, सम्यग्दर्शन आदि एक सौ आठ क्रिया, देववंदनादिक पच्चीस क्रिया, नित्य नैमित्तिक क्रिया इत्यादि का वर्णन है, इसके पद नव करोड़ हैं ।

चौदहवाँ त्रिलोकबिंदुसार नाम का पूर्व है, इसमें तीनलोक का स्वरूप और बीजगणित का स्वरूप तथा मोक्ष का स्वरूप तथा मोक्ष की कारणभूत क्रिया का स्वरूप इत्यादि का वर्णन है, इसके पद बारह करोड़ पचास लाख हैं । ऐसे चौदह पूर्व हैं, इनके सब पदों का जोड़ पिच्याणवे करोड़ पचास लाख है ।

बारहवें अंग का पाँचवाँ भेद चूलिका है, इसके पाँच भेद हैं, इनके पद दो करोड़ नव लाख निवासी हजार दो सौ हैं। इसके प्रथम भेद जलगता चूलिका में जल का स्तंभन करना, जल में गमन करना। अग्निगता चूलिका में अग्नि स्तंभन करना, अग्नि में प्रवेश करना, अग्नि का भक्षण करना इत्यादि के कारणभूत मंत्र तंत्रादिक का प्ररूपण है, इसके पद दो करोड़ नव लाख, निवासी हजार दो सौ हैं। इतने इतने ही पद अन्य चार चूलिका के जानने। दूसरा भेद स्थलगता चूलिका है, इसमें मेरु पर्वत भूमि इत्यादि में प्रवेश करना, शीघ्र गमन करना इत्यादि क्रिया के कारण मंत्र तंत्र तपश्चरणादिक का प्ररूपण है।

तीसरा भेद मायागता चूलिका है, इसमें मायामयी इन्द्रजाल विक्रिया के कारणभूत मंत्र तंत्र तपश्चरणादिक का प्ररूपण है। चौथा भेद रूपगता चूलिका है, इसमें सिंह, हाथी, घोड़ा, बैल, हरिण इत्यादि अनेक प्रकार के रूप बना लेने के कारणभूत मंत्र, तंत्र, तपश्चरण आदि का प्ररूपण है तथा चित्राम, काष्ठलेपादिक का लक्षण वर्णन है और धातु रसायन का निरूपण है। पाँचवाँ भेद आकाशगता चूलिका है, इसमें आकाश में गमनादिक के कारणभूत मंत्र-यंत्र-तंत्रादिक का प्ररूपण है। ऐसे बारहवाँ अंग है। इसप्रकार से बारह अंग सूत्र हैं।

अंगबाह्य श्रुत के चौदह प्रकीर्णक हैं। प्रथम प्रकीर्णक सामायिक नाम का है, इसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से छह प्रकार इत्यादि सामायिक का विशेषरूप से वर्णन है। दूसरा चतुर्विंशतिस्तव नाम का प्रकीर्णक है, इसमें चौबीस तीर्थकरों की महिमा का वर्णन है। तीसरा वंदना नाम का प्रकीर्णक है, इसमें एक तीर्थकर के आश्रय से वन्दना-स्तुति का वर्णन है।

चौथा प्रतिक्रमण नाम का प्रकीर्णक है, इसमें सात प्रकार के प्रतिक्रमण का वर्णन है। पाँचवाँ वैनयिक नाम का प्रकीर्णक है, इसमें पाँच प्रकार के विनय का वर्णन है। छठा कृतिकर्म नाम का प्रकीर्णक है, इसमें अरहंत आदि की वंदना की क्रिया का वर्णन है। सातवाँ दशवैकालिक नाम का प्रकीर्णक है, इसमें मुनि का आचार, आहार की शुद्धता आदि का वर्णन है। आठवाँ उत्तराध्ययन नाम का प्रकीर्णक है, इसमें परीषह उपसर्ग को सहने के विधान का वर्णन है।

नवमा कल्पव्यवहार नाम का प्रकीर्णक है, इसमें मुनि के योग्य आचरण और अयोग्य सेवन के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। दसवाँ कल्पाकल्प नाम का प्रकीर्णक है, इसमें मुनि को यह योग्य है और यह अयोग्य है ऐसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा वर्णन है। ग्यारहवाँ महाकल्प नाम का प्रकीर्णक है, इसमें जिनकल्पी मुनि के प्रतिमायोग, त्रिकालयोग का प्ररूपण है तथा स्थविरकल्पी मुनियों की प्रवृत्ति का वर्णन है। बारहवाँ पुण्डरीक नाम का प्रकीर्णक है, इसमें चार प्रकार के देवों में उत्पन्न होने के कारणों का वर्णन है।

तेरहवाँ महापुण्डरीक नाम का प्रकीर्णक है, इसमें इन्द्रादिक बड़ी ऋद्धि के धारक देवों में उत्पन्न होने के कारणों का प्ररूपण है। चौदहवाँ निषिद्धिका नाम का प्रकीर्णक है, इसमें अनेकप्रकार के दोषों की शुद्धता के निमित्त प्रायश्चित्तों का प्ररूपण है, यह प्रायश्चित्त शास्त्र है, इसका नाम निसितिका भी है। इसप्रकार अंगबाह्य श्रुत चौदह प्रकार का है।

पूर्वों की उत्पत्ति पर्यायसमास ज्ञान से लगाकर पूर्वज्ञानपर्यन्त बीस भेद हैं, इनका विशेष वर्णन, श्रुतज्ञान का वर्णन गोम्मटसार नाम के ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक है, वहाँ से जानना ॥२॥

+ सूत्र-प्रवीण के संसार नाश -

**सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि
सूई जहा असुत्त णासदि सुत्तेण सहा णो वि ॥३॥**

अन्वयार्थ : [भवस्स] जो भव्य [सुत्तं] सूत्रों / शास्त्रों को यथार्थ में [जाणमाणो] जानता है, मानो [सो] वही चतुर्गति रूप अपने [भव] संसार को [णासणं] नष्ट [कुणदि] करता है [जहा] जिस प्रकार [असुत्ता] डोरी के बिना [सुई] सूई [णासदि] खो जाती है उसी प्रकार [सुत्ते] सूत्रों / शास्त्रों [सहा] के साथ [णोवि] बिना भी अनभिज्ञ मनुष्य भी नष्ट / संसार में गुम हो जाता है।

छाबडा :

सूत्रे ज्ञायमानः भवस्य भवनाशनं च सः करोति; सूची यथा असूत्रा नश्यति सूत्रेण सह नापि ॥३॥

सूत्र का ज्ञाता हो वह संसार का नाश करता है, जैसे सूई डोरा सहित हो तो दृष्टिगोचर होकर मिल जावे, कभी भी नष्ट न हो और डोरे के बिना हो तो दीखे नहीं, नष्ट हो जाय - इसप्रकार जानना ॥३॥

+ सूई का दृष्टान्त -

पुरिसो वि जो ससुत्ते ण विणांसइ सो गओ वि संसारे सच्चेदण पच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥४॥

अन्वयार्थ : जो [पुरिसोवि] पुरुष [ससुत्तो] जिनागम सहित है [सो] वह [संसारे] संसार में [गतोऽपि] रहकर भी [ण विणांसइ] नष्ट नहीं होता है । अपना रूप [सोअदिस्समाणो] अदृश्यमान / अप्रसिद्ध [तं] होने पर भी [पच्चक्खं] प्रत्यक्ष [सच्चेयण] स्वात्मानुभव से संसार का [णासदि] नाश करते हैं ।

छाबडा :

पुरुषोऽपि यः ससूत्रः न विनश्यति स गतोऽपि संसारे; सच्चेतनप्रत्यक्षेण नाशयति तं सः अदृश्यमानोऽपि ॥४॥

यद्यपि आत्मा इन्द्रियगोचर नहीं है तो भी सूत्र के ज्ञाता के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभवगोचर है, वह सूत्र का ज्ञाता संसार का नाश करता है, आप प्रकट होता है, इसलिए सूई का दृष्टान्त युक्त है ॥४॥

+ सूत्र का जानकार सम्यक्त्वी -

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्धिटी ॥५॥

अन्वयार्थ : जो [जिणभणियं] जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे [सुत्तत्थं] सूत्रों के अर्थों को, [जीवाजीवादि] जीवाजीवादि [बहुविहं] अनेक प्रकार के [अत्थं] पदार्थों को [च तहा] और उनमें तथा [हेयाहेयं] हेय उपादेय को [जाणइ] जानता है, [सो हु सद्धिटी] वह सम्यग्दृष्टि है ।

छाबडा :

सूत्रार्थं जिनभणितं जीवाजीवादिबहुविधमर्थम्; हेयाहेयं च तथा यो जानाति स हि सद्दृष्टिः ॥५॥

सर्वज्ञभाषित सूत्र में जीवादिक नवपदार्थ और इनमें हेय उपादेय इसप्रकार बहुत प्रकार से व्याख्यान है, उसको जानता है वह श्रद्धावान सम्यग्दृष्टि होता है ॥५॥

+ दो प्रकार से सूत्र-निरूपण -

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं ॥६॥

अन्वयार्थ : [जिण] जिनेन्द्र भगवान् ने [जं] जो [सुत्तं] सूत्र [उत्तं] कहे हैं [तह] उन्हें [ववहारो] व्यवहार [य] और [परमत्थो] निश्चय रूप [जाण] जानो । [तं जाणिऊण] उसे जानकर [जोई] योगी [खवइ मलपुंजं] पापपुंज को नष्ट कर [सुहं] आत्मसुख [लहइ] प्राप्त करते हैं ।

छाबडा :

यत्सूत्रं जिनोक्तं व्यवहारं तथा च ज्ञानीहि परमार्थम्; तं ज्ञात्वा योगी लभते सुखं क्षिपते मलपुञ्जं ॥६॥

जिनसूत्र को व्यवहार परमार्थरूप यथार्थ जानकर योगीश्वर (मुनि) कर्मों का नाश करके अविनाशी सुखरूप मोक्ष को पाते हैं । परमार्थ (निश्चय) और व्यवहार इनका संक्षेप स्वरूप इसप्रकार है कि जिन आगम की व्याख्या चार अनुयोगरूप शास्त्रों में

दो प्रकार से सिद्ध है, एक आगमरूप दूसरी अध्यात्मरूप ।

वहाँ सामान्य-विशेषरूप से सब पदार्थों का प्ररूपण करते हैं, सो आगमरूप है, परन्तु जहाँ एक आत्मा ही के आश्रय निरूपण करते हैं सो अध्यात्म है । अहेतुमत् और हेतुमत् ऐसे भी दो प्रकार हैं, वहाँ सर्वज्ञ की आज्ञा से ही केवल प्रमाणता मानना अहेतुमत् है और प्रमाण नय के द्वारा वस्तु की निर्बाध सिद्धि करके मानना सो हेतुमत् है । इसप्रकार दो प्रकार से आगम में निश्चय-व्यवहार से व्याख्यान है, वह कुछ लिखने में आ रहा है ।

जब आगमरूप सब पदार्थों के व्याख्यान पर लगाते हैं, तब तो वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषरूप अनन्त धर्मस्वरूप है, वह ज्ञानगम्य है, इनमें सामान्यरूप तो निश्चयनय का विषय है और विशेषरूप जितने हैं उनको भेदरूप करके भिन्न-भिन्न कहे वह व्यवहारनय का विषय है, उसको द्रव्य पर्याय स्वरूप भी कहते हैं । जिस वस्तु को विवक्षित करके सिद्ध करना हो उसके द्रव्य क्षेत्र काल भाव से जो कुछ सामान्य विशेषरूप वस्तु का सर्वस्व हो वह तो निश्चय व्यवहार से कहा है वैसे सिद्ध होता है और उस वस्तु के कुछ अन्य वस्तु के संयोगरूप अवस्था हो उसको उस वस्तुरूप कहना भी व्यवहार है, इसको उपचार भी कहते हैं ।

इसका उदाहरण ऐसे है - जैसे एक विवक्षित घट नामक वस्तु पर लगावें तब जिस घट का द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप सामान्य विशेषरूप जितना सर्वस्व है, उतना कहा, वैसे निश्चय व्यवहार से कहना वह तो निश्चय-व्यवहार है और घट के कुछ अन्य वस्तु का लेप करके उस घट को उस नाम से कहना तथा अन्य पटादि में घट का आरोहण करके घट कहना भी व्यवहार है ।

व्यवहार के दो आश्रय हैं, एक प्रयोजन, दूसरा निमित्त । प्रयोजन साधने को किसी वस्तु को घट कहना वह तो प्रयोजनाश्रित है और किसी अन्य वस्तु के निमित्त से घट में अवस्था हुई उसको घटरूप कहना वह निमित्तश्रित है । इसप्रकार विवक्षित सर्व जीव अजीव वस्तुओं पर लगाना । एक आत्मा ही को प्रधान करके लगाना अध्यात्म है । जीव सामान्य को भी आत्मा कहते हैं । जो जीव अपने को सब जीवों से भिन्न अनुभव करे उसको भी आत्मा कहते हैं, जब अपने को सबसे भिन्न अनुभव करके, अपने पर निश्चय लगावे तब इसप्रकार जो आप अनादि अनन्त अविनाशी सब अन्य द्रव्यों से भिन्न एक सामान्य विशेषरूप अनन्तधर्मात्मक द्रव्य पर्यायात्मक जीव नामक शुद्ध वस्तु है, वह कैसा है -

शुद्ध दर्शन ज्ञानमयी चेतनास्वरूप असाधारण धर्म को लिए हुए अनन्त शक्ति का धारक है, उसमें सामान्य भेद चेतना अनन्त शक्ति का समूह द्रव्य है । अनन्तज्ञान दर्शन सुख वीर्य ये चेतना के विशेष हैं वह तो गुण हैं और अगुरुलघु गुण के द्वारा षटस्थान पतित हानि वृद्धिरूप परिणमन करते हुए जीव के त्रिकालात्मक अनन्त पर्यायें हैं । इसप्रकार शुद्ध जीव नामक वस्तु को सर्वज्ञ ने देखा जैसा आगम में प्रसिद्ध है, वह तो एक अभेदरूप शुद्ध निश्चय नय का विषयभूत जीव है, इस दृष्टि से अनुभव करे तब तो ऐसा है और अनन्त धर्मों में भेदरूप किसी एक धर्म को लेकर कहना व्यवहार है ।

आत्मवस्तु के अनादि ही से पुद्गल कर्म का संयोग है, इसके निमित्त से राग-द्वेषरूप विकार की उत्पत्ति होती है, उसको विभाव परिणति कहते हैं और इससे फिर आगामी कर्म का बंध होता है । इसप्रकार अनादि निमित्त-नैमित्तिक भाव के द्वारा चतुर्गतिरूप संसारभ्रमण की प्रवृत्ति होती है । जिस गति को प्राप्त हो वैसे ही नाम का जीव कहलाता है तथा जैसा रागादिक भाव हो वैसा नाम कहलाता है ।

जब द्रव्य क्षेत्र काल भाव की बाह्य अंतरंग सामग्री के निमित्त से अपने शुद्धस्वरूप शुद्धनिश्चय-नय के विषयस्वरूप अपने को जानकर श्रद्धान करे और कर्म संयोग को तथा उसके निमित्त से अपने भाव होते हैं उनका यथार्थ स्वरूप जाने तब भेदज्ञान होता है, तब ही परभावों से विरक्तिहोती है । फिर उनको दूर करने का उपाय सर्वज्ञ के आगम से यथार्थ समझकर उसको अंगीकार करे तब अपने स्वभाव में स्थिर होकर अनन्त चतुष्टय प्रगट होते हैं, सब कर्मों का क्षय करके लोकशिखर पर जाकर विराजमान हो जाता है, तब मुक्त या सिद्ध कहलाता है ।

इसप्रकार जितनी संसार की अवस्था और यह मुक्त अवस्था इसप्रकार भेदरूप आत्मा का निरूपण है, वह भी व्यवहार नय का विषय है, इसको अध्यात्म शास्त्र में अभूतार्थ असत्यार्थ नाम से कहकर वर्णन किया है, क्योंकि शुद्ध आत्मा में संयोगजनित अवस्था हो सो तो असत्यार्थ ही है, कुछ शुद्ध वस्तु का तो यह स्वभाव नहीं है इसलिए असत्य ही है । जो निमित्त से अवस्था हुई वह भी आत्मा ही का परिणाम है, जो आत्मा का परिणाम है, वह आत्मा ही में है, इसलिए कथंचित् इसको सत्य भी कहते हैं, परन्तु जबतक भेदज्ञान नहीं होता तबतक ही यह दृष्टि है, भेदज्ञान होने पर जैसे है, वैसे ही जानता है ।

जो द्रव्यरूप पुद्गलकर्म हैं, वे आत्मा से भिन्न ही हैं, उनसे शरीरादिक का संयोग है, वह आत्मा से प्रगट ही भिन्न है, इनको आत्मा के कहते हैं सो यह व्यवहार प्रसिद्ध है ही, इसको असत्यार्थ या उपचार कहते हैं । यहाँ कर्म के संयोगजनित भाव हैं, वे सब निमित्तश्रित व्यवहार के विषय हैं और उपदेश अपेक्षा इसको प्रयोजनाश्रित भी कहते हैं, इसप्रकार निश्चय-व्यवहार का संक्षेप है ।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्षमार्ग कहा, यहाँ ऐसे समझना कि ये तीनों एक आत्मा ही के भाव हैं, इसप्रकार इनरूप आत्मा ही का अनुभव हो सो निश्चय मोक्षमार्ग है, इसमें भी जबतक अनुभव की साक्षात् पूर्णता नहीं हो तबतक एकदेशरूप होता है, उसको कथंचित् सर्वदेशरूप कहकर कहना व्यवहार है और एकदेश नाम से कहना निश्चय है ।

दर्शन, ज्ञान, चारित्र को भेदरूप कहकर मोक्षमार्ग कहे तथा इनके बाह्य परद्रव्य स्वरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव निमित्त हैं उनको दर्शन-ज्ञान-चारित्र के नाम से कहे वह व्यवहार है । देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं, जीवादिक तत्त्वों की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहते हैं । शास्त्र के ज्ञान अर्थात् जीवादिक पदार्थों के ज्ञान को ज्ञान कहते हैं इत्यादि ।

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्तिरूप प्रवृत्ति को चारित्र कहते हैं । बारह प्रकार के तप को तप कहते हैं । ऐसे भेदरूप तथा परद्रव्य के आलम्बनरूप प्रवृत्तियाँ सब अध्यात्म की अपेक्षा व्यवहार के नाम से कही जाती हैं, क्योंकि वस्तु के एकदेश को वस्तु कहना भी व्यवहार है और परद्रव्य की आलम्बनरूप प्रवृत्ति को उस वस्तु के नाम से कहना वह भी व्यवहार है ।

अध्यात्म शास्त्र में इसप्रकार भी वर्णन है कि वस्तु अनन्त धर्मरूप है, इसलिए सामान्य-विशेषरूप से तथा द्रव्य-पर्याय से वर्णन करते हैं । द्रव्यमात्र कहना तथा पर्यायमात्र कहना व्यवहार का विषय है । द्रव्य का भी तथा पर्याय का भी निषेध करके वचन अगोचर कहना निश्चयनय का विषय है । द्रव्यरूप है वही पर्यायरूप है इसप्रकार दोनों को ही प्रधान करके कहना प्रमाण का विषय है, इसका उदाहरण इसप्रकार है - जैसे जीव को चैतन्यरूप, नित्य, एक, अस्तिरूप इत्यादि अभेदमात्र कहना वह तो द्रव्यार्थिक नय का विषय है और ज्ञान-दर्शनरूप, अनित्य, अनेक, नास्तित्वरूप इत्यादि भेदरूप कहना पर्यायार्थिकनय का विषय है । दोनों ही प्रकार की प्रधानता का निषेधमात्र वचन अगोचर कहना निश्चय नय का विषय है । दोनों ही प्रकार को प्रधान करके कहना प्रमाण का विषय है इत्यादि ।

इसप्रकार निश्चय-व्यवहार का सामान्य अर्थात् संक्षेप स्वरूप है, उसको जानकर जैसे आगम-अध्यात्म शास्त्रों में विशेषरूप से वर्णन हो उसको सूक्ष्मदृष्टि से जानना, जिनमत अनेकांतस्वरूप स्याद्वाद है और नयों के आश्रित कथन है । नयों के परस्पर विरोध को स्याद्वाद दूर करता है, इसके विरोध का तथा अविरोध का स्वरूप अच्छी तरह जानना । यथार्थ तो गुरु आम्नाय ही से होता है, परन्तु गुरु का निमित्त इस काल में विरल हो गया, इसलिए अपने ज्ञान का बल चले तबतक विशेषरूप से समझते ही रहना, कुछ ज्ञान का लेश पाकर उद्धत नहीं होना, वर्तमान काल में अल्पज्ञानी बहुत है, इसलिए उनसे कुछ अभ्यास करके उनमें महन्त बनकर उद्धत होने पर मद आ जाता है, तब ज्ञान थकित हो जाता है और विशेष समझने की अभिलाषा नहीं रहती है, तब विपरीत होकर यद्वा-तद्वा मनमाना कहने लग जाता है, उससे अन्य जीवों का श्रद्धान विपरीत हो जाता है, तब अपने अपराध का प्रसंग आता है, इसलिए शास्त्र को समुद्र जानकर अल्पज्ञरूप ही अपना भाव रखना जिससे विशेष समझने की अभिलाषा बनी रहे, इससे ज्ञान की वृद्धि होती है ।

अल्पज्ञानियों में बैठकर महन्तबुद्धि रखे तब अपना प्राप्त ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, इसप्रकार जानकर निश्चय-व्यवहाररूप आगम की कथन पद्धति को समझकर उसका श्रद्धान करके यथाशक्ति आचरण करना । इस काल में गुरु संप्रदाय के बिना महन्त नहीं बनना, जिन-आज्ञा का लोप नहीं करना ।

कोई कहते हैं - हम तो परीक्षा करके जिनमत को मानेंगे वे वृथा बकते हैं-स्वल्पबुद्धि का ज्ञान परीक्षा करने के योग्य नहीं हैं । आज्ञा को प्रधान रख करके बने जितनी परीक्षा करने में दोष नहीं है, केवल परीक्षा ही को प्रधान रखने में जिनमत से च्युत हो जाय तो बड़ा दोष आवे, इसलिए जिनकी अपने हित-अहित पर दृष्टि है, वे तो इसप्रकार जानो और जिनको अल्पज्ञानियों में महंत बनकर अपने मान, लोभ, बड़ाई, विषय-कषाय पुष्ट करने हों उनकी बात नहीं है, वे तो जैसे अपने विषय-कषाय पुष्ट होंगे वैसे ही करेंगे, उनको मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं लगता है, विपरीत को किसका उपदेश ? इसप्रकार जानना चाहिए ।

+ सूत्र और पद से भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि -

**सुत्तत्थपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्वो
खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स ॥७॥**

अन्वयार्थ : [सुत्तत्थ] सुत्रार्थ और [पय] पदों से [विणट्ठो] विमुख को [मिच्छादिट्ठी] मिथ्यादृष्टि [हु] ही [मुणेयव्वो] जानो । [सचेलस्स] वस्त्र सहित को [खेडे वि] खेलखेल में भी, [पाणिप्पत्तं] पाणिपात्र से आहार [ण कायव्वं] नहीं देना चाहिये ।

छाबडा :

सूत्रार्थपदविनष्टः मिथ्यादृष्टिः हि सः ज्ञातव्यः, खेलेऽपि न कर्तव्यं पाणिपात्रं सचेलस्य ॥७॥

सूत्र में मुनि का रूप नग्न दिगम्बर कहा है । जिसके ऐसा सूत्र का अर्थ तथा अक्षररूप पद विनष्ट है और आप वस्त्र धारण करके मुनि कहलाता है, वह जिन आज्ञा से भ्रष्ट हुआ प्रगट मिथ्यादृष्टि है, इसलिए वस्त्र सहित को हास्य कुतूहल से भी पाणिपात्र अर्थात् आहारदान नहीं करना तथा इसप्रकार भी अर्थ होता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टि को पाणिपात्र आहार लेना योग्य नहीं है, ऐसा भेष हास्य कुतूहल से भी धारण करना योग्य नहीं है कि वस्त्रसहित रहना और पाणिपात्र भोजन करना, इसप्रकार से तो क्रीड़ामात्र भी नहीं करना ॥७॥

+ जिनसूत्र से भ्रष्ट हरि-हरादिक भी हो तो भी मोक्ष नहीं -

**हरिहरतुल्लो वि णरो सगं गच्छेइ एइ भवकोडी
तह वि ण पावइ सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥८॥**

अन्वयार्थ : वह (सूत्र के पदों और अर्थों से भ्रष्ट) [हरिहर] विष्णु और रुद्र [तुल्लोवि] समान [णरो] नर [वि] भी [सगं] स्वर्ग तक ही [गच्छेइ] जाता है [भवकोडी] करोड़ों भव धारण कर [संसारत्थो] संसार में [पुणो भणिदो] बार बार भ्रमण करता है, [तहवि] तथापि [सिद्धिं] मोक्ष [ण] नहीं [पावइ] प्राप्त करता है ।

छाबडा :

हरिहरतुल्योऽपि नरः स्वर्गं गच्छति एति भवकोटिः; तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥८॥

श्वेताम्बरादिक इसप्रकार कहते हैं कि गृहस्थ आदि वस्त्रसहित को भी मोक्ष होता है, इसप्रकार सूत्र में कहा है, उसका इस गाथा में निषेध का आशय है कि जो हरिहरादिक बड़ी सामर्थ्य के धारक भी हैं तो भी वस्त्रसहित तो मोक्ष नहीं पाते हैं । श्वेताम्बरों ने सूत्र कल्पित बनाये हैं उनमें यह लिखा है सो प्रमाणभूत नहीं है, वे श्वेताम्बर जिनसूत्र के अर्थ पद से च्युत हो गये हैं ऐसा जानना चाहिए ॥८॥

+ जिनसूत्र से च्युत, स्वच्छंद प्रवर्तते हैं, वे मिथ्यादृष्टि -

**उक्किट्टुसीहचरियं बहुपरियम्मो य गरुयभारो य
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छदि होदि मिच्छतं ॥९॥**

अन्वयार्थ : जो मुनि [सिह] सिंह समान निर्भय होकर [उक्किट्टु] उत्कृष्ट [चरियं] चारित्र का पालन करता है, [बहु] अनेक प्रकार के [परियम्मो] व्रत, उपवासादि करता है, [य] तथा [गरुयभारो य] गुरुभार (संघ के नायक, आचार्यपद) वहन करता है किन्तु [सच्छंदं] जिनसूत्र से च्युत होकर स्वच्छंद [विहरइ] प्रवर्तता है वो [पावं] पाप [गच्छदि] को प्राप्त होता है, [होदि मिच्छतं] मिथ्यादृष्टि होता है ।

छाबडा :

उत्कृष्ट सिंहचरितः बहुपरिकर्मा च गुरुभारश्च; यः विहरति स्वच्छन्दं पापं गच्छति भवति मिथ्यात्वम् ॥९॥

जो धर्म का नायकपना लेकर-गुरु बनकर निर्भय हो तपश्चरणादिक से बड़ा कहलाकर अपना सम्प्रदाय चलाता है, जिनसूत्र से च्युत होकर स्वेच्छाचारी प्रवर्तता है तो वह पापी मिथ्यादृष्टि ही है, उसका प्रसंग भी श्रेष्ठ नहीं है ॥९॥

+ जिनसूत्र में मोक्षमार्ग ऐसा -

**णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहिं
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥१०॥**

अन्वयार्थ : [परमजिणवरिंदेहिं] परम जिनेन्द्र देव ने [णिच्चेला] निर्गन्ध दिगम्बर(वस्त्र मात्र के त्यागी) मुद्राधारी मुनि को ही [पाणिज्जं] पाणिपात्र (अंजलि के पात्र) में आहार लेने का [उवइट्ठं] उपदेश दिया है । [एक्कोहि] एक यही [मोक्खमग्गो] मोक्ष मार्ग है [सेसा] अन्य [य सव्वे] और सभी [अमग्गया] अमार्ग है (मोक्षमार्ग नहीं है) ।

छाबडा :

निश्चेलपाणिपात्रं उपदिष्टं परमजिनवरेन्द्रेः, एकोऽपि मोक्षमार्गः शेषाश्च अमार्गाः सर्वे ॥१०॥

जो मृगचर्म, वृक्ष के वल्कल, कपास पट्ट, दुकूल, रोमवस्त्र, टाट के और तृण के वस्त्र इत्यादि रखकर अपने को मोक्षमार्गी मानते हैं तथा इस काल में जिनसूत्र से च्युत हो गये हैं, उन्होंने अपनी इच्छा से अनेक भेष चलाये हैं, कई श्वेत वस्त्र रखते हैं, कई रक्त वस्त्र, कई पीले वस्त्र, कई टाट के वस्त्र, कई घास के वस्त्र और कई रोम के वस्त्र आदि रखते हैं, उनके मोक्षमार्ग नहीं है, क्योंकि जिनसूत्र में तो एक नग्न दिगम्बर स्वरूप पाणिपात्र भोजन करना, इसप्रकार मोक्षमार्ग में कहा है, अन्य सब भेष मोक्षमार्ग नहीं हैं और जो मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं ॥१०॥

+ मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति -

**जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥११॥**

अन्वयार्थ : जो [संजमेसु सहिओ] संयम सहित [आरंभपरिग्गहेसु विरओ] आरंभ तथा परिग्रह से विरत (त्यागी) [वि] भी होते है [सो] वही [लोए] लोक में [सुरासुरमाणुसे] सुर, असुर और मनुष्यों के द्वारा [वंदणीओ] वन्दनीय [होइ] है ।

छाबडा :

यः संयमेषु सहितः आरम्भपरिग्रहेषु विरतः अपि, सः भवति वन्दनीयः ससुरासुरमानुषे लोके ॥११॥

जो दिगम्बर मुद्रा का धारक मुनि इन्द्रिय-मन को वश में करना, छह काय के जीवों की दया करना इसप्रकार संयम सहित हो और आरम्भ अर्थात् गृहस्थ के सब आरम्भों से तथा बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से विरक्त हो इनमें नहीं प्रवर्तते तथा आदि शब्द से ब्रह्मचर्य आदि गुणों से युक्त हो वह देव-दानव सहित मनुष्यलोक में वंदने योग्य है, अन्य भेषी परिग्रह-आरंभादि से युक्त पाखण्डी (ढोंगी) वंदने योग्य नहीं है ॥११॥

+ उनकी प्रवृत्ति का विशेष -

**जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्त
ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू ॥१२॥**

अन्वयार्थ : जो (मुनि) [वीसपरिसह] बाईस परिषह [सहंति] सहन करते है, [सत्तीसएहिं] सैकड़ों शक्ति [संजुत्ता] युक्त हैं [ते] वे [वंदणीया] वन्दनीय हैं, [कम्मक्खय] कर्मक्षय व [णिज्जरासाहू] निर्जरा करने में कुशल हैं ।

छाबडा :

ये द्वाविंशतिपरीषहान् सहन्ते शक्तिशतैः संयुक्ताः, ते भवन्ति वन्दनीयाः कर्मक्षयनिर्जरासाधवः ॥१२॥

जो बड़ी शक्ति के धारक साधु हैं, वे परीषहों को सहते हैं, परीषह आने पर अपने पद से च्युत नहीं होते हैं, उनके कर्मों की निर्जरा होती है, वे वंदने योग्य हैं ॥१२॥

+ शेष सम्यग्दर्शन ज्ञान से युक्त वस्त्रधारी इच्छाकार योग्य -

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्म संजुत्त चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्ज य ॥१३॥

अन्वयार्थ : (निर्गन्ध दिग्म्बर के अतिरिक्त) [अवसेसा] शेष [जे] जो [लिंगी] लिंग धारी, (ऐलक, क्षुल्लकादि) [सम्म] सम्यक [दंसणणाणेण] दर्शन, सम्यग्ज्ञान [संजुत्ता] से युक्त [परिगहिया] परिग्रह सहित [य] और [चेलेण] वस्त्रधारी हैं [ते] वे [इच्छणिज्जाय] इच्छाकार करने योग्य [भणिया] कहे गये हैं ।

छाबडा :

अवशेषा ये लिङ्गिगनः दर्शनज्ञानेन सम्यक् संयुक्ताः, चेलेन च परिगृहीताः ते भणिता इच्छाकारयोग्याः ॥१३॥

जो सम्यग्दर्शन ज्ञान संयुक्त हैं और उत्कृष्ट श्रावक का भेष धारण करते हैं, एक वस्त्र मात्र परिग्रह रखते हैं, वे इच्छाकार करने योग्य हैं, इसलिए 'इच्छामि' इसप्रकार कहते हैं । इसका अर्थ है कि मैं आपको इच्छू हूँ, चाहता हूँ ऐसा 'इच्छामि' शब्द का अर्थ है । इसप्रकार से इच्छाकार करना जिनसूत्र मंस कहा है ॥१३॥

+ इच्छाकार योग्य श्रावक का स्वरूप -

इच्छायारमहत्यं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं ठाणे द्वियसम्मत्तं परलोयसुहंकरो होदि ॥१४॥

अन्वयार्थ : जो [इच्छायार] इच्छाकार के [महत्यं] महान अर्थ को जानता है वह [सुत्तठिओ] सूत्र-आगम में स्थित है आगम जानता है, वह [कम्मं] आरम्भ आदि कर्मों को [छंडए] त्याग करता है और [ठाणे] श्रावक के स्थान में [सम्मत्तं] सम्यक्त्व पूर्वक [द्विय] स्थित है [परलोय] जो परलोक में [सुहंकरो] सुखकारी [होई] होता है ।

छाबडा :

इच्छाकारमहार्थं सूत्रस्थितः यः स्फुटं त्यजति कर्म, स्थाने स्थितसम्यक्त्वः परलोकसुखङ्करः भवति ॥१४॥

उत्कृष्ट श्रावक को इच्छाकार करते हैं सो जो इच्छाकार के प्रधान अर्थ को जानता है और सूत्र अनुसार सम्यक्त्व सहित आरंभादिक छोड़कर उत्कृष्ट श्रावक होता है, वह परलोक में स्वर्ग का सुख पाता है ॥१४॥

+ इच्छाकार के अर्थ को नहीं जान, अन्य धर्म का आचरण से सिद्धि नहीं -

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥१५॥

अन्वयार्थ : [अथ पुण] सो जिसे [अप्पा] आत्मा [णिच्छदि] नहीं इच्छता (आत्मा की भावना नहीं करता), वह [निरवसेसाइं] बाकी समस्त [धम्माइं करेदि] धार्मिक अनुष्ठान -- दान, पूजादि करता हो, [तहवि] फिर भी [ण पावदि सिद्धिं] सिद्धि नहीं प्राप्त करता, वह [पुणो] फिर [संसारत्थो] संसारी ही [भणिदो] कहा गया है ।

छाबडा :

अथ पुनः आत्मानं नेच्छति धर्मान् करोति निरवशेषान्, तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थः पुनः भणितः ॥१५॥

इच्छाकार का प्रधान अर्थ आपको चाहना है सो जिसके अपने स्वरूप की रुचिरूप सम्यक्त्व नहीं है, उसके सब मुनि श्रावक की आचरणरूप प्रवृत्ति मोक्ष का कारण नहीं है ॥१५॥

+ इस ही अर्थ को दृढ़ करके उपदेश -

एएण कारणेण य तं अप्पा सद्वहेह तिविहेण जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥१६॥

अन्वयार्थ : [एएण] इन इन [कारणेण] कारणों से [य] और [तं] उस [अप्पा] आत्मा का [तिविहेण] मन, वचन, काय से [सद्वहेह] श्रद्धान करो तथा [तं] उसे ही [जाणिज्जह पयत्तेण] प्रयत्नपूर्वक जानो [जेण] जिससे [लेहह मोक्खं] मोक्ष प्राप्त हो सके ।

छाबडा :

एतेन कारणेन च तं आत्मानं श्रद्धात् त्रिविधेन; येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ॥१६॥

जिससे मोक्ष पाते हैं, उस ही को जानना, श्रद्धान करना यह प्रधान उपदेश है, अन्य आडम्बर से क्या प्रयोजन ? इसप्रकार जानना ॥१६॥

+ जिनसूत्र के जानकार मुनि का स्वरूप -

वालग्गकोडिमिच्चं परिग्रहग्रहणं ण होइ साहूणं भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि ॥१७॥

अन्वयार्थ : [साहूणं] साधु के [वालग्गकोडिमिच्चं] बाल के अग्रभागमात्र भी [परिग्रहग्रहणं] परिग्रह ग्रहण [ण] नहीं [होइ] है उन्हे [दिण्णण्णं] अन्न के दिये हुए [भुंजेइ] आहार को [पाणिपत्ते] करपात्र मे [इक्कठाणम्मि] एक स्थान पर लेना चाहिये ।

छाबडा :

बालाग्रकोटिमात्रं परिग्रहग्रहणं न भवति साधूनाम्; भुञ्जीत पाणिपात्रे दत्तमन्येन एकस्थाने ॥१७॥

जो मुनि आहार ही पर का दिया हुआ प्रासुक योग्य अन्नमात्र निर्दोष एकबार दिन में अपने हाथ में लेते हैं तो अन्य परिग्रह किसलिए ग्रहण करे ? अर्थात् ग्रहण नहीं करे, जिनसूत्र में इसप्रकार मुनि कहे है ॥१७॥

+ अल्प परिग्रह ग्रहण में दोष -

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमेच्चं ण गिहदि हत्थेसु जइ लेइ अप्पबहुयं तत्ते पुण णिगोदम् ॥१८॥

अन्वयार्थ : [जहजाय] तत्काल उत्पन्न बालक [सरिसो] समान (नग्न दिगम्बर मुनि) [तिलतुसमेच्चं] तिल की भूसी मात्र भी (परिग्रह) [हत्थेसु] हाथों से [ण गिहदि] ग्रहण नहीं करते । [जइ] यदि [अप्पबहुयं] थोडा बहुत [लेइ] ग्रहण करते है [तत्तो] तो [पुण] पुनः [णिगोदं] निगोद [जाइ] जाते है ।

छाबडा :

यथाजातरूपसदृशः तिलतुषमात्रं न गृह्णाति हस्तयोः; यदि लाति अल्पबहुकं ततः पुनः याति निगोदम् ॥१८॥

मुनि यथाजातरूप दिगम्बर निर्ग्रन्थ को कहते हैं वह इसप्रकार होकर के भी कुछ परिग्रह रखे तो जानो कि इनके जिनसूत्र की श्रद्धा नहीं है, मिथ्यादृष्टि है इसलिए मिथ्यात्व का फल निगोद ही है, कदाचित् कुछ तपश्चरणादिक करे तो उससे

शुभकर्म बांधकर स्वर्गादिक पावे तो भी फिर एकेन्द्रिय होकर संसार मंी ही भ्रमण करता है ।

यहाँ प्रश्न है कि मुनि के शरीर है, आहार करता है, कमंडलु, पीछी, पुस्तक रखता है, यहाँ तिल तुषमात्र भी रखना नहीं कहा, सो कैसे ?

इसका समाधान यह है कि - मिथ्यात्व सहित रागभाव से अपनाकर अपने विषय कषाय पुष्ट करने के लिए रखे उसको परिग्रह कहते हैं, इस निमित्त कुछ थोड़ा बहुत रखने का निषेध किया है और केवल संयम के निमित्त का तो सर्वथा निषेध नहीं है । शरीर तो आयुपर्यन्त छोड़ने पर भी छूटता नहीं है, इनका तो ममत्व ही छूटता है सो उसका निषेध किया ही है । जबतक शरीर है, तबतक आहार नहीं करे तो सामर्थ्य ही नहीं हो, तब संयम नहीं सधे, इसलिए कुछ योग्य आहार विधिपूर्वक शरीर से रागरहित होते हुए भी लेकर के शरीर को खड़ा रखकर संयम साधते हैं ।

कमंडलु बाह्य शौच का उपकरण है, यदि नहीं रखे तो मलमूत्र की अशुचिता से पंच परमेष्ठी की भक्ति-वन्दना कैसे करे और लोकनिंद्य हो । पीछी दया का उपकरण है, यदि नहीं रखे तो जीवसहित भूमि आदि की प्रतिलेखना किससे करे ? पुस्तक ज्ञान का उपकरण है यदि नहीं रखे तो पठन-पाठन कैसे हो ? इन उपकरणों का रखना भी ममत्वपूर्वक नहीं है, इनसे रागभाव नहीं है । आहार-विहार-पठन-पाठन की क्रियायुक्त जबतक रहे; तबतक केवलज्ञान भी उत्पन्न नहीं होता है, इन सब क्रियाओं को छोड़कर शरीर का ही सर्वथा ममत्व छोड़ ध्यान अवस्था लेकर तिष्ठे, अपने स्वरूप में लीन हो तब परम निर्ग्रन्थ अवस्था होती है, तब श्रेणी को प्राप्त हुए मुनिराज के केवलज्ञान उत्पन्न होता है, अन्य क्रिया सहित हो तबतक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, इसप्रकार निर्ग्रन्थपना मोक्षमार्ग जिनसूत्र में कहा है ।

श्वेताम्बर कहते हैं कि भव स्थिति पूरी होने पर सब अवस्थाओं में केवलज्ञान उत्पन्न होता है तो यह कहना मिथ्या है, जिनसूत्र का यह वचन नहीं है, इन श्वेताम्बरों ने कल्पित सूत्र बनाये हैं, उनमें लिखा होगा । फिर यहाँ श्वेताम्बर कहते हैं कि जो तुमने कहा वह तो उत्सर्गमार्ग है, अपवाद मार्ग में वस्त्रादिक उपकरण रखना कहा है, जैसे तुमने धर्मोपकरण कहे वैसे ही वस्त्रादिक भी धर्मोपकरण हैं, जैसे क्षुधा की बाधा आहार से मिटाकर संयम साधते हैं, वैसे ही शीत आदि की बाधा वस्त्र आदि से मिटाकर संयम साधते हैं, इसमें विशेष क्या ? इनको कहते हैं कि इसमें तो बड़े दोष आते हैं तथा कोई कहते हैं कि काम विकार उत्पन्न हो तब स्त्री सेवन करे तो इसमें क्या विशेष ? इसलिए इसप्रकार कहना युक्त नहीं है ।

क्षुधा की बाधा तो आहार से मिटाना युक्त है, आहार के बिना देह अशक्त हो जाता है तथा छूट जावे तो अपघात का दोष आता है, परन्तु शीत आदि की बाधा तो अल्प है यह तो ज्ञानाभ्यास आदि के साधन से ही मिट जाती है । अपवादमार्ग कहा वह तो जिसमें मुनिपद रहे ऐसी क्रिया करना तो अपवादमार्ग है, परन्तु जिस परिग्रह से तथा जिस क्रिया से मुनिपद भ्रष्ट होकर गृहस्थ के समान हो जावे वह तो अपवादमार्ग नहीं है । दिग्म्बर मुद्रा धारण करके कमंडलु पीछी सहित आहार-विहार उपदेशादिक में प्रवर्ते वह अपवादमार्ग है और सब प्रवृत्ति को छोड़कर ध्यानस्थ हो शुद्धोपयोग में लीन हो जाने को उत्सर्गमार्ग कहा है । इसप्रकार मुनिपद अपने से सधता न जानकर किसलिए शिथिलाचार का पोषण करना ? मुनिपद की सामर्थ्य न हो तो श्रावकधर्म ही का पालन करना, परम्परा से इसी से सिद्धि हो जावेगी । जिनसूत्र की यथार्थ श्रद्धा रखने से सिद्धि है, इसके बिना अन्य क्रिया सब ही संसारमार्ग है, मोक्षमार्ग नहीं है, इसप्रकार जानना ॥१८॥

+ इस ही का समर्थन करते हैं -

**जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ णिरायारो ॥१९॥**

अन्वयार्थ : [जस्स] जिस [लिंगस्स] वेष मे [अप्पंबहुयं] थोड़ा या बहुत [परिग्गह] परिग्रह ग्रहण [हवइ] होता है [सो गरहिउ] वह निन्दनीय है, [जिणवयणे] जिनवचन मे [परिगहरहिओ] परिग्रह रहित को ही [निरायारो] मुनि बताया है ।

छाबडा :

यस्य परिग्रहग्रहणं अल्पं बहुकं च भवति लिङ्गस्य;;स गर्ह्यः जिनवचने परिग्रहरहितः निरागारः ॥१९॥

श्वेताम्बरादिक के कल्पित सूत्रों में भेष में अल्प बहुत परिग्रह का ग्रहण कहा है, वह सिद्धान्त तथा उसके श्रद्धानी निंद्य हैं । जिनवचन में परिग्रह रहित को ही निर्दोष मुनि कहा है ॥१९॥

+ जिनवचन में ऐसा मुनि वन्दने योग्य -

पंचमहव्ययजुत्ते तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई णिगंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जे य ॥२०॥

अन्वयार्थ : [पंचमहव्ययजुत्तो] पंचमहाव्रतों से युक्त, [तिहिं गुत्तिहिं] तीन गुप्तियों सहित ही [संजदो] संयमी/संयत/मुनि [होई] है [सो हु] वही [णिगंथमोक्खमग्गो] निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग में [वंदणिज्जे] वन्दनीय [होदि] है ।

छाबडा :

पञ्चमहाव्रतयुक्तः तिसृभिः गुप्तिभिः यः स संयतो भवति, निर्ग्रन्थमोक्षमार्गः स भवति हि वन्दनीयः च ॥२०॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रत सहित हो और मन, वचन, कायरूप तीन गुप्ति सहित हो वह संयमी है, वह निर्ग्रन्थ स्वरूप है, वह ही वंदने योग्य है । जो कुछ अल्प बहुत परिग्रह रखे सो महाव्रती संयमी नहीं है, यह मोक्षमार्ग नहीं है और गृहस्थ के समान भी नहीं है ॥२०॥

+ दूसरा भेष उत्कृष्ट श्रावक का -

दुइयं च उत्त लिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च भिक्षुं भमेइ पत्ते समिदीभासेण मोणेण ॥२१॥

अन्वयार्थ : [च] और [दुइयं] दूसरा [लिंगं] लिंग (वेष) [उक्किट्ठं] उत्कृष्ट / श्रेष्ठ [च] और [अवर] अविरक्त [सावयाणं] श्रावकों का [उत्त] कहा गया है । वे [पत्तो] पात्र लिए [भिक्षुं भमेइ] भिक्षा के लिये भ्रमण करते हैं, [समिदीभासेण] भाषा समिति रूप बोलते हैं या [मोणेण] मौन रहते हैं ।

छाबडा :

द्वितीयं चोक्तं लिङ्गं उत्कृष्टं अवरश्रावकाणां च, भिक्षां भ्रमति पात्रे समितिभाषया मौनेन ॥२१॥

एक तो मुनि का यथाजातरूप कहा और दूसरा यह उत्कृष्ट श्रावक का कहा वह ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक उत्कृष्ट श्रावक है, वह एक वस्त्र तथा कोपीन मात्र धारण करता है और भिक्षा से भोजन करता है, पात्र में भी भोजन करता है और करपात्र में भी करता है, समितिरूप वचन भी कहता है अथवा मौन भी रखता है, इसप्रकार यह दूसरा भेष है ॥२१॥

+ तीसरा लिंग स्त्री का -

लिंगं इत्थीण हवदि भुंजइ पिंड सुएयकालम्मि अज्जिय वि एक्कवत्था वत्थावरणेण भुंजेदि ॥२२॥

अन्वयार्थ : तीसरा [लिंगं] लिंग [इत्थीणं] स्त्री का [हवदि] होता है इसकी धारक स्त्रीयां [एयकालम्मि] एक दिन में [पिंडं] एकबार [भुंजइ] भोजन (आहार) ग्रहण करती हैं । [अज्जिय वि] आर्यिका भी [एक्क वत्था] एक ही वस्त्र धारण करे और [वत्थावरणेण] वस्त्र के आवरण सहित [भुंजेइ] भोजन करे ।

छाबडा :

लिङ्गं स्त्रीणां भवति भुङ्क्ते पिण्डं स्वेक काले, आर्या अपि एकवस्त्रा वस्त्रावरणेन भुङ्क्ते ॥२२॥

स्त्री आर्यिका भी हो और क्षुल्लिका भी हो, वे दोनों ही भोजन तो दिन में एकबार ही करे, आर्यिका हो वह एक वस्त्र धारण किये हुए ही भोजन करे, नग्न नहीं हो । इसप्रकार तीसरा स्त्री का लिंग है ॥२२॥

+ वस्त्र धारक के मोक्ष नहीं -

ण वि सिज्झदि वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो णगो विमोक्खमगो सेसा उम्मगया सव्वे ॥२३॥

अन्वयार्थ : [जिणसासणे] जिनशासन में [वत्थधरो] वस्त्रधारी होने से [सिज्झदि] सिद्धि प्राप्त [ण] नहीं होती, [जइवि] चाहे वह [तित्थरो] तीर्थकर [होइ] हो । [णगो] नग्न (दिगम्बरत्व) ही [विमोक्खमगो] विशिष्ट मोक्ष-मार्ग है [सेसा] शेष [सव्वे] सब [उम्मगया] उन्मार्ग है ।

छाबडा :

नापि सिध्यति वस्त्रधरः जिनशासने यद्यपिभवतितीर्थङ्करः; नग्नः विमोक्षमार्गः शेषा उन्मार्गकाः सर्वे ॥२३॥

श्वेताम्बर आदि वस्त्रधारक के भी मोक्ष होना कहते हैं, वह मिथ्या है, यह जिनमत नहीं है ॥२३॥

+ स्त्रियों को दीक्षा नहीं है इसका कारण -

लिंगमि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु भणिओ सुहुमो काओ तासिं कह होइ पव्वज्ज ॥२४॥

अन्वयार्थ : [इत्थीणं] स्त्रियों की [लिंगमि] योनि में, [यथणंतरे] स्तनों के बीच में वक्षस्थल, [णाहिकक्खदेसेसु] नाभि और कांख के क्षेत्र में [सुहुमोकाओ] सूक्ष्म शरीरी जीव [भणिओ] कहे गये हैं [तासिं] अतः उनकी [पव्वज्जा] दीक्षा [कथं] कैसे [होइ] हो सकती है ?

छाबडा :

लिङ्गे च स्त्रीणां स्तनान्तरे नाभिकक्षदेशेषु; भणितः सूक्ष्मः कायः तासां कथं भवति प्रव्रज्या ॥२४॥

स्त्रियों के योनि, स्तन, कांख, नाभि में पंचेन्द्रिय जीवों की उत्पत्ति निरन्तर कही है, इनके महाव्रतरूप दीक्षा कैसे हो ? महाव्रत कहे हैं वह उपचार से कहे हैं, परमार्थ से नहीं है, स्त्री अपने सामर्थ्य की हद्द को पहुँचकर व्रत धारण करती है, इस अपेक्षा से उपचार से महाव्रत कहे हैं ॥२४॥

+ दर्शन से शुद्ध स्त्री पापरहित -

जइ दंसणेण सुद्धा उत्त मग्गेण सावि संजुत्त घोरं चरिय चरित्तं इत्थीसु ण २पव्वया भणिया ॥२५॥

अन्वयार्थ : [जइ] यदि [उत्ता] उक्त / स्त्री [दंसणेण] सम्यग्दर्शन से [सुद्धा] शुद्ध है तब [वि] भी [सा] वह [मग्गेण] मार्ग से [संजुत्ता] युक्त है, वह [घोरं चरिय] कठिन आचरण कर [चरित्तं] चारित्रवान [इत्थीसु] स्त्री को [ण पव्वया] पापरहित [भणिया] कहा है ।

छाबडा :

यदि दर्शनेन शुद्धा उक्ता मार्गेण सापि संयुक्ता; घोरं चरित्वा चारित्रं स्त्रीषु न पापका भणिता ॥२५॥

स्त्रियों में जो स्त्री सम्यक्त्व सहित हो और तपश्चरण करे तो पापरहित होकर स्वर्ग को प्राप्त हो इसलिए प्रशंसा करने योग्य है, परन्तु स्त्रीपर्याय से मोक्ष नहीं है ॥२५॥

+ स्त्रियों के निशंक ध्यान नहीं -

चित्तसोहि ण तेसिं ढिल्लं भावं तहा सहावेण विज्जदि मासा तेसिं इत्थीसु ण संकया झाणा ॥२६॥

अन्वयार्थ : [तेसिं] उनके (स्त्रियों के) [चित्ता] चित्त की [सोहि] शुद्धता [ण] नहीं है, [तहा] तथा [सहावेण] स्वभाव से [ढिल्लं] शिथिल हैं, [मासातेसिं] प्रत्येक माह [इत्थीसु] स्त्रियों के [विज्जदि] रूधिरस्राव होता है जिससे [ण संकया] निर्भयतापूर्वक उनका [झाणं] ध्यान नहीं होता ।

छाबडा :

चित्तशोधि न तेषां शिथिलः भावः तथा स्वभावेन;;विद्यते मासा तेषां स्त्रीषु न शङ्कया ध्यानम् ॥२६॥

ध्यान होता है वह चित्त शुद्ध हो, दृढ परिणाम हो, किसी तरह की शंका न हो तब होता है सो स्त्रियों के तीनों ही कारण नहीं हैं, तब ध्यान कैसे हो ? ध्यान के बिना केवलज्ञान कैसे उत्पन्न हो और केवलज्ञान के बिना मोक्ष नहीं है, श्वेताम्बरादिक मोक्ष कहते हैं, वह मिथ्या है ॥२६॥

+ सूत्रपाहुड का उपसंहार -

गाहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण इच्छा जाहु णियत्त ताह णियत्तइं सव्वदुक्खाइं ॥२७॥

अन्वयार्थ : जैसे [समुद्द] समुद्र में से [सलिले] जल को (प्रचुर मात्रा होने पर भी) [स] अपने [चेल] कपड़े [अत्थेण] धोने के लिए [अप्पगाहा] अल्प मात्रा में जल [गाहेण] लेते हैं उसी प्रकार [जाहु] जिनकी [इच्छा] इच्छाओं की [णियत्ता] निवृत्ति हो गई है [ताह] उनके [सव्वदुक्खाइं] समस्त दुःख [णियत्ताइं] दूर हो गये हैं ।

छाबडा :

ग्राह्येण अल्पग्राहाः समुद्रसलिले स्वचेलाथेन;;इच्छा येभ्यः निवृत्तः तेषां निवृत्तानि सर्वदुःखानि ॥२७॥

जगत में यह प्रसिद्ध है कि जिनके संतोष है, वे सुखी हैं, इस न्याय से यह सिद्ध हुआ कि जिन मुनियों के इच्छा की निवृत्ति हो गई है, उनके संसार के विषयसंबंधी इच्छा किंचित् मात्र भी नहीं हैं, देह से विरक्त हैं, इसलिए परम संतोषी हैं और आहारादि कुछ ग्रहण योग्य हैं, उनमें से भी अल्प को ग्रहण करते हैं इसलिए वे परम संतोषी हैं, वे परम सुखी हैं, यह जिनसूत्र के श्रद्धान का फल है, अन्य सूत्र में यथार्थ निवृत्ति का प्ररूपण नहीं है इसलिए कल्याण के सुख को चाहनेवालों को जिनसूत्र का निरंतर सेवन करना योग्य है ॥२७॥

ऐसे सूत्रपाहुड को पूर्ण किया ।;;(छप्पय);;जिनवर की ध्वनि मेघध्वनिसम मुख तैं गरजे;;गणधर के श्रुति भूमि वरषि अक्षर पद सरजै ॥;;सकल तत्त्व परकास करै जगताप निवारै;;हेय अहेय विधान लोक नीकै मन धारै ॥;;विधि पुण्य पाप अरु लोक की मुनि श्रावक आचरण पुनि;;करि स्व-पर भेद निर्णय सकल कर्म नाशि शिव लहत मुनि ॥१॥;;दोहा;;वर्द्धमान जिनके वचन वरतैं पञ्चमकाल;;भव्य पाय शिवमग लहै नमूं तास गुणमाल ॥२॥;;

(इति पण्डित जयचन्द्र छाबड़ा कृत देशभाषावचनिका के हिन्दी अनुवाद सहित श्रीकुन्दकुन्दस्वामि विरचित सूत्रपाहुड समाप्त)

चारित्र-पाहुड

+ नमस्कृति तथा चारित्र-पाहुड लिखने की प्रतिज्ञा -

सव्वण्हु सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी
वंदित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहिं ॥१॥
णाणं दंसण सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तेसिं
मोक्खाराहणहेउं चारित्तं पाहुडं वोच्चे ॥२॥ युग्मम्

अन्वयार्थ : [सव्वण्हु] सर्वज्ञ, [सव्वदंसी] सर्वदर्शी, [णिम्मोहा] निर्मोह, [वीयराय] वीतरागी, [परमेट्ठी] परमेष्ठी; [तिजगवंदा] त्रिजगत द्वारा वन्दित, और [भव्वजीवेहिं] भव्यजीवों द्वारा वन्दनीय, [अरहंता] अरिहंत भगवान् को तथा [सोहि-कारणं] उसका कारण [णाणं दंसण सम्मं चारित्तं] सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र को [वंदित्तु] नमस्कार कर, [तेसिं] उनमें [मुक्खा] मोक्ष [आराहण] प्राप्ति में [हेउं] कारण भूत [चारित्तपाहुडं] चारित्र पाहुड को [वोच्चे] कहता हूँ।

छाबडा :

सर्वज्ञान सर्वदर्शिनः निर्मोहान् वीतरागान् परमेष्ठिनः; वन्दित्वा त्रिजगद्वन्दितान् अर्हतः भव्यजीवैः ॥१॥; ज्ञानं दर्शनं सम्यक् चारित्रं शुद्धिकारणं तेषाम्; मोक्षाराधनहेतुं चारित्रं प्राभृतं वक्ष्ये ॥२॥ --युग्मम्

आचार्य कहते हैं कि मैं अरहंत परमेष्ठी को नमस्कार करके चारित्रपाहुड को कहूंगा। अरहंत परमेष्ठी कैसे हैं? अरहंत ऐसे प्राकृत अक्षर की अपेक्षा तो ऐसा अर्थ है - अकार आदि अक्षर से तो 'अरि' अर्थात् मोहकर्म, रकार आदि अक्षर की अपेक्षा रज अर्थात् ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म, उसे ही रकार से रहस्य अर्थात् अंतराय कर्म इसप्रकार से चार घातिया कर्मों का हनन घातना जिनके हुआ वे अरहन्त हैं। संस्कृत की अपेक्षा 'अर्ह' ऐसा पूजा अर्थ में धातु है, उससे 'अर्हन्' ऐसा निष्पन्न हो तब पूजायोग्य हो उसको अर्हत् कहते हैं, वह भव्यजीवों से पूज्य है। परमेष्ठी कहने से परम इष्ट अर्थात् उत्कृष्ट पूज्य हो उसे परमेष्ठी कहते हैं अथवा परम जो उत्कृष्टपद में तिष्ठे वह परमेष्ठी है। इसप्रकार इन्द्रादिक से पूज्य अरहन्त परमेष्ठी हैं।

सर्वज्ञ है, सब लोकालोकस्वरूप चराचर पदार्थों को प्रत्यक्ष जाने वह सर्वज्ञ है। सर्वदर्शी अर्थात् सब पदार्थों को देखनेवाले हैं। निर्मोह हैं, मोहनीय नाम के कर्म की प्रधान प्रकृति मिथ्यात्व है उससे रहित हैं। वीतराग हैं, जिसके विशेषरूप से राग दूर हो गया हो सो वीतराग है उनके चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से (उदयवश) हो ऐसा रागद्वेष भी नहीं है। त्रिजगद्वंद्व हैं, तीन जगत के प्राणी तथा उनके स्वामी इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्तियों से वंदने योग्य हैं। इसप्रकार से अरहन्त पद को विशेष्य करके और अन्य पदों को विशेषण करके अर्थ किया है। सर्वज्ञ पद को विशेष्य करके और अन्य पदों को विशेषण करने पर इसप्रकार भी अर्थ होता है, परन्तु वहाँ अरहन्त भव्यजीवों से पूज्य हैं, इसप्रकार विशेषण होता है।

चारित्र कैसा है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीन आत्मा के परिणाम हैं, उनके शुद्धता का कारण है, चारित्र अंगीकार करने पर सम्यग्दर्शनादि परिणाम निर्दोष होता है। चारित्र मोक्ष के आराधन का कारण है, इसप्रकार चारित्र के पाहुड (प्राभृत) ग्रंथ को कहूंगा, इसप्रकार आचार्य ने मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा की है ॥१-२॥

+ सम्यग्दर्शनादि तीन भावों का स्वरूप -

जं जाणइ तं णाणं जं पेच्छइ तं च दंसणं भणियं
णाणस्स णिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥३॥

अन्वयार्थ : [जं जाणइ] जो जानता है [तं णाणं] वह ज्ञान है [च] और [जं पिच्छइ] जो प्रतीति करता है [तं दंसणं] वह दर्शन [भणियं] कहा गया है [णाणस्स] ज्ञान के [य] और [पिच्छियस्स] दर्शन के [सवण्णाहोइ] सहयोग से [चारित्तं] चारित्र होता है ।

छाबडा :

यज्जनाति तत् ज्ञानं यत् पश्यति तच्च दर्शनं भणितम्;;ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् भवति चारित्रम् ॥३॥

जाने वह तो ज्ञान और देखे, श्रद्धान हो, वह दर्शन तथा दोनों एकरूप होकर स्थिर होना चारित्र है ॥३॥

+ जो तीन भाव जीव के हैं उनकी शुद्धता के लिए चारित्र दो प्रकार का कहा है -

**एए तिण्णि वि भावा हवन्ति जीवस्स अक्खयामेया
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविहं चारित्तं ॥४॥**

अन्वयार्थ : [एए तिण्णि] ये तीनों (ज्ञान, दर्शन और चारित्र) [वि भावा] ही भाव / परिणाम [जीवस्स] जीव / आत्मा के [अक्खया] अक्षय / अविनश्वर और [अमेया] अमर्यादित / अनन्तानन्त [हवन्ति] होते हैं । [तिण्हं] इन तीनों की [पि] ही [सोहणत्थे] शुद्धि के लिए, [दुविहा चारित्तं] दो प्रकार का चरित्र [जिणभणियं] जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है ।

छाबडा :

एते त्रयोऽपि भावाः भवन्ति जीवस्य अक्षयाः अमेया :: त्रयाणामपि शोधनार्थं जिनभणितं द्विविधं चारित्रं ॥४॥

जानना देखना और आचरण करना ये तीन भाव जीव के अक्षयानंत हैं, अक्षय अर्थात् जिसका नाश नहीं है, अमेय अर्थात् अनन्त जिसका पार नहीं है, सब लोकालोक को जाननेवाला ज्ञान है इसप्रकार ही दर्शन है, इसप्रकार ही चारित्र है तथापि घातिकर्म के निमित्त से अशुद्ध हैं जो ज्ञान दर्शन चारित्ररूप हैं, इसलिए श्रीजिनदेव ने इनको शुद्ध करने के लिए इनका चारित्र (आचरण करना) दो प्रकार का कहा है ॥४॥

+ दो प्रकार का चारित्र -

**जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं
बिदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥५॥**

अन्वयार्थ : [तं पि] वह भी [जिण णाण] जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा [सदेसियं] निरूपित [पढमं] पहिला [जिण णाण दिट्ठि] वीतराग सर्वज्ञ देव के ऊपर ज्ञान और श्रद्धान से [सुद्धं] शुद्ध [सम्मत्तचरण] सम्यक्त्वचरण [चारित्तं] चारित्र और [विदियं] दूसरा [संजमचरणं] संयमचरण चरित्र है ।

छाबडा :

जिनज्ञानदृष्टिशुद्धं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम्;;द्वितीयं संयमचरणं जिनज्ञानसन्देशितं तदपि ॥५॥

चारित्र दो प्रकार का कहा है । प्रथम तो सम्यक्त्व का आचरण कहा वह जो सर्वज्ञ के आगम में तत्त्वार्थ का स्वरूप कहा उसको यथार्थ जानकर श्रद्धान करना और उसके शंकादि अतिचार मल दोष कहे, उनका परिहार करके शुद्ध करना तथा उसके निःशंकितादि गुणों का प्रगट होना वह सम्यक्त्वचरण चारित्र है और जो महाव्रत आदि अंगीकार करके सर्वज्ञ के आगम में कहा वैसे संयम का आचरण करना और उसके अतिचार आदि दोषों को दूर करना संयमचरण चारित्र है, इसप्रकार संक्षेप से स्वरूप कहा ॥५॥

एवं चिय णाऊण य सव्वे मिच्छत्तदोस संकाइ परिहर सम्मत्तमला जिणभणिया तिविहजोएण ॥६॥

अन्वयार्थ : [एवं] और [चिय] ऐसा [णाऊण] जानकार [जिण भणिया] जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुए और [सम्मत्त] सम्यक्त्व में [मला] मल उत्पन्न करने वाले [य] ऐसे [सव्वे] सर्व [मिच्छत्त] मिथ्यात्व [संकाई] शंकादि [दोस] दोषों का [तिविह] तीनों प्रकार के [जोएण] योग (मन वचन काय) से [परिहरि] परित्याग करो ।

छाबडा :

एवं चैव ज्ञात्वा च सर्वान् मिथ्यात्वदोषान् शङ्कादीन्; परिहर सम्यक्त्वमलान् जिणभणितान् त्रिविधयोगेन ॥६॥

सम्यक्त्वाचरण चारित्र, शंकादिदोष सम्यक्त्व के मल हैं उनको त्यागने पर शुद्ध होता है, इसलिए इनको त्याग करने का उपदेश जिनदेव ने किया है । वे दोष क्या हैं वह कहते हैं - जिनवचन में वस्तु का स्वरूप कहा, उसमें संशय करना शंका दोष है, इसके होने पर सप्तभय के निमित्त से स्वरूप से चिग जाय वह भी शंका है । भोगों की अभिलाषा कांक्षा दोष है, इसके होने पर भोगों के लिए स्वरूप से भ्रष्ट हो जाता है । वस्तु के स्वरूप अर्थात् धर्म में ग्लानि करना जुगुप्सा दोष है, इसके होने पर धर्मात्मा पुरुषों के पूर्व कर्म के उदय से बाह्य मलिनता देखकर मत से चिग जाना होता है ।

देव, गुरु, धर्म तथा लौकिक कार्यों में मूढता अर्थात् यथार्थ स्वरूप को न जानना सो मूढदृष्टि दोष है, इसके होने पर अन्य लौकिकजनों से माने हुए सरागी देव, हिंसाधर्म और सग्रन्थ गुरु तथा लोगों के बिना विचार किये ही माने गये अनेक क्रियाविशेषों से विभवादिक की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति करने से यथार्थ मत भ्रष्ट हो जाता है । धर्मात्मा पुरुषों में कर्म के उदय से कुछ दोष उत्पन्न हुआ देखकर उनकी अवज्ञा करना सो अनुपगूहन दोष है, इसके होने पर धर्म से छूट जाना होता है ।

धर्मात्मा पुरुषों को कर्म के उदय के वश से धर्म से चिगते देखकर उनकी स्थिरता न करना अस्थितिकरण दोष है, इसके होने पर ज्ञात होता है कि इसको धर्म से अनुराग नहीं है और अनुराग का न होना सम्यक्त्व में दोष है ।

धर्मात्मा पुरुषों से विशेष प्रीति न करना अवात्सल्य दोष है, इसके होने पर सम्यक्त्व का अभाव प्रगट सूचित होता है । धर्म का माहात्म्य शक्ति के अनुसार प्रगट न करना अप्रभावना दोष है, इसके होने पर ज्ञात होता है कि इसके धर्म के माहात्म्य की श्रद्धा प्रगट नहीं हुई है ।

इसप्रकार ये आठ दोष सम्यक्त्व के मिथ्यात्व के उदय से (उदय के वश होने से) होते हैं, जहाँ ये तीव्र हों वहाँ तो मिथ्यात्व प्रकृति का उदय बताते हैं, सम्यक्त्व का अभाव बताते हैं और जहाँ कुछ मन्द अतिचाररूप हों तो सम्यक्त्व प्रकृति नामक मिथ्यात्व की प्रकृति के उदय से हो वे अतिचार कहलाते हैं, वहाँ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का सद्भाव होता है, परमार्थ से विचार करें तो अतिचार त्यागने ही योग्य हैं ।

इन दोषों के होने पर अन्य भी मल प्रगट होते हैं, वे तीन मूढताएँ हैं - १. देवमूढता, २. पाखण्डमूढता, ३. लोकमूढता । किसी वर की इच्छा से सरागी देवों की उपासना करना उनकी पाषाणादि में स्थापना करके पूजना देवमूढता है । ढोंगी गुरुओं में मूढता-परिग्रह, आरंभ, हिंसादि सहित पाखण्डी (ढोंगी) भेषधारियों का सत्कार पुरस्कार करना पाखण्डमूढता है । लोकमूढता-अन्य मतवालों के उपदेश से तथा स्वयं ही बिना विचारे कुछ प्रवृत्ति करने लग जाय वह लोकमूढता है, जैसे सूर्य को अर्घ्य देना, ग्रहण में स्नान करना, संक्रांति में दान करना, अग्नि का सत्कार करना, देहली, घर, कुंआ पूजना, गाय की पूँछ को नमस्कार करना, गाय के मूत्र को पीना, रत्न, घोड़ा आदि वाहन, पृथ्वी, वृक्ष, शस्त्र, पर्वत आदिक की सेवा-पूजा करना, नदी-समुद्र आदि को तीर्थ मानकर उनमें स्नान करना, पर्वत से गिरना, अग्नि में प्रवेश करना इत्यादि जानना ।

छह अनायतन हैं - कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और इनके भक्त ऐसे छह हैं, इनको धर्म के स्थान जानकर इनकी मन से प्रशंसा करना, वचन से सराहना करना, काय से वंदना करना, ये धर्म के स्थान नहीं हैं, इसलिए इनको अनायतन कहते हैं । जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या, ऐश्वर्य, इनका गर्व करना आठ मद हैं, जाति मातापक्ष है, लाभ धनादिक कर्म के उदय के आश्रय है, कुल पितापक्ष है, रूप कर्मोदयाश्रित है, तप अपने स्वरूप को साधने का साधन है, बल कर्मोदयाश्रित है, विद्या कर्म के क्षयोपशमाश्रित है, ऐश्वर्य कर्मोदयाश्रित है, इनका गर्व क्या? परद्रव्य के निमित्त से होनेवाले का गर्व करना सम्यक्त्व का अभाव बताता है अथवा मलिनता करता है । इसप्रकार ये पच्चीस सम्यक्त्व के मल दोष हैं, इनका त्याग करने पर सम्यक्त्व शुद्ध होता है, वही सम्यक्त्वाचरण चारित्र का अंग है ॥६॥

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा य ते अट्ठ ॥७॥

अन्वयार्थ : [णिस्संकिय] निशंकित, [णिक्कंखि] निःकांक्षित, [णिव्विदिगिंछा] निर्विचिकित्सा, [अमूढदिट्ठी] अमूढ-दृष्टि, [उवगूहण] उपगूहन, [ठिदिकरणं] स्थितिकरण, [वच्छल्ल] वात्सल्य [य] और [पहावणा] प्रभावना सम्यक्त्व के [ते अट्ठ] ये आठ गुण / अंग हैं ।

छाबडा :

निःशङ्कितं निःकाङ्क्षितं निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टी च;;उपगूहनं स्थितिकरणं वात्सल्यं प्रभावना च ते अष्टौ ॥७॥

ये आठ अंग पहिले कहे हुए शंकादि दोषों के अभाव से प्रगट होते हैं, इनके उदाहरण पुराणों में हैं, उनकी कथा से जानना । निःशंकित अंग का अंजन चोर का उदाहरण है, जिसने जिनवचन में शंका न की, निर्भय हो छींके की लड़ काटकर के मंत्र सिद्ध किया । निःकांक्षित का सीता, अनंतमती, सुतारा आदि का उदाहरण है, जिन्होंने भोगों के लिए धर्म को नहीं छोड़ा । निर्विचिकित्सा का उद्दायन राजा का उदाहरण है, जिसने मुनि का शरीर अपवित्र देखकर भी ग्लानि नहीं की । अमूढदृष्टि का रेवतीरानी का उदाहरण है, जिसको विद्याधर ने अनेक महिमा दिखाई तो भी श्रद्धान से शिथिल नहीं हुई ।

उपगूहन का जिनेन्द्रभक्त सेठ का उदाहरण है, जिसने चोर, जिसने ब्रह्मचारी का भेष बनाकर छत्र की चोरी की, उसको ब्रह्मचर्यपद की निंदा होती जानकर उसके दोष को छिपाया । स्थितिकरण का वारिषेण का उदाहरण है, जिसने पुष्पदंत ब्राह्मण को मुनिपद से शिथिल हुआ जानकर दृढ़ किया । वात्सल्य का विष्णुकुमार का उदाहरण है, जिनने अकंपन आदि मुनियों का उपसर्ग निवारण किया । प्रभावना में वज्रकुमार मुनि का उदाहरण है, जिसने विद्याधर से सहायता पाकर धर्म की प्रभावना की । ऐसे आठ अंग प्रगट होने पर सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है, जैसे शरीर में हाथ-पैर होते हैं, वैसे ही ये सम्यक्त्व के अंग हैं, ये न हों तो विकलांग होता है ॥७॥

+ इसप्रकार पहिला सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहा -

तं चेव गुणविसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुखठाणाए जं चरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥८॥

अन्वयार्थ : [तं] उन निःशंकितादि [चेव गुण] गुणों से [विसुद्धं] विशुद्ध [जिणसम्मत्तं] जिनेन्द्र भगवान् के ऊपर श्रद्धा है, वह [सु] उत्तम [मुख] मोक्ष [थाणाय] स्थान के लिए होता है [जं] जिसका [चरइ] आचरण कर प्रथम [सम्मत्तचरण] सम्यक्त्वचरण [चारित्तं] चारित्र होता है ।

छाबडा :

तच्चैव गुणविसुद्धं जिनसम्यक्त्वं सुमोक्षस्थानाय;;तत् चरति ज्ञानयुक्तं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ॥८॥

सर्वज्ञभाषित तत्त्वार्थ की श्रद्धा निःशंकित आदि गुण सहित, पच्चीस मल दोष रहित, ज्ञानवान आचरण करे उसको सम्यक्त्वाचरण चारित्र कहते हैं । वह मोक्ष की प्राप्ति के लिए होता है, क्योंकि मोक्षमार्ग में पहिले सम्यग्दर्शन कहा है, इसलिए मोक्षमार्ग में प्रधान यह ही है ॥८॥

+ सम्यक्त्वाचरण चारित्र को अंगीकार करके संयमचरण चारित्र को अंगीकार करने की प्रेरणा -

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्स जइ व सुपसिद्धा णाणी अमूढदिट्ठी अचिरे पावंति णिव्वाणं ॥९॥

अन्वयार्थ : [सम्मत्तचरणसुद्धा] सम्यक्त्वचरण से शुद्ध / निर्दोष सम्यग्दर्शन के धारक [णाणि] सम्यग्ज्ञानी और [अमूढदिट्ठी] अमूढ/विवेकपूर्ण दृष्टि युक्त है, [जइ] उन्हें [सुप्रसिद्धा] अतिशय प्रसिद्ध [संजमचरणस्स] संयमचरण से शुद्ध हो [अचिरे] अक्षय [णिब्बाणं] निर्वाण [पावंति] प्राप्त होता है ।

छाबडा :

सम्यक्त्वचरणशुद्धा: संयमचरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धाः, ज्ञानिनः अमूढदृष्टयः अचिरं प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥९॥

जो पदार्थों के यथार्थज्ञान से मूढदृष्टिरहित विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होकर सम्यक्चारित्र स्वरूप संयम का आचरण करे तो शीघ्र ही मोक्ष को पावे, संयम अंगीकार करने पर स्वरूप के साधनरूप एकाग्र धर्मध्यान के बल से सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानरूप हो श्रेणी चढ़ अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान उत्पन्न कर अघातिकर्म का नाश करके मोक्ष प्राप्त करता है, यह सम्यक्त्वचरण चारित्र का ही माहात्म्य है ॥९॥

+ सम्यक्त्वाचरण से भ्रष्ट और वे संयमाचरण सहित को मोक्ष नहीं -

**सम्मत्तचरणभट्टा संजमचरणं चरन्ति जे वि णरा
अण्णाणणाणमूढा तह वि ण पावंति णिब्बाणं ॥१०॥**

अन्वयार्थ : जो पुरुष सम्यक्त्वाचरण चारित्र से भ्रष्ट है और संयम का आचरण करते हैं तो भी वे अज्ञान से मूढदृष्टि होते हुए निर्वाण को नहीं पाते हैं ।

छाबडा :

सम्यक्त्वचरणभ्रष्टा: संयमचरणं चरन्ति येऽपि नराः, अज्ञानज्ञानमूढा: तथाऽपि न प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥१०॥

सम्यक्त्वाचरण चारित्र के बिना संयमचरण चारित्र निर्वाण का कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान के बिना तो ज्ञान मिथ्या कहलाता है सो इसप्रकार सम्यक्त्व के बिना चारित्र के भी मिथ्यापना आता है ॥१०॥

+ सम्यक्त्वाचरण चारित्र के चिह्न -

**वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए
मग्गगुणसंसणाए अवगूहण रक्खणाए य ॥११॥
एएहिं लक्खणेहिं य लक्खिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं
जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण ॥१२॥**

अन्वयार्थ : [अमोह] मोह रहित अथवा अमोघ (सफल जन्म का धारक) मनुष्य [वच्छलं] वात्सल्य, [विणएण] विनय, अनुकम्पा, [सुदाण] उत्तम दान देने में [दच्छाए] इच्छुक मोक्ष [मग्गगुण] मार्ग के गुणों में [संसणाए] संशय नहीं करने वाला / उनकी प्रशंसा करने वाला, [अवगूहण] उपगूहन, [य] और [रक्खणाए] स्थितिकरण, [अज्जवेहिं] अकुटिल [भावेहिं] परिणामी भावी, [एएहिं] इन-इन [लक्खणेहिं] लक्षणों [य] और [लक्खिज्जइ] लक्षणों से युक्त [जीवो] मनुष्य [जिणसम्मत्तं] जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादित सम्यक्त्व का [आराहंतो] आराधक है ।

छाबडा :

वात्सल्यं विनयेन च अनुकम्पया सुदान दक्षया, मार्गगुणशंसनया उपगूहनं रक्षणेन च ॥११॥, एतैः लक्षणैः च लक्ष्यते आर्जवैः भावैः, जीवः आराधयन् जिनसम्यक्त्वं अमोहेन ॥१२॥

सम्यक्त्वभाव मिथ्यात्व कर्म के अभाव से जीवों का निजभाव प्रगट होता है सो वह भाव तो सूक्ष्म है, छद्मस्थ के ज्ञानगोचर नहीं है और उसके बाह्य चिह्न सम्यग्दृष्टि के प्रगट होते हैं, उनसे सम्यक्त्व हुआ जाना जाता है। जो वात्सल्य आदि भाव कहे वे आपके तो अपने अनुभवगोचर होते हैं और अन्य के उसकी वचन काय की क्रिया से जाने जाते हैं, उनकी परीक्षा जैसे अपने क्रियाविशेष से होती है, वैसे अन्य की भी क्रियाविशेष से परीक्षा होती है, इसप्रकार व्यवहार है, यदि ऐसा न हो तो सम्यक्त्व व्यवहार मार्ग का लोप हो इसलिए व्यवहारी प्राणी को व्यवहार का ही आश्रय कहा है, परमार्थ को सर्वज्ञ जानता है ॥११-१२॥

+ सम्यक्त्व कैसे छूटता है? -

उच्छाहभावणासंपसंसेवा कुदंसणे सद्धा अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि जिणसम्मं ॥१३॥

अन्वयार्थ : जो [उच्छाह] उत्साह / रूचि [भावणा] भावना पूर्वक [कुदंसणे] मिथ्यामत की [सद्धा] श्रद्धा [सं] उसकी [पसंसा] प्रशंसा, और [अण्णाण] अज्ञानी जीवों के समान [मोह] मोध / मोह [मग्गे] मार्ग में श्रद्धान रखता है वह [जिणसम्मं] जिनसम्यक्त्व को [जहदि] छोड़ [कुव्वंतो] देता है।

छाबडा :

उत्साहभावना शम्प्रशंसासेवा कुदर्शने श्रद्धाः; अज्ञानमोहमार्गे कुर्वन् जहाति जिनसम्यक्त्वम् ॥१३॥

अनादिकाल से मिथ्यात्वकर्म के उदय से (उदयवश) यह जीव संसार में भ्रमण करता है सो कोई भाग्य के उदय से जिनमार्ग की श्रद्धा हुई हो और मिथ्यामत के प्रसंग से मिथ्यामत में कुछ कारण से उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा, श्रद्धा उत्पन्न हो तो सम्यक्त्व का अभाव हो जाय, क्योंकि जिनमत के सिवाय अन्य मतों में छद्मस्थ अज्ञानियों द्वारा प्ररूपित मिथ्या पदार्थ तथा मिथ्या प्रवृत्तिरूप मार्ग है, उसकी श्रद्धा आवे तब जिनमत की श्रद्धा जाती रहे, इसलिए मिथ्यादृष्टियों का संसर्ग ही नहीं करना, इसप्रकार भावार्थ जानना ॥१३॥

+ सम्यक्त्व से च्युत कब नहीं होता है? -

उच्छाहभावणासंपसंसेवा सुदंसणे सद्धा ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण ॥१४॥

अन्वयार्थ : जो [णाणमग्गेण] ज्ञान मार्ग अर्थात् सम्यग्ज्ञान द्वारा [सु दंसणे] सम्यग्दृष्टियों गुरुओं की [उच्छाह] उत्साह/रूचि पूर्वक [भावणा] भावना रखता है, [सं] उनकी, [पसंसा] प्रशंसा, सेवा और [सद्धा] श्रद्धान करता है वह [जिणसम्मत्तं] जिनसम्यक्त्व को नहीं [कुव्वंतो] छोड़ता।

छाबडा :

उत्साहभावना शम्प्रशंससेवाः सुदर्शने श्रद्धाः; न जहाति जिनसम्यक्त्वं कुर्वन् ज्ञानमार्गेण ॥१४॥

जिनमत में उत्साह, भावना, प्रशंसा, सेवा, श्रद्धा जिसके हो वह सम्यक्त्व से च्युत नहीं होता है ॥१४॥

+ अज्ञान मिथ्यात्व कुचारित्र के त्याग का उपदेश -

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जह णाणे विसुद्धसम्मत्ते अह मोहं सारंभं परिहर धम्मे अहिंसाए ॥१५॥

अन्वयार्थ : [णाणे] सम्यग्ज्ञान, होने पर [अण्णाणं] अज्ञान को और [विसुद्ध सम्मत्ते] विशुद्ध सम्यग्दर्शन होने पर [मिच्छत्तं] मिथ्यात्व को [वज्जहि] छोड़ो [अह] और [अहिंसाए] अहिंसामयी [धम्मे] धर्म होने पर [सारम्भं] आरम्भ सहित

[मोहं] मोह को [परिहर] छोड़ो ।

छाबडा :

अज्ञानं मिथ्यात्वं वर्ज्यं ज्ञाने विशुद्धसम्यक्त्वे;;अथ मोहं सारम्भं परिहर धर्मे अहिंसायाम् ॥१५॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति होने पर फिर मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र में मत प्रवर्तो, इसप्रकार उपदेश है ॥१५॥

+ फिर उपदेश करते हैं -

**पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे
होइ सुविसुद्धज्ञाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते ॥१६॥**

अन्वयार्थ : [संगचाए] वस्त्रादि [पव्वज्ज] परिग्रहों का त्याग कर दीक्षा लेकर [सुसंजमे] उत्तम संयम [भावे] भाव से [सुतवे] उत्कृष्ट तप मे [पयट्ट] प्रवृत्त हो । [णिम्मोहे] निर्मोही को ही [वीयरायत्ते] वीतरागी होने पर [सुविसुद्धज्ञाणं] उत्तम विशुद्धध्यान [होइ] होता है ।

छाबडा :

प्रव्रज्यायां सङ्गत्यागे प्रवर्त्तस्व सुतपसि सुसंयमेभावे;;भवति सुविशुद्धध्यानं निर्मोहे वीतरागत्वे ॥१६॥

निर्ग्रन्थ हो दीक्षा लेकर संयमभाव से भले प्रकार तप में प्रवर्तन करे, तब संसार का मोह दूर होकर वीतरागपना हो, फिर निर्मल धर्मध्यान शुक्लध्यान होते हैं, इसप्रकार ध्यान से केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए इसप्रकार उपदेश है ॥१६॥

+ यह जीव अज्ञान और मिथ्यात्व के दोष से मिथ्यामार्ग में प्रवर्तन करता है -

**मिच्छादंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं
वज्झंति मूढजीवा मिच्छत्तबुद्धिउदएण ॥१७॥**

अन्वयार्थ : [अण्णाण] अज्ञान और [मोह] मोह [दोसेहिं] दोष से [मलिणे] मलिन [मिच्छत्ता] मिथ्यात्व [बुद्धिउदएण] बुद्धि के उदय में [मिच्छादंसणमग्गे] मिथ्यामार्ग पर चलने वाले [मूढजीवा] मूर्ख जीव [वज्झंति] बंधते (पाप कर्म से) हैं ।

छाबडा :

मिथ्यादर्शनमार्गे मलिने अज्ञानमोहदोषैः;;बध्यन्ते मूढजीवाः मिथ्यात्वाबुद्ध्युदयेन ॥१७॥

ये मूढजीव मिथ्यात्व और अज्ञान के उदय से मिथ्यामार्ग में प्रवर्तते हैं, इसलिए मिथ्यात्व अज्ञान का नाश करना यह उपदेश है ॥१७॥

+ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-श्रद्धान से चारित्र के दोष दूर होते हैं -

**सम्मदंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जया
सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चरित्तजे दोसे ॥१८॥**

अन्वयार्थ : [सम्मदंसण] सम्यग्दृष्टि दर्शन [णाणेण] ज्ञान से [दव्व पज्जाया] द्रव्यों और उनकी पर्याय को भली प्रकार [पस्सदि] देखता [जाणदि] जानता है [य] और [सम्मेण] सम्यक्त्व-गुण से उनका [सद्दहदि] श्रद्धान करता है [य] और

[चरित्तजे] चारित्र सम्बन्धी [दोसे] दोषों को [परिहरदि] दूर करता है ।

छाबडा :

सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान्; सम्यक्त्वेन च श्रद्धधाति च परिहरति चारित्रजान् दोषान् ॥१८॥

वस्तु का स्वरूप द्रव्य पर्यायात्मक सत्त स्वरूप है सो जैसा है वैसा देखे-जाने श्रद्धान करे तब आचरण शुद्ध करे सो सर्वज्ञ के आगम से वस्तु का निश्चय करके आचरण करना । वस्तु है वह द्रव्यपर्याय स्वरूप है । द्रव्य का सत्तलक्षण है तथा गुणपर्यायवान् को द्रव्य कहते हैं । पर्याय दो प्रकार की हैं, सहवर्ती और क्रमवर्ती । सहवर्ती को गुण कहते हैं और क्रमवर्ती को पर्याय कहते हैं । द्रव्य सामान्यरूप से एक है तो भी विशेषरूप से छह हैं, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ।

जीव के दर्शन-ज्ञानमयी चेतना तो गुण है और अचक्षु आदि दर्शन, मति आदिक ज्ञान तथा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि व नर, नारकादि विभाव पर्याय है, स्वभावपर्याय अगुरुलघु गुण के द्वारा हानि-वृद्धि का परिणमन है । पुद्गलद्रव्य के स्पर्श, रस, गंध, वर्णरूप मूर्तिकपना तो गुण है और स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण का भेदरूप परिणमन तथा अणु से स्कन्धरूप होना तथा शब्द, बन्ध आदिरूप होना इत्यादि पर्याय है । धर्म, अधर्म द्रव्य के गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्वपना तो गुण है और इस गुण के जीव-पुद्गल के गति-स्थिति के भेदों से भेद होते हैं वे पर्याय हैं तथा अगुरुलघु गुण के द्वारा हानि-वृद्धि का परिणमन होता है जो स्वभाव पर्याय है ।

आकाश का अवगाहना गुण है और जीव-पुद्गल आदि के निमित्त से प्रदेशभेद कल्पना किये जाते हैं वे पर्याय हैं तथा हानि-वृद्धि का परिणमन वह स्वभाव पर्याय है । कालद्रव्य का वर्तना तो गुण है और जीव और पुद्गल के निमित्त से समय आदि कल्पना सो पर्याय है, इसको व्यवहार काल भी कहते हैं तथा हानि-वृद्धि का परिणमन वह स्वभावपर्याय है इत्यादि । इनका स्वरूप जिन आगम से जानकर देखना, जानना, श्रद्धान करना, इससे चारित्र शुद्ध होता है । बिना ज्ञान, श्रद्धान के आचरण शुद्ध नहीं होता है, इसप्रकार जानना ॥१८॥

+ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से शीघ्र मोक्ष -

**एए तिण्णि वि भावा हवन्ति जीवस्स मोहरहियस्स
णियगुणमाराहन्तो अचिरेण य कम्म परिहरइ ॥१९॥**

अन्वयार्थ : [एए तिण्णि वि] ये तीनों ही [भावा] भाव (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) [मोहरहियस्स] मोह रहित [जीवस्स] जीव के [हवन्ति] होते हैं । [णिय] निज [गुणमाराहन्तो] गुणों की आराधना करने वाला [अचिरेण वि] अल्प काल में ही [कम्म] कर्मों का [परिहरइ] क्षय कर लेता है ।

छाबडा :

एते त्रयोऽपि भावाः भवन्ति जीवस्य मोहरहितस्य; निजगुणमाराधयन् अचिरेण च कर्म परिहरति ॥१९॥

निजगुण के ध्यान से शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष पाता है ॥१९॥

+ सम्यक्त्वाचरण चारित्र के कथन का संकोच करते हैं -

**संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरुमत्तं
सम्मत्तमणुचरन्ता करन्ति दुक्खक्खयं धीरा ॥२०॥**

अन्वयार्थ : [सम्मत्तम] सम्यक्त्व का पालन करने वाले [च] और [अणु चरन्ता] चारित्र का पालन करने वाले [संखिज्जम] संख्यात गुणी [असंखिज्जगुणं] असंख्यात गुणी कर्मों की निर्जरा [करन्ति] करते हुए [धीरा] धैर्यपूर्वक [दुक्खक्खयं] दुखों का क्षय करते हैं । संसारी जीवों से यह निर्जरा [मेरु] मेरु के [मित्ता] बराबर है ।

छाबडा :

सङ्ख्येयामसङ्ख्येयगुणां संसारिमेरुमात्रा णं; सम्यक्त्वमनुचरन्तः कुर्वन्ति दुःखक्षयं धीराः ॥२०॥

इस सम्यक्त्व का आचरण होने पर प्रथम काल में तो गुणश्रेणी निर्जरा होती है, वह असंख्यात के गुणाकाररूप है। पीछे जबतक संयम का आचरण नहीं होता है, तबतक गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती है। वहाँ संख्यात के गुणाकाररूप होती है इसलिए संख्यातगुण और असंख्यातगुण इसप्रकार दोनों वचन कहे। कर्म तो संसार अवस्था है, जबतक है उसमें दुःख का कारण मोहकर्म है, उसमें मिथ्यात्व कर्म प्रधान है। सम्यक्त्व के होने पर मिथ्यात्व का तो अभाव ही हुआ और चारित्रमोह दुःख का कारण है, सो यह भी जबतक है तबतक उसकी निर्जरा करता है, इसप्रकार अनुक्रम से दुःख का क्षय होता है। संयमाचरण के होने पर सब दुःखों का क्षय होवेगा ही। सम्यक्त्व का माहात्म्य इसप्रकार है कि सम्यक्त्वाचरण होने पर संयमाचरण भी शीघ्र ही होता है, इसलिए सम्यक्त्व को मोक्षमार्ग में प्रधान जानकर इस ही का वर्णन पहिले किया है ॥२०॥

+ संयमाचरण चारित्र -

**दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं
सायारं २सगंग्थे परिग्गहा रहिय खलु णिरायारं ॥२१॥**

अन्वयार्थ : [संजमचरणं] संयम / चारित्राचार के [दुविहं] दो भेद [सायारं] सागार [तह] और [णिरायारं] निरागार [हवे] होते हैं। सागर चारित्राचार [सगंग्थे] परिग्रह सहित (गृहस्थ) के और निरागार चारित्राचार [परिग्गहा रहिय] परिग्रह रहित (मुनि) का होता है।

छाबडा :

द्विविधं संयमचरणं सागारं तथा भवेत् निरागारं; सागारं सगन्धे परिग्रहाद्रहिते खलु निरागारम् ॥२१॥

संयमचरण चारित्र दो प्रकार का है, सागार और निरागार। सागार तो परिग्रह सहित श्रावक के होता है और निरागार परिग्रह से रहित मुनि के होता है, यह निश्चय है ॥२१॥

+ सागार संयमाचरण -

**दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य
बंभारंभापरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥२२॥**

अन्वयार्थ : [दंसण] १-दर्शन, [वय] २-व्रत, [सामाइय] ३-सामायिक, [पोसह] ४-प्रोषध, [सचित्त] ५-सचित्तत्याग, [राय भत्ते] ६-रात्रीमुक्तीत्याग, [वंभा] ७-ब्रह्मचर्य, [आरंभ] ८-आरम्भत्याग, [परिग्गह] ९-परिग्रहत्याग, [अणुमण] १०-अनुमति त्याग [य] और [उद्दिट्ठ] ११-उद्दिष्ट त्याग, [देसविरदो] देशविरत अथवा सागर चारित्राचार है।

छाबडा :

दर्शनं व्रतं सामायिकं प्रोषधं सचित्तं रात्रिभुक्तिश्च; ब्रह्म आरम्भः परिग्रहः अनुमतिः उद्दिष्ट देशविरतश्च ॥२२॥

ये सागार संयमाचरण के ग्यारह स्थान हैं, इनको प्रतिमा भी कहते हैं ॥२२॥

+ इन स्थानों में संयम का आचरण किसप्रकार से है? -

पंचेव णुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवन्ति तह तिण्णि सिक्खावय चत्तरि य संजमचरणं च सायारं ॥२३॥

अन्वयार्थ : [संजमचरणं] संयमचरण के [सायारं] सागर-चारित्र में [पंचेवणुव्वयाइं] पांच अणुव्रतादि [तह] तथा [तिण्णि] तीन [गुणव्वयाइं] गुणव्रत और [चत्तरि] चार [सिक्खावय] शिक्षाव्रत [हवन्ति] होते हैं ।

छाबडा :

पञ्चैव अणुव्रतानि गुणव्रतानि भवन्ति तथा त्रीणि; शिक्षाव्रतानि चत्वारि संयमचरणं च सागारम् ॥२३॥

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत - इसप्रकार बारह प्रकार का संयमचरण चारित्र है, जो सागार है, ग्रन्थसहित श्रावक के होता है इसलिए सागार कहा है ।

प्रश्न – ये बारह प्रकार तो व्रत के कहे और पहिले गाथा में ग्यारह नाम कहे, उनमें प्रथम दर्शन नाम कहा उसमें ये व्रत कैसे होते हैं ?

समाधान – अणुव्रत ऐसा नाम किंचित् व्रत का है, वह पाँच अणुव्रतों में से किंचित् यहाँ भी होते हैं, इसलिए दर्शन प्रतिमा का धारक भी अणुव्रती ही है, इसका नाम दर्शन ही कहा । यहाँ इसप्रकार जानना कि इसके केवल सम्यक्त्व ही होता है और अव्रती है, अणुव्रत नहीं है इसके अणुव्रत अतिचार सहित होते हैं इसलिए व्रती नाम नहीं कहा । दूसरी प्रतिमा में अणुव्रत अतिचार रहित पालता है इसलिए व्रत नाम कहा है, यहाँ सम्यक्त्व के अतिचार टालता है, सम्यक्त्व ही प्रधान है, इसलिए दर्शनप्रतिमा नाम है ।

अन्य ग्रन्थों में इसका स्वरूप इसप्रकार कहा है कि जो आठ मूलगुण का पालन करे, सात व्यसन को त्यागे, जिसके सम्यक्त्व अतिचार रहित शुद्ध हो वह दर्शन प्रतिमा का धारक है । पाँच उदम्बरफल और मद्य, मांस, मधु इन आठों का त्याग करना, वह आठ मूलगुण हैं ।

अथवा किसी ग्रन्थ में इसप्रकार कहा है कि पाँच अणुव्रत पाले और मद्य, मांस, मधु का त्याग करे वह आठ मूलगुण हैं, परन्तु इसमें विरोध नहीं है, विवक्षा का भेद है । पाँच उदुम्बर फल और तीन मकार का त्याग कहने से जिन वस्तुओं में साक्षात् त्रस जीव दिखते हों उन सब ही वस्तुओं का भक्षण नहीं करे । देवादिक के निमित्त तथा औषधादि निमित्त इत्यादि कारणों से दिखते हुए त्रसजीवों का घात न करे, ऐसा आशय है जो इसमें तो अहिंसाणुव्रत आया । सात व्यसनों के त्याग में झूठ, चोरी और परस्त्री का त्याग आया, अन्य व्यसनों के त्याग में अन्याय, परधन, परस्त्री का ग्रहण नहीं है; इसमें अतिलोभ के त्याग से परिग्रह का घटाना आया, इसप्रकार पाँच अणुव्रत आते हैं ।

इनके (व्रतादि प्रतिमा के) अतिचार नहीं टलते हैं इसलिए अणुव्रती नाम प्राप्त नहीं करता (फिर भी) इसप्रकार से दर्शन प्रतिमा का धारक भी अणुव्रती है, इसलिए देशविरत सागारसंयमचरण चारित्र में इसको भी गिना है ॥२३॥

+ पाँच अणुव्रतों का स्वरूप -

थूले तसकायवहे थूले मोषे अदत्तथूले य परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं ॥२४॥

अन्वयार्थ : पांच अणुव्रत -- [थूलेतसकाय] स्थूल-त्रस काय जीवों का [वहे] वध, स्थूल [मोसे] असत्य कथन, [तितित्थथूले] स्थूल चौर्य [य] और [परपिम्मे] पर स्त्री का [परिहारो] त्याग तथा [परिग्गहारंभ] परिग्रह और आरम्भ का [परिमाणं] परिमाण है ।

छाबडा :

स्थूले त्रसकायवधे स्थूलायां मृषायां अदत्तस्थूले च; परिहारः परमहिलायां परिग्रहारम्भपरिमाणम् ॥२४॥

यहाँ थूल कहने का ऐसा अर्थ जानना कि जिसमें अपना मरण हो, पर का मरण हो, अपना घर बिगड़े, पर का घर बिगड़े, राजा के दण्ड योग्य हो, पंचों के दण्ड योग्य हो इसप्रकार मोटे अन्यायरूप पापकार्य जानने । इसप्रकार स्थूल पाप राजादिक के भय से न करे वह व्रत नहीं है, इनको तीव्र कषाय के निमित्त से तीव्रकर्मबंध के निमित्त जानकर स्वयमेव न करने के भावरूप त्याग हो वह व्रत है । इसके ग्यारह स्थानक कहे, इनमें ऊपर-ऊपर त्याग बढ़ता जाता है सो इसकी उत्कृष्टता तक ऐसा है कि जिन कार्यों में त्रस जीवों को बाधा हो इसप्रकार के सब ही कार्य छूट जाते हैं इसलिए सामान्य ऐसा नाम कहा है कि त्रसहिंसा का त्यागी देशव्रती होता है । इसका विशेष कथन अन्य ग्रन्थों से जानना ॥२४॥

+ तीन गुणव्रत -

दिसिविदि सिमाण पढमं अणत्थदंडस्स वज्जणं बिदियं भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥२५॥

अन्वयार्थ : [दिसिविदिसि] दिशाओं (उत्तर / दक्षिण / पूर्व / पश्चिम) तथा विदिशाओं (ऐशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, उर्ध्व और अधो) में गमन का [माण] परिमाण (सीमा निर्धारित) करना [पढमं] प्रथम, [अणत्थदंडस्स] अनर्थदण्ड (हिंसादान, अपध्यान, दुश्रुती, पापोपदेश और प्रमादचर्या) [वज्जणं] का त्याग करना [विदियं] दूसरा, और भोग और उपभोग का [परिमा] परिमाण (सीमा निर्धारित) करना [इयमेव] इसप्रकार तीसरा गुण व्रत है ।

छाबडा :

दिग्विदिग्मानं प्रथमं अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयम्; भोगोपभोगपरिमाणं इमान्येव गुणव्रतानि त्रीणि ॥२५॥

यहाँ गुण शब्द तो उपकार का वाचक है, ये अणुव्रतों का उपकार करते हैं । दिशा विदिशा अर्थात् पूर्व दिशादिक में गमन करने की मर्यादा करे । अनर्थदण्ड अर्थात् जिन कार्यों में अपना प्रयोजन न सधे इसप्रकार पापकार्यों को न करे ।

प्रश्न – प्रयोजन के बिना तो कोई भी जीव कार्य नहीं करता है, कुछ प्रयोजन विचार करके ही करता है फिर अनर्थदण्ड क्या ?

इसका समाधान – सम्यग्दृष्टि श्रावक होता है वह प्रयोजन अपने पद के योग्य विचारता है, पद के सिवाय सब अनर्थ है । पापी पुरुषों के तो सब ही पाप प्रयोजन है, उसकी क्या कथा ? भोग कहने से भोजनादिक और उपभोग कहने से स्त्री, वस्त्र, आभूषण, वाहनादिक का परिमाण करे - इसप्रकार जानना ॥२५॥

+ चार शिक्षाव्रत -

सामाइयं च पढमं बिदियं च तहेव पोसहं भणियं तइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेहणा अंते ॥२६॥

अन्वयार्थ : [सामाइयं] सामायिकी प्रथम, [च] और [पोसहं] प्रोषधोपवास [विदीयं] दूसरा, [अतिहिपुज्जं] अतिथि-पूज्य (मुनियों को नवधा भक्ति से आहारादि देना) [तइयं] तीसरा और [सल्लेहणा] सल्लेखना - [अंते] अंत में मृत्यु के समय (शरीर को कषायों को कृष करते हुए त्यागना) [चउत्थ] चौथा शिक्षाव्रत [भणियं] कहा है ।

छाबडा :

सामाइकं च प्रथमं द्वितीयं च तथैव प्रोषधः भणितः; तृतीयं च अतिथिपूजा चतुर्थं सल्लेखना अन्ते ॥२६॥

यहाँ शिक्षा शब्द से ऐसा अर्थ सूचित होता है कि आगामी मुनिव्रत की शिक्षा इनमें है, जब मुनि होगा तब इसप्रकार रहना होगा । सामायिक कहने से तो रागद्वेष का त्याग कर, सब गृहारंभसंबंधी क्रिया से निवृत्ति कर एकांत स्थान में बैठकर प्रभात, मध्याह्न, अपराह्न कुछ काल की मर्यादा करके अपने स्वरूप का चिंतवन तथा पंचपरमेष्ठी की भक्ति का पाठ पढ़ना, उनकी वंदना करना इत्यादि विधान करना सामायिक है । इसप्रकार ही प्रोषध अर्थात् अष्टमी और चौदस के पर्वों में प्रतिज्ञा लेकर धर्म कार्यों में प्रवर्तना प्रोषध है । अतिथि अर्थात् मुनियों की पूजा करना, उनको आहारदान देना अतिथिपूजन है ।

अंत समय में काय और कषाय को कृश करना समाधिमरण करना अन्तःसल्लेखना है, इसप्रकार चार शिक्षाव्रत है ।

यहाँ प्रश्न – तत्त्वार्थसूत्र में तीन गुणव्रतों में देशव्रत कहा और भोगोपभोगपरिमाण को शिक्षाव्रत में कहा तथा सल्लेखना को भिन्न कहा, वह कैसे ? इसका समाधान – यह विवक्षा का भेद है, यहाँ देशव्रत दिग्गत में गर्भित है और सल्लेखना को शिक्षाव्रतों में कहा है, कुछ विरोध नहीं है ॥२६॥

+ यतिधर्म -

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्चे ॥२७॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [सावयधम्मं] श्रावक धर्म [सयलं] सकल (परिग्रह सहित) [संजमचरणं] संयमचरण चरित्रासार [उदेसियं] उपदेशित है, अब [सुद्धं] शुद्ध [णिक्कलं] निकल (परिग्रह रहित) [जइधम्मं] मुनिधर्म चारित्रासार [वोच्चे] कहूंगा ।

छाबडा :

एवं श्रावकधर्म संयमचरणं उपदेशितं सकलम्; शुद्धं संयमचरणं यतिधर्म निष्कलं वक्ष्ये ॥२७॥

एवं अर्थात् इसप्रकार से श्रावकधर्मस्वरूप संयमचरण तो कहा, यह कैसा है ? सकल अर्थात् कला सहित है, (यहाँ) एकदेश को कला कहते हैं । अब यतिधर्म के धर्मस्वरूप संयमचरण को कहूँगा, ऐसी आचार्य ने प्रतिज्ञा की है । यतिधर्म कैसा है ? शुद्ध है, निर्दोष है जिसमें पापाचरण का लेश नहीं है, निकल अर्थात् कला से निःक्रांत है, सम्पूर्ण है, श्रावकधर्म की तरह एकदेश नहीं है ॥२७॥

+ यतिधर्म की सामग्री -

पंचेन्द्रियसंवरणं पंच वया पंचविंसकिरियासु पंच समिदि तय गुत्ती संजमचरणं णिरायारं ॥२८॥

अन्वयार्थ : [पंचेन्द्रियसंवरणं] पाँच इन्द्रियों का संवर, [पंच वया] पाँच व्रत - ये [पंचविंसकिरियासु] पच्चीस क्रिया के सद्भाव होने पर होते हैं, [पंच समिदि] पाँच समिति और [तय गुत्ती] तीन गुप्ति ऐसे [णिरायारं] निरागार [संजमचरणं] संयमचरण चारित्र होता है ॥२८॥

छाबडा :

पञ्चेन्द्रियसंवरणं पञ्च व्रताः पञ्चविंशतिक्रियासु; पञ्च समितयः तिस्रः गुप्तयः संयमचरणं निरागारम् ॥२८॥

पाँच इन्द्रियों का संवर, पाँच व्रत - ये पच्चीस क्रिया के सद्भाव होने पर होते हैं, पाँच समिति और तीन गुप्ति ऐसे निरागार संयमचरण चारित्र होता है ॥२८॥

+ पाँच इन्द्रियों के संवरण का स्वरूप -

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य ण करेदि रायदोसे पंचेन्द्रियसंवरो भणिओ ॥२९॥

अन्वयार्थ : [मणुण्णे] मनोज्ञ (इष्ट) [य] और [अमणुण्णे] अमनोज्ञ (अनिष्ट) [सजीवदव्वे] चेतन द्रव्यों [य] तथा [अजीवदव्वे] अचेतन द्रव्यों में [रायदोसे] रागद्वेष [ण करेइ] नहीं करना [पंचेन्द्रियसंवरो] पंचेन्द्रिय संवर (इष्ट विषयों में राग और अनिष्ट में द्वेष नहीं रहना पंचेन्द्रिय संवर/दमन) [भणिओ] कहा है ।

छाबडा :

अमनोज्ञे च मनोज्ञे सजीवद्रव्ये अजीवद्रव्ये च;;न करोति रागद्वेषौ पञ्चेन्द्रियसंवरः भणितः ॥२९॥

इन्द्रियगोचर जीव अजीव द्रव्य है, ये इन्द्रियों के ग्रहण में आते हैं, इनमें यह प्राणी किसी को इष्ट मानकर राग करता है और किसी को अनिष्ट मानकर द्वेष करता है, इसप्रकार रागद्वेष मुनि नहीं करते हैं, उनके संयमचरण चारित्र होता है ॥२९॥

**हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य
तुरियं अबंभविरई पंचम संगमि विरई य ॥३०॥**

अन्वयार्थ : [हिंसाविरई] हिंसाविरति अर्थात् अहिंसा, [असच्चविरई] असत्यविरति, [अदत्तविरई] अदत्त विरति, [तुरियं] चौथा [अबंभविरई] अब्रह्म विरति [य] और [पंचम] पाँचवां [संगमिविरई] संगविरति व्रत है ।

छाबडा :

हिंसाविरतिरहिंसा असत्यविरतिः अदत्तविरतिश्च;;तुर्यं अब्रह्मविरतिः पञ्चमं सङ्गे विरतिः च ॥३०॥

इन पाँच पापों का सर्वथा त्याग जिनमें होता है, वे पाँच महाव्रत कहलाते हैं ।

+ इनको महाव्रत क्यों कहते हैं? -

**साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुव्वेहिं
जं च महल्लाणि तदो महव्वया इत्तहे याइं ॥३१॥**

अन्वयार्थ : [जं] क्योंकि [महल्ला] महापुरुष इन्हें [साहंति] साधते हैं, [महल्लपुव्वेहिं] पूर्ववर्ती महापुरुषों ने इनका [आयरियं] आचरण किया है, [च] और [जं] क्योंकि [महल्लाणि] स्वयं से महान है, [तदो] इसलिए [ताइं] उन्हें [महल्लया] महाव्रत [इत्तहे] कहते हैं ।

छाबडा :

साधयन्ति यन्महान्तः आचरितं यत् महत्पूर्वैः;;यच्च महन्ति ततः महाव्रतानि एतस्माद्धेतोः तानि ॥३१॥

जिनका बड़े पुरुष आचरण करें और आप निर्दोष हो वे ही बड़े कहलाते हैं, इसप्रकार इन पाँच व्रतों को महाव्रत संज्ञा है ॥ ३१॥

+ अहिंसाव्रत की पाँच भावना -

**वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी सुदाणणिकखेवो
अवलोयभोयणाए अहिंसाए भावणा होंति ॥३२॥**

अन्वयार्थ : [वचनगुत्ती] वचनगुप्ति, [मणगुत्ती] मन गुप्ति, [इरियासमीदी] ईर्यासमिति, [सुदाणणिकखेवो] सुदान/आदान निक्षेपण समिति और [अवलोएभोयणाए] आलोकित पान, [अहिंसाए भावणा] अहिंसाव्रत की ५ भावनायें [होंति] हैं ।

छाबडा :

वचोगुप्तिः मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः सुदाननिक्षेपः; अवलोक्य भोजनेन अहिंसाया भावना भवन्ति ॥३२॥

बारबार उस ही के अभ्यास करने का नाम भावना है सो यहाँ प्रवृत्ति निवृत्ति में हिंसा लगती है, उसका निरन्तर यत्न रखे तब अहिंसाव्रत का पालन हो, इसलिए यहाँ योगों की निवृत्ति करनी तो भलेप्रकार गुप्तिरूप करनी और प्रवृत्ति करनी तो समितिरूप करनी, ऐसे निरन्तर अभ्यास से अहिंसा महाव्रत दृढ़ रहता है, इसी आशय से इनको भावना कहते हैं ॥३२॥

+ सत्य महाव्रत की भावना -

कोहभयहासलोहा मोहा विवरीयभावणा चेव विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति ॥३३॥

अन्वयार्थ : [कोह] क्रोध, [भय] भय, [हास] हास्य, [लोहा] लोभ और [मोहा] मोह के [विवरीयभावणा] विपरीत भावना (क्षमा, अभय, अहास्य अलोभ, अमोह) [चेव] और भी, [ए] ये [विदियस्सभावणाए] दूसरे (सत्य महाव्रत) की पांच भावनायें [होंति] होती हैं ।

छाबडा :

क्रोधभयहास्यलोभमोहा विपरीतभावनाः च एव; द्वितीयस्य भावना इमा पञ्चैव च तथा भवन्ति ॥३३॥

असत्य वचन की प्रवृत्ति क्रोध से, भय से, हास्य से, लोभ से और परद्रव्य के मोहरूप मिथ्यात्व से होती है, इनका त्याग हो जाने पर सत्य महाव्रत दृढ़ रहता है ।

तत्त्वार्थसूत्र में पाँचवीं भावना अनुवीचीभाषण कही है सो इसका अर्थ यह है कि जिनसूत्र के अनुसार वचन बोले और यहाँ मोह का अभाव कहा, वह मिथ्यात्व के निमित्त से सूत्रविरुद्ध बोलता है, मिथ्यात्व का अभाव होने पर सूत्रविरुद्ध नहीं बोलता है, अनुवीचीभाषण का भी यही अर्थ हुआ इसमें अर्थभेद नहीं है ॥३३॥

+ अचौर्य महाव्रत की भावना -

सुण्णायारणिवासो विमोचियावास जं परोधं च एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मीसंविसंवादो ॥३४॥

अन्वयार्थ : [सुण्णायारणिवासो] शून्यागारनिवास, [विमोचितवास] विमोचितवास, [परोधं] परोपरोधाकरण, [एसणसुद्धिस] एषण शुद्धि [उत्तं] सहित और [साहम्मीसंविसंवादो] सधर्मा-अविसंवाद, ये पांच अचौर्य महा व्रत की भावनायें हैं ।

छाबडा :

शून्यागारनिवासः विमोचितावासः यत् परोधं च; एषणाशुद्धिसहितं साधर्मिसमविसंवादः ॥३४॥

मुनियों की वस्तिका में रहना और आहार लेना ये दो प्रवृत्तियाँ अवश्य होती हैं । लोक में इन्हीं के निमित्त अदत्त का आदान होता है । मुनियों को ऐसे स्थान पर रहना चाहिए, जहाँ अदत्त का दोष न लगे और आहार भी इसप्रकार लें, जिसमें अदत्त का दोष न लगे तथा दोनों की प्रवृत्ति में साधर्मी आदिक से विसंवाद न उत्पन्न हो । इसप्रकार ये पाँच भावना कही हैं, इनके होने से अचौर्य महाव्रत दृढ़ रहता है ॥३४॥

+ ब्रह्मचर्य महाव्रत की भावना -

महिलालोयणपुव्वरइसरणसंसत्तवसहिविकहाहिं पुट्टियरसेहिं विरओ भावण पंचावि तुरियम्मि ॥३५॥

अन्वयार्थ : [महिलाअलोयण] राग सहित स्त्रियों को देखना, [पुव्वरइसरण] पूर्व में भोगे भोगों का स्मरण, [ससत्तवसहि] स्त्रियों से संसक्त वसतिका में रहना, [विकहाहि] स्त्रियों की कथा और [पुट्टियरसेहिं] पौष्टिक रसों का सेवन से [वीरओ] विरति ब्रह्मचर्यव्रत की [पंचावि] पांच [भावण] भावनायें हैं ।

छाबडा :

महिलालोकनपूर्वरतिस्मरणसंसक्तवसतिविकथाभिः,;पौष्टिकरसैः विरतः भावनाः पञ्चापि तुर्ये ॥३५॥

कामविकार के निमित्तों से ब्रह्मचर्यव्रत भंग होता है, इसलिए स्त्रियों को रागभाव से देखना इत्यादि निमित्त कहे, इनसे विरक्त रहना, प्रसंग नहीं करना, इससे ब्रह्मचर्य महाव्रत दृढ़ रहता है ॥३५॥

+ पाँच अपरिग्रह महाव्रत की भावना -

अपरिग्गह समणुण्णेषु सदपरिसरसरूवगंधेषु रायदोसाईणं परिहारो भावणा होंति ॥३६॥

अन्वयार्थ : [समणुण्णेषु] मनोज्ञ और अमनोज्ञ भेद युक्त; [सदपरिसरसरूवगंधेषु] शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध, इन पंचेन्द्रिय विषयों में [रायदोसाईणं] राग द्वेष [परिहारो] त्यागना, [अपरिग्रह] अपरिग्रह व्रत की पांच [भावणा] भावनायें [होंति] होती हैं ।

छाबडा :

अपरिग्रहे समनोज्ञेषु शब्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु,;रागद्वेषादीनां परिहारो भावनाः भवन्ति ॥३६॥

पाँच इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द ये हैं, इनमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धिरूप राग-द्वेष नहीं करे, तब अपरिग्रहव्रत दृढ़ रहता है, इसीलिए ये पाँच भावना अपरिग्रह महाव्रत की कही गई हैं ॥३६॥

+ पाँच समिति -

इरिया भासा एसण जा सा आदाण चेव णिक्खेवो संजमसोहिणिमित्तं खंति जिणा पंच समिदीओ ॥३७॥

अन्वयार्थ : [जिणा] जिनेन्द्र भगवान् ने [संजम] संयम की [सोही] शुद्धि के [णिमित्ते] निमित्त पांच [समिदओ] समितियां; [इरिया] ईर्या, [भासा] भाषा, [एसण] एषणा, [आदाण चेव णिक्खेवो] आदान और निक्षेप [खंति] कही है ।

छाबडा :

ईर्या भाषा एषणा या सा आदानं चैव निक्षेपः,;संयमशोधिनिमित्तं ख्यान्ति जिनाः पञ्च समितीः ॥३७॥

मुनि पंचमहाव्रतस्वरूप संयम का साधन करते हैं, उस संयम की शुद्धता के लिए पाँच समितिरूप प्रवर्तते हैं इसी से इसका नाम सार्थक है - 'सं' अर्थात् सम्यक्प्रकार 'इति' अर्थात् प्रवृत्ति जिसमें हो सो समिति है । चलते समय जूड़ा प्रमाण (चार हाथ) पृथ्वी देखता हुआ चलता है, बोले तब हितमितरूप वचन बोलता है, आहार लेवे तो छियालीस दोष, बत्तीस अंतराय टालकर, चौदह मल दोष रहित शुद्ध आहार लेता है, धर्मोपकरणों को उठाकर ग्रहण करे सो यत्नपूर्वक लेते हैं, ऐसे ही कुछ

क्षेपण करे तब यत्नपूर्वक क्षेपण करते हैं, इसप्रकार निष्प्रमाद वर्ते तब संयम का शुद्ध पालन होता है, इसलिए पंचसमितिरूप प्रवृत्ति कही है। इसप्रकार संयमचरण चारित्र की शुद्ध प्रवृत्ति का वर्णन किया ॥३७॥

+ ज्ञान का स्वरूप -

भवजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि ॥३८॥

अन्वयार्थ : [भवजण] भव्यजीवों को [बोहणत्थं] समझाने के लिए [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [जिणवरेहि] जिनेन्द्रदेव ने [णाणं] ज्ञान और [णाणसरूवं] ज्ञान का स्वरूप [जह भणियं] जैसा कहा है [तं] उस (ज्ञान स्वरूप) [अप्पाणं] आत्मा [वियाणेहि] को जानो।

छाबडा :

भव्यजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरैः यथा भणितं; ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं आत्मानं तं विजानीहि ॥३८॥

ज्ञान को और ज्ञान के स्वरूप को अन्य मतवाले अनेकप्रकार से कहते हैं, वैसा ज्ञान और वैसा ज्ञान का स्वरूप नहीं है। जो सर्वज्ञ वीतराग देव भाषित ज्ञान और ज्ञान का स्वरूप है वही निर्बाध सत्यार्थ है और ज्ञान है वही आत्मा है तथा आत्मा का स्वरूप है, उसको जानकर उसमें स्थिरता भाव करे, परद्रव्यों से रागद्वेष नहीं करे वही निश्चय चारित्र है इसलिए पूर्वोक्त महाव्रतादिक की प्रवृत्ति करके उस ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होना, इसप्रकार उपदेश है ॥३८॥

+ जो इसप्रकार ज्ञान से ऐसे जानता है, वह सम्यग्ज्ञानी -

जीवाजीवविभत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी रायादिदोसरहिओ जिणसासणे मोक्खमग्गोत्ति ॥३९॥

अन्वयार्थ : [जीवाजीव] जीव और अजीव के [विहत्तो] भेद को [जो जाणइ] जो [सण्णाणी] जानता है [सो] वह सम्यग्ज्ञानी [हवेइ] है, [रायादिदोस] रागादि दोषों [रहिओ] रहित है, [जिणसासणे] जिनशासन में [मोक्ख मग्गोत्ति] मोक्षमार्ग रूप कहा है।

छाबडा :

जीवाजीवविभक्तिं यः जानाति स भवेत् सज्ज्ञानः; रागादिदोषरहितः जिनशासने मोक्षमार्ग इति ॥३९॥

जो जीव-अजीव पदार्थ का स्वरूप भेदरूप जानकर स्व-पर का भेद जानता है, वह सम्यग्ज्ञानी होता है और परद्रव्यों से रागद्वेष छोड़ने से ज्ञान में स्थिरता होने पर निश्चय सम्यक्चारित्र होता है, वही जिनमत में मोक्षमार्ग का स्वरूप कहा है। अन्य मतवालों ने अनेक प्रकार से कल्पना करके कहा है, वह मोक्षमार्ग नहीं है ॥३९॥

+ मोक्षमार्ग को जानकर श्रद्धा सहित इसमें प्रवृत्ति करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त करता है -

दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं ॥४०॥

अन्वयार्थ : [दंसणणाणचरित्तं] सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र [तिण्णिवि] तीनों को [परमसद्धाए] परमश्रद्धा से [जाणेह] जानो, [जं जाणिऊण] जिनको जानकर [जोई] योगीजन [अइरेण] अल्प-काल में [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहंति] प्राप्त करते हैं।

छाबडा :

दर्शनज्ञानचरित्रं त्रीण्यपि जानीहि परमश्रद्धया;;यत् ज्ञात्वा योगिनः अचिरेण लभन्ते निर्वाणम् ॥४०॥

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र त्रयात्मक मोक्षमार्ग है, इसको श्रद्धापूर्वक जानने का उपदेश है, क्योंकि इसको जानने से मुनियों को मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥४०॥

+ निश्चयचारित्ररूप ज्ञान का स्वरूप कि महिमा -

**१पाऊण णाणसलिलं णिम्लसुविशुद्धभावसंजुता
होंति सिवालयवासी तिहुवणचूड़ामणी सिद्धा ॥४१॥**

अन्वयार्थ : [णिमल] निर्मल [णाणसलिलं] सम्यग्ज्ञान रूपी जल को [पाऊण] प्राप्त कर, [सुविशुद्ध] अत्यंत विशुद्ध [भावसंजुता] भावोयुक्त पुरुष [सिवालयवासी] मोक्षधाम के वासी, [तिहुवण] त्रिलोक के [चूड़ा मणी] चूड़ामणि समान [सिद्धा] सिद्ध [होंति] होते हैं ।

छाबडा :

२प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मलसुविशुद्धभावसंयुक्ताः

भवन्ति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूड़ामणयः सिद्धाः ॥४१॥

जैसे जल से स्नान करके शुद्ध होकर उत्तम पुरुष महल में निवास करते हैं, वैसे ही यह ज्ञान जल के समान है और आत्मा के रागादिक मैल लगने से मलिनता होती है, इसलिए इस ज्ञानरूप जल से रागादिक मल को धोकर जो अपनी आत्मा को शुद्ध करते हैं, वे मुक्तिरूप महल में रहकर आनन्द भोगते हैं, उनको तीन भुवन के शिरोमणि सिद्ध कहते हैं ॥४१॥

+ गुण दोष को जानने के लिए ज्ञान को भले प्रकार से जानना -

**णाणगुणेहिं विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं
इय णाउं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहिं ॥४२॥**

अन्वयार्थ : [णाणगुणेहिं] ज्ञानगुण से [विहीणा] हीन जीव [सुइच्छायं] अत्यंत इष्ट (मोक्ष) के [लाहं] लाभ से [लहंते] लाभान्वित [ण] नहीं हो सकते । [इय] इस प्रकार [गुणदोसं] गुण-दोषों को [णाउं] जानकर [तं] उस [सण्णाणं] सम्यग्ज्ञान को [वियाणेहिं] अच्छी तरह जानो ।

छाबडा :

ज्ञानगुणैः विहीना न लभते ते स्विष्टं लाभः;;इति ज्ञात्वा गुणदोषौ तत् सदज्ञानं विजानीहि ॥४२॥

ज्ञान के बिना गुण दोष का ज्ञान नहीं होता है तब अपनी इष्ट तथा अनिष्ट वस्तु को नहीं जानता है, तब इष्ट वस्तु का लाभ नहीं होता है इसलिए सम्यग्ज्ञान ही से गुण-दोष जानेजाते हैं, क्योंकि सम्यग्ज्ञान के बिना हेय-उपादेय वस्तुओं का जानना नहीं होता है और हेय-उपोदय को जाने बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता है । इसलिए ज्ञान ही को चारित्र से प्रधान कहा है ॥४२॥

+ जो सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र धारण करता है, वह थोड़े ही काल में अनुपम सुख को पाता है -

**चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥४३॥**

अन्वयार्थ : [जाणी] ज्ञानी [चारित्रसमारूढो] चारित्र पर आरूढ़ (पालन करते हुए) होकर [अप्पासु] आत्मा के अतिरिक्त [परं] अन्य (इष्ट पर पदार्थों; स्त्री, सम्पत्ति, पुत्रादि) की [ईहए] इच्छा [ण] नहीं रखता, [आइरेण] शीघ्र ही [अणोवमं] अनुपम [सुहं] सुख को [पावइ] प्राप्त करते हैं, ऐसा [णिच्छयदो] निश्चय से [जाण] जानो ।

छाबडा :

चारित्रसमारूढ आत्मनि परं न ईहते ज्ञानी; प्राप्नोति अचिरेण सुखं अनुपमं जानीहि निश्चयतः ॥४३॥

जो पुरुष ज्ञानी है और चारित्र सहित है, वह अपनी आत्मा में परद्रव्य की इच्छा नहीं करता है, परद्रव्य में राग-द्वेष-मोह नहीं करता है । वह ज्ञानी जिसकी उपमा नहीं है, इसप्रकार अविनाशी मुक्ति के सुख को पाता है । हे भव्य ! तू निश्चय से इसप्रकार जान । यहाँ ज्ञानी होकर हेय उपादेय को जानकर, संयमी बनकर परद्रव्य को अपने में नहीं मिलाता है, वह परम सुख पाता है, इसप्रकार बताया है ॥४३॥

+ चारित्र के कथन का संकोच -

**एवं संखेवेण य भणियं णाणेण वीयराएण
सम्मत्तसंजमासयदुण्हं पि उदेसियं चरणं ॥४४॥**

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [संखेवेण] संक्षेप में, [णाणेण] ज्ञानस्वभाव से युक्त, [वीयरायेण] वीतरागीदेव ने [सम्मत्त] सम्यक्त्व और [संजमासय] संयम के आश्रय, [दुण्हं] दो ही [चरणं] आचार (दर्शनाचार और चारित्राचार) [उदेसियं] उद्देशरूप [भणियं] कहा दिया है ।

छाबडा :

एवं सङ्क्षेपेण च भणितं ज्ञानेन वीतरागेण; सम्यक्त्वसंयमाश्रयद्वयोरपि उद्देशितं चरणम् ॥४४॥

एवं अर्थात् ऐसे पूर्वोक्त प्रकार संक्षेप से श्री वीतरागदेव ने ज्ञान के द्वारा कहे सम्यक्त्व और संयम - इन दोनों के आश्रय से चारित्र सम्यक्त्वचरणस्वरूप और संयमचरणस्वरूप दो प्रकार से उपदेश किया है, आचार्य ने चारित्र के कथन को संक्षेपरूप से कहकर संकोच किया है ॥४४॥

+ चारित्रपाहुड़ को भाने का उपदेश और इसका फल -

**भावेह भावसुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुणं चेव
लहु चउगइ चइऊणं अइरेणऽपुणब्भवा होई ॥४५॥**

अन्वयार्थ : [भावेह] हे भव्य जीवो ! [भावसुद्धं] शुद्धभाव से [फुडु] स्पष्ट [चरणपाहुड] चरण-प्राभृत [चेव] और दर्शन प्राभृत [रइयं] रचित है, [चउगइ] चतुर्गतियों का [चइ] त्याग कर [ऊणं] उनसे [अचिरेण] शीघ्र ही [ऽपुणब्भवा] पुनर्भव रहित (सिद्ध) [होइ] हो जाओ ।

छाबडा :

भावयत भावशुद्धं स्फुटं रचितं चरणप्राभृतं चैव; लघु चतुर्गतीः त्यक्त्वा अचिरेण अपुनर्भवाः भवत ॥४५॥

इस चारित्रपाहुड़ को बांचना, पढ़ना, धारण करना, बारम्बार भाना, अभ्यास करना - यह उपदेश है, इससे चारित्र का स्वरूप जानकर धारण करने की रुचि हो, अंगीकार करे तब चार गतिरूप संसार के दुःख से रहित होकर निर्वाण को प्राप्त हो, फिर संसार में जन्म धारण नहीं करे, इसलिए जो कल्याण को चाहते हैं, वे इसप्रकार करो ॥४५॥; छप्पय; चारित दीय प्रकार देव जिनवर ने भाख्या ।; समकित संयम चरण ज्ञानपूरव तिस राख्या ॥

जे नर सरधावान याहि धारैं विधि सेती ।;निश्चय अर व्यवहार रीति आगम में जेती ॥; (दोहा);;जिनभाषित चारित्रकूं जे पालैं मुनिराज ।;तिनि के चरण नमूं सदा पाऊँ तिनि गुणसाज ॥२॥;जब जगधन्धा सब मेटि कै निजस्वरूप में थिर रहै ।;तब अष्टकर्मकूं नाशि कै अविनाशी शिव कूं लहै ॥१॥;ऐसे सम्यक्त्वचरणचारित्र और संयमचरणचारित्र दो प्रकार के चारित्र का स्वरूप इस प्राभृत में कहा ।

(इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामि विरचित चारित्रप्राभृत की पण्डित जयचन्द्र छाबड़ा कृत देशभाषावचनिका का हिन्दी भाषानुवाद समाप्त ॥३॥)

बोध-पाहुड

+ ग्रन्थ करने की मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा -

बहुसत्यअत्यजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे
वंदित्त आयरिए कसायमलवज्जिदे सुद्धे ॥१॥
सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं
वोच्छामि समासेण छक्कायसुहंकरं सुणहं ॥२॥

अन्वयार्थ : मैं [बहुसत्यअत्य] अनेक शास्त्रों के अर्थों के [जाणो] ज्ञाता, [संजम] संयम, [सम्मत्त] सम्यक्त्व, [सुद्धतवयरणे] शुद्ध तपश्चरण के धारक, [कसायमल] कषाय रुपी मल से [वज्जिदे] रहित [शुद्ध] निर्मल [आयरिए] आचार्यों को [वंदित्त] नमस्कार कर [सयलजण] समस्त मनुष्यों को [बोहणत्थं] संबोधने के लिए [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [जिणवरेहिं] जिनेन्द्र भगवान ने [जह] जैसा [भणियं] कहा वैसा [समासेण] संक्षेप में [य] और [छक्काय] षट्काय जीवों के लिये [हियंकरं] हितकारी ('बोधप्राभृत' नामक ग्रंथ) [वोच्छामि] कहूंगा, [सुणसु] उसे सुनो ।

छाबडा :

बहुशास्त्रार्थज्ञापकान् संयमसम्यक्त्वशुद्धतपश्चरणान्; वन्दित्वा आचार्यान् कषायमलवर्जितान् शुद्धान् ॥
१॥; सकलजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरेः यथा भणितम्; वक्ष्यामि समासेन षट्कायसुखङ्करं शृणु ॥२-युग्मम्॥

यहाँ आचार्यों की वंदना की, उनके विशेषण से जाना जाता है कि गणधरादिक से लेकर अपने गुरुपर्यंत सबकी वन्दना है और ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा की, उसके विशेषण से जाना जाता है कि जो बोधपाहुड ग्रन्थ करेंगे वह लोगों को धर्ममार्ग में सावधान कर कुमार्ग छोड़ाकर अहिंसाधर्म का उपदेश करेगा ॥१-२॥

+ 'बोधपाहुड' में ग्यारह स्थलों के नाम -

आयदणं चेदिहरं, जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंबं
भणियं सुवीयरायं, जिणुमुद्दा णाणमादत्थं ॥३॥

अरहंतेण सुदिट्ठं, जं देवं तित्थमिह य अरहंतं पावज्जगुणविसुद्धा, इय णायव्वा जहाकमसो ॥४॥

अन्वयार्थ : [आयदणं] १-आयतन, [चेदिहरं] २-चैत्यगृह, [जिणपडिमा] ३-जिनप्रतिमा, [दंसणं] ४-दर्शन, [जिणबिंबं] ५-आगम में [भणियं] प्रतिपादित [सुवीयरायं] अत्यंत वीतराग जिनबिम्ब, [जिणमुद्दा] ६-जिनमुद्रा, [णाणमदत्थं] ७-आत्मस्थज्ञान, [अरहंतेण] ८-अरिहंत सर्वज्ञ वीतराग देवों द्वारा [सुदिट्ठं] अच्छी प्रकार [मिह] प्रतिपादित [देवं] देव का स्वरूप, [य] और [तित्थ] ९-तीर्थ, [अरहंतं] १०-अरिहंतस्वरूप का निरूपण और [पावज्ज गुणविसुद्धा] ११-गुणों से युक्त विशुद्ध प्रव्रज्या (दीक्षा) [जहाकमसो] क्रमशः (११अधिकार), [इय] इस (बोध प्राभृत) ग्रन्थ में [णायव्वा] जानो ।

छाबडा :

आयतनं चैत्यगृहं जिनप्रतिमा दर्शनं च जिनबिम्बम्;; भणितं सुवीतरागं जिनमुद्रा ज्ञानमात्मार्थम् ॥३॥;; अर्हता सुदृष्टं यः देवः तीर्थमिह च अर्हन्;; प्रव्रज्या गुणविसुद्धा इति ज्ञातव्याः यथाक्रमशः ॥४॥

यहाँ आशय इसप्रकार जानना चाहिए कि धर्म-मार्ग में काल-दोष से अनेक मत हो गये हैं तथा जैन-मत में भी भेद हो गये हैं, उनमें आयतन आदि में विपर्यय (विपरीतपना) हुआ है, उनका परमार्थ-भूत सच्चा स्वरूप तो लोग जानते नहीं हैं और धर्म के लोभी होकर जैसी बाह्य प्रवृत्ति देखते हैं, उनमें ही प्रवर्तने लग जाते हैं, उनको संबोधने के लिए यह 'बोधपाहुड' बनाया है । उसमें आयतन आदि ग्यारह स्थानों का परमार्थ-भूत सच्चा स्वरूप जैसा सर्वज्ञ-देव ने कहा है, वैसे कहेंगे, अनुक्रम में जैसे नाम कहे हैं, वैसे ही अनुक्रम से इनका व्याख्यान करेंगे सो जानने योग्य है ॥३-४॥

+ आयतन का निरूपण -

मणवयणकायदव्वा आयत्त जस्स इन्द्रिया विसया आयदणं जिणमग्गे णिदिट्ठं संजयं रूवं ॥५॥

अन्वयार्थ : [जस्स] जिसके [दव्वा] द्रव्य-रूप [मणवयणकाय] मन, वचन, काय और [इन्द्रियाविसया] इन्द्रियों के विषय [आयत्ता] अधीन है, ऐसे [संजयरूवं] संयत रूप (मुनि) को [जिणमग्गे] जिनमार्ग / जिनागम में [आयदणं] आयतन [णिदिट्ठं] निर्दिष्ट है ।

छाबडा :

मनोवचनकायद्रव्याणि आयत्तः यस्य ऐन्द्रियाः विषयाः;; आयतनं जिनमार्गे निर्दिष्टं संयतं रूपम् ॥५॥

मयरायदोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्त पंचमहव्वयधारी आयदणं महरिसी भणियं ॥६॥

अन्वयार्थ : [मय] मद, [रायदोस] राग-द्वेष, [मोहो] मोह, [कोहो] क्रोध [य] और [लोहो] लोभ, [जस्स] जिसके [आयत्ता] अधीन है ऐसे [पंचमहावयधारी] पंचमहाव्रती, महर्षि [आयदणं] आयतन [भणियं] कहे गए हैं ।

छाबडा :

मदः रागः द्वेषः मोहः क्रोधः लोभः च यस्य आयत्तः;; पञ्चमहाव्रतधारी आयतनं महर्षयो भणिताः ॥६॥

पहिली गाथा में तो बाह्य का स्वरूप कहा था । यहाँ बाह्य-आभ्यन्तर दोनों प्रकार से संयमी हो वह 'आयतन' है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥६॥

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धज्ञाणस्स णाणजुत्तस्स सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं ॥७॥

अन्वयार्थ : [विसुद्धज्ञाणस्स] विशुद्ध ध्यान सहित, [णाणजुत्तस्स] केवल ज्ञान से युक्त [मुणिवर] जिस श्रेष्ठ मुनि के [सदत्थं] निजात्मस्वरूप [सिद्धंजस्स] सिद्ध हुआ है या जिन्होंने [वसहस्स] छह द्रव्यों, सात तत्वों, नव पदार्थों को [मुणिदत्थं] अच्छी तरह जान लिया है उन्हें [सिद्धायदणं] सिद्धायतन [सिद्धं] कहा है ।

छाबडा :

सिद्धं यस्य सन्दर्थं विसुद्धध्यानस्य ज्ञानयुक्तस्य;;सिद्धायतनं सिद्धं मुनिवृषभस्य मुनितार्थम् ॥७॥

इसप्रकार तीन गाथा में 'आयतन' का स्वरूप कहा । पहिली गाथा में तो संयमी सामान्य का बाह्यरूप प्रधानता से कहा । दूसरी में अंतरंग-बाह्य दोनों की शुद्धतारूप ऋद्धि-धारी मुनि ऋषीश्वर कहा और इस तीसरी गाथा में केवल-ज्ञानी को जो मुनियों में प्रधान है सिद्धायतन कहा है । यहाँ इसप्रकार जानना जो 'आयतन' अर्थात् जिसमें बसे, निवास करे उसको आयतन कहा है, इसलिए धर्मपद्धति में जो धर्मात्मा पुरुष के आश्रय करने योग्य हो वह 'धर्मायतन' है । इसप्रकार मुनि ही धर्म के आयतन हैं, अन्य कोई भेष-धारी, पाखंडी (ढोंगी) विषय-कषायों में आसक्त, परिग्रह-धारी धर्म के आयतन नहीं हैं तथा जैनमत में भी जो सूत्र-विरुद्ध प्रवर्तते हैं, वे भी आयतन नहीं, वे सब 'अनायतन' हैं ।

बौद्ध-मत में पाँच इन्द्रिय, उनके पाँच विषय, एक मन, एक धर्मायतन शरीर ऐसे बारह आयतन कहे हैं वे भी कल्पित हैं, इसलिए जैसा यहाँ आयतन कहा वैसा ही जानना, धर्मात्मा को उसी का आश्रय करना, अन्य की स्तुति, प्रशंसा, विनयादिक न करना, यह बोधपाहुड ग्रन्थ करने का आशय है । जिसमें इसप्रकार के निर्ग्रन्थ मुनि रहते हैं, इसप्रकार के क्षेत्र को भी 'आयतन' कहते हैं, जो व्यवहार है ॥७॥

+ चैत्यगृह का निरूपण -

बुद्धं जं बोहंतो अप्पाणं चेदयाइं अण्णं च पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेदिहरं ॥८॥

अन्वयार्थ : [जं] जो [बुद्धं] ज्ञानयुक्त [अप्पाणं] आत्मा को [बोहंतो] जानते हैं [च] और [अण्णं] अन्यो को भी उसका [चेइयाइं] बोध कराते हैं, [पंचममहव्वय] पंचमहाव्रतों से [सुद्धं] शुद्ध [णाणमयं] ज्ञानमय हैं, ऐसे (मुनि) को [चेदिहरं] चैत्यगृह [जाण] जानो ।

छाबडा :

बुद्धं यत् बोधयन् आत्मानं चैत्यानि अन्यत् च;;पञ्चमहाव्रतशुद्धं ज्ञानमयं ज्ञानीहि चैत्यगृहम् ॥८॥

जिसमें अपने को और दूसरे को जानने वाला ज्ञानी निष्पाप-निर्मल इसप्रकार 'चैत्य' अर्थात् चेतना-स्वरूप आत्मा रहता है, वह 'चैत्यगृह' है । इसप्रकार का चैत्य-गृह संयमी मुनि है, अन्य पाषाण आदि के मंदिर को 'चैत्यगृह' कहना व्यवहार है ॥८॥

चेइयं बंधं मोक्खं दुक्खं सुक्खं च अप्पयं तस्स चेइहरं जिणमग्गे छक्कायहियंकरं भणियं ॥९॥

अन्वयार्थ : [बंधं] बंध [मोक्खं] मोक्ष [दुक्खं] दुख [च] और [सुक्खं] सुख जिसको होते हैं [तस्स] वह [अप्पयं] जीव [चेइय] चैत्य है, [चेइहरं] चैत्यगृह [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [छक्काय] षट्काय के जीवों के लिये, [हियंकरं] हितकारी [भणियं] कहा है ।

छाबडा :

चैत्यं बन्धं मोक्षं दुःखं सुखं च आत्मकं तस्य; चैत्यगृहं जिनमार्गे षड्कायहितङ्करं भणितम् ॥९॥

लौकिक जन चैत्य-गृह का स्वरूप अन्यथा अनेक प्रकार मानते हैं, उनको सावधान किया है कि जिन-सूत्र में छहकाय का हित करनेवाला ज्ञान-मयी संयमी मुनि है वह 'चैत्यगृह' है; अन्य को चैत्य-गृह कहना मानना व्यवहार है । इसप्रकार चैत्य-गृह का स्वरूप कहा ॥९॥

+ जिनप्रतिमा का निरूपण -

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं
णिग्गंथवीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥१०॥

अन्वयार्थ : [जिणमग्गे] जिनमार्ग में -- [सपरा] स्व और पर से [जंगमदेहा] चलती हुई देह सहित, [दंसणणाणेण] सम्यग्दर्शन-ज्ञान से [सुद्धाचरणाणं] शुद्ध आचरण (सम्यक्चारित्र) धारक [णिग्गंथ] निर्ग्रन्थ, [वीयराया] वीतरागी, [एरिसा] ऐसी [पडिमा] प्रतिमा (जिनबिंब) है ।

छाबडा :

स्वपरा जङ्गमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम्; निर्ग्रन्थवीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा ॥१०॥

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ णिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं
सा होई वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥११॥

अन्वयार्थ : [जं] जो [सुद्धचरणं] निरतिचार (शुद्ध) चारित्र का [चरदि] पालन करते है, [सुद्धसम्मत्तं] शुद्ध सम्यक्त्व (सम्यक्-ज्ञान और दर्शन) द्वारा [जाणइ] जानते हैं, [णिच्छेइ] देखते हैं, ऐसे [णिग्गंथा] निर्ग्रन्थ [संजदा] संयमी मुनियों को [पडिमा] प्रतिमा कहा है, [सा] वे [वंदणीया] वन्दनीय [होइ] हैं ।

छाबडा :

यः चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम्; सा भवति वन्दनीया निर्ग्रन्था संयता प्रतिमा ॥११॥

जाननेवाला, देखनेवाला, शुद्ध-सम्यक्त्व, शुद्ध-चारित्र स्वरूप निर्ग्रन्थ संयम-सहित इसप्रकार मुनि का स्वरूप है वही 'प्रतिमा' है, वही वंदन करने योग्य है; अन्य कल्पित वंदन करने योग्य नहीं है और वैसे ही रूपसदृश धातुपाषाण की प्रतिमा हो वह व्यवहार से वंदने योग्य है ॥११॥

दंसणअणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य
सासयसुक्ख अदेहा मुक्का कम्मट्ठबंधेहिं ॥१२॥
णिरुवममचलमखोहा णिम्मिविया १जंगमेण रूवेण
सिद्धाणम्मि ठिया वोसरपडिमा धुवा सिद्धा ॥१३॥

अन्वयार्थ : [दंसण] अनन्त-दर्शन, [अणंतणाणं] अनन्त-ज्ञान, [अणंतवीरिय] अनन्त-वीर्य, [अणंतसुक्खाय] अनन्त-सुख, [सासयसुक्ख] शाश्वत (अविनाशी) सुख-युक्त, [अदेहा] अशरीरी और [कम्मट्ठ] अष्टकर्मों के [बंधेहिं] बंधन से [मुक्का] मुक्त, [णिरुवमं] उपमा रहित, [अचलम्] अचल, [अखोहा] क्षोभ-रहित, [जंगमेण रूवेण] जंगम-रूप से [णिम्मिविया] निर्मित हैं, सिद्ध [ठाणम्मि] स्थान में [ठिया] स्थित [धुवा] ध्रुव, सिद्ध-परमेष्ठी को [वोसरपडिमा] स्थावर-प्रतिमा कहते हैं ।

छाबडा :

दर्शनानन्तज्ञानं अनन्तवीर्याः अनन्तसुखाः च;;शाश्वतसुखा अदेहा मुक्ताः कर्माष्टकबन्धैः ॥१२॥;;निरुपमा अचला
अक्षोभाः निर्मापिता जङ्गमेन रूपेण;;सिद्धस्थाने स्थिताः व्युत्सर्गप्रतिमा ध्रुवाः सिद्धाः ॥१३॥

पहिले दो गाथाओं में तो जंगम प्रतिमा संयमी मुनियों की देहसहित कही । इन दो गाथाओं में 'थिरप्रतिमा' सिद्धों की कही, इसप्रकार जंगम थावर प्रतिमा का स्वरूप कहा । अन्य कई अन्यथा बहुत प्रकार से कल्पना करते हैं, वह प्रतिमा वंदन करने योग्य नहीं है ।

प्रश्न – यह तो परमार्थस्वरूप कहा और बाह्य व्यवहार में पाषाणादिक की प्रतिमा की वंदना करते हैं, वह कैसे ?

समाधान – जो बाह्य व्यवहार में मतान्तर के भेद से अनेक रीति प्रतिमा की प्रवृत्ति है, यहाँ परमार्थ को प्रधान कर कहा है और व्यवहार है वहाँ जैसा प्रतिमा का परमार्थरूप हो उसी को सूचित करता हो वह निर्बाध है । जैसा परमार्थरूप आकार कहा वैसा ही आकाररूप व्यवहार हो वह व्यवहार भी प्रशस्त है; व्यवहारी जीवों के यह भी वंदन करने योग्य है । स्याद्वाद न्याय से सिद्ध किये गये परमार्थ और व्यवहार में विरोध नहीं है ॥१२-१३॥

इसप्रकार जिनप्रतिमा का स्वरूप कहा ।

+ दर्शन का स्वरूप -

**दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं ॥१४॥**

अन्वयार्थ : जो [मोक्खमग्गं] मेक्षमार्ग [दंसेइ] दिखलाता है अर्थात् [सम्मत्तं] सम्यक्दर्शन, [णाणमयं] ज्ञानमय, [संजमं] संयम, [सुधम्मं] दस-लक्षण धर्म [च] और [णिग्गंथं] परिग्रह रहित (चारित्र) [जिणमग्गे] जिनमार्ग मे उसे [दंसणं] दर्शन [भणियं] कहा है ।

छाबडा :

दर्शयति मोक्षमार्गं सम्यक्त्वं संयमं सुधर्मं च;;निर्ग्रन्थं ज्ञानमयं जिनमार्गे दर्शनं भणितम् ॥१४॥

परमार्थरूप 'अंतरंग दर्शन' तो सम्यक्त्व है और 'बाह्य' उसकी मूर्ति, ज्ञानसहित ग्रहण किया निर्ग्रन्थ रूप, इसप्रकार मुनि का रूप है सो 'दर्शन' है, क्योंकि मत की मूर्ति को दर्शन कहना लोक में प्रसिद्ध है ॥

**जह फुल्लं गंधमयं भवति हु खीरं स धियमयं चावि
तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्थं ॥१५॥**

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [फुल्लं] फूल [गंधमयं] गन्धमय [स] और [खीरं] दूध [धियमयं] घृतमय [भवदि] होता है, [तह] वैसे [दंसणं] दर्शन [हि] भी [सम्मंणाणमयं] सम्यग्ज्ञानमय, [रूवत्थं] रूपस्थ (मुनि, श्रावक, श्राविका और असंयत सम्यग्दृष्टि रूप) [होइ] होता है ।

छाबडा :

यथा पुष्पं गन्धमयं भवति स्फुटं क्षीरं तत् घृतमयं चापि;;तथा दर्शनं हि सम्यक् ज्ञानमयं भवति रूपस्थम् ॥१५॥

'दर्शन' नाम मत का प्रसिद्ध है । यहाँ जिन-दर्शन में मुनि, श्रावक और आर्यिका का जैसा बाह्य भेष कहा सो 'दर्शन' जानना और इसकी श्रद्धा सो 'अंतरंग दर्शन' जानना । ये दोनों ही ज्ञानमयी हैं, यथार्थ तत्त्वार्थ का जानने-रूप सम्यक्त्व जिसमें पाया

जाता है इसीलिए फूल में गंध का और दूध में घृत का दृष्टांत युक्त है, इसप्रकार दर्शन का रूप कहा । अन्यमत में तथा काल-दोष से जिनमत में जैनाभास भेषी अनेकप्रकार अन्यथा कहते हैं जो कल्याण-रूप नहीं है, संसार का कारण है ॥१५॥

+ जिनबिंब का निरूपण -

जिणबिंबं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च जं देह दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥१६॥

अन्वयार्थ : [जं] जो [णाणमयं] ज्ञानमय, [संजमसुद्धं] संयम से शुद्ध, [सुवीयरायं] परम वीतरागी हैं [च] तथा [दिक्खसिक्खा] दीक्षा-शिक्षा [देइ] देते हैं, [कम्मक्खय] कर्म-क्षय में [कारणे] कारण हैं और [सुद्धा] शुद्ध हैं वे (आचार्य परमेष्ठी) [जिणबिम्बं] जिनबिम्ब हैं ।

छाबडा :

जिनबिम्ब ज्ञानमयं संयमशुद्धं सुवीतरागं च;;यत् ददाति दीक्षाशिक्षे कर्मक्षयकारणे शुद्धे ॥१६॥

जो 'जिन' अर्थात् अरहन्त सर्वज्ञ का प्रतिबिंब कहलाता है । उसकी जगह उसके जैसा ही मानने योग्य हो, इसप्रकार आचार्य हैं वे दीक्षा अर्थात् व्रत का ग्रहण और शिक्षा अर्थात् व्रत का विधान बताना, ये दोनों भव्यजीवों को देते हैं । इसलिए १. प्रथम तो वह आचार्य ज्ञान मयी हो, जिनसूत्र का उनको ज्ञान हो, ज्ञान बिना यथार्थ दीक्षा-शिक्षा कैसे हो ? और २. आप संयम से शुद्ध हो, यदि इसप्रकार न हो तो अन्य को भी संयम से शुद्ध नहीं करा सकते । ३. अतिशय-विशेषतया वीतराग न हो तो कषायसहित हो तब दीक्षा, शिक्षा यथार्थ नहीं दे सकते हैं, अतः इसप्रकार आचार्य को जिन के प्रतिबिंब जानना ॥१६॥

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणाभावो ॥१७॥

अन्वयार्थ : [तस्स] उनको (आचार्य परमेष्ठी को), सब प्रकार (अष्ट द्रव्य) से [पणामं] प्रणाम करो, [सव्वं] सर्व प्रकार से [पुज्जं] पूजा करो, [य] और उनके प्रति [विणय] विनय तथा [वच्छल्लं] वात्सल्य-भाव रखो, [जस्स] जिनके [दंसणणाणं] सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान है तथा [धुवं] निश्चित रूप से [चेयणाभावो] चेतना भाव अर्थात् आत्म-स्वरूप की उपलब्धि [अत्थि] विद्यमान है ।

छाबडा :

तस्य च कुरुत प्रणामं सर्वा पूजां च विनयं वात्सल्यम्;;यस्य च दर्शनं ज्ञानं अस्ति ध्रुवं चेतनाभावः ॥१७॥

दर्शन-ज्ञानमयी चेतना-भाव-सहित जिन-बिंब आचार्य हैं, उनको प्रणामादिक करना । यहाँ परमार्थ प्रधान कहा है, जड़ प्रतिबिंब की गौणता है ॥१७॥

तववयगुणेहिं सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं अरहन्तमुद्द एसा दायारी दिक्खसिक्खा य ॥१८॥

अन्वयार्थ : जो [तववयगुणेहिं] तप, व्रत और गुणों से [सुद्धो] शुद्ध हैं, [सुद्धसम्मत्तं] शुद्ध सम्यक्त्व द्वारा [जाणदि] जानते हैं, [पिच्छेइ] देखते हैं, [एसा] ऐसी [अरहन्तमुद्द] अरहन्त मुद्रा (जिनबिम्ब) [दिक्ख] दीक्षा [य] [सिक्खा] शिक्षा [दायारी] देने वाली है ।

छाबडा :

तपोव्रतगुणैः शुद्धः जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम्;;अर्हन्मुद्रा एषा दात्री दीक्षाशिक्षाणां च ॥१८॥

इसप्रकार जिन-बिंब है वह जिन-मुद्रा ही है, इसप्रकार जिन-बिंब का स्वरूप कहा है ॥१८॥

+ जिनमुद्रा का स्वरूप -

**दढसंजममुद्दाए इन्दियमुद्दा कसायदिढमुद्दा
मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्रा एरिसा भणिया ॥१९॥**

अन्वयार्थ : [संजम] संयम की [दढ] दढ [मुद्दाए] मुद्रा, [इन्दियमुद्दा] इन्द्रियों का संकोच, [कसायदढमुद्दा] कषायों पर दढ नियंत्रण, [णाणाए] सम्यग्ज्ञान की [मुद्दा] मुद्रा, [एरिसा] ऐसी [जिणमुद्दा] जिनमुद्रा कही गई है ।

छाबडा :

दढसंयममुद्रया इन्द्रियमुद्रा कषायदढमुद्राः;मुद्रा इह ज्ञानेन जिनमुद्रा ईदृशी भणिता ॥१९॥

१. जो संयमसहित हो, २. जिसकी इन्द्रियाँ वश में हों, ३. कषायों की प्रवृत्ति न होती हो और ४. ज्ञान को स्वरूप में लगाता हो - ऐसा मुनि हो सो ही 'जिनमुद्रा' है ॥१९॥

+ ज्ञान का निरूपण -

**संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥२०॥**

अन्वयार्थ : [संजमसंजुत्तस्स] संयम सहित [य] और [सुझाणजोयस्स] उत्तम-ध्यान के योग्य, [मोक्खमग्गस्स] मोक्षमार्ग का [लक्खं] लक्ष्य (आत्म-स्वभाव की प्राप्ति) [णाणेण] ज्ञान से ही [लहदि] प्राप्त होता है [तम्हा] इसलिए [णाणं] ज्ञान को [णायव्वं] जानना चाहिए ।

छाबडा :

संयमसंयुक्तस्य च १सुध्यानयोग्यस्य मोक्षमार्गस्यः;ज्ञानेन लभते लक्षं तस्मात् ज्ञानं च ज्ञातव्यम् ॥२०॥

संयम अंगीकार कर ध्यान करे और आत्मा का स्वरूप न जाने तो मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं है, इसीलिए ज्ञान का स्वरूप जानना चाहिए, उसके जानने से सर्वसिद्धि है ॥२०॥

+ इसी को दृष्टान्त द्वारा दृढ़ करते हैं -

**जह णवि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्झयविहीणो
तह णवि लक्खदि लक्खं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥२१॥**

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [वेज्झय] वेधक बाण [विहीणो] विहिन और [कंडस्स] धनुष के अभ्यास से [रहिओ] रहित [लक्खं] लक्ष्य को [णवि] नहीं [लहदि] प्राप्त करता [तह] उसी प्रकार [अण्णाणी] ज्ञान से रहित (अज्ञानी) [मोक्खमग्गस्स] मोक्षमार्ग के [लक्खं] लक्ष्य (आत्म-स्वभाव) को [णवि] नहीं [लक्खदि] प्राप्त करता है ।

छाबडा :

तथा नापि लभते स्फुटं लक्षं रहितः काण्डस्य २वेधकविहीनः;तथा नापि लक्षयति लक्षं अज्ञानी मोक्षमार्गस्य ॥२१॥

धनुषधारी धनुष के अभ्यास से रहित और 'वेधक' बाण से रहित हो तो निशाने को नहीं प्राप्त कर सकते, वैसे ही ज्ञान-रहित अज्ञानी मोक्षमार्ग का निशाना जो परमात्मा का स्वरूप है, उसको न पहिचाने तब मोक्ष-मार्ग की सिद्धि नहीं होती है, इसलिए ज्ञान को जानना चाहिए । परमात्मा-रूप निशाना ज्ञान-रूप बाण द्वारा वेधना योग्य है ॥२१॥

+ इसप्रकार ज्ञान-विनय-संयुक्त पुरुष होवे वही मोक्ष को प्राप्त करता है -

**णाणं पुरिस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्ते
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥२२॥**

अन्वयार्थ : [णाणं] ज्ञान [पुरिस्स] पुरुष को [हवदि] होता है, [विणयसंजुत्तो] विनय से संयुक्त [सुपुरिसो] सत्पुरुष ही ज्ञान [लहदि] प्राप्त करता है, [णाणेण] ज्ञान से [लक्खं] लक्ष्य [लहदि] प्राप्त होता है जो [मोक्खमग्गस्स] मोक्षमार्ग का [लक्खंतो] लक्ष्य (निजात्मस्वरूप) है ।

छाबडा :

ज्ञानं पुरुषस्य भवति लभते सुपुरुषोऽपि विनयसंयुक्तः, ज्ञानेन लभते लक्ष्यं लक्षयन् मोक्षमार्गस्य ॥२२॥

ज्ञान पुरुष के होता है और पुरुष ही विनयवान होवे सो ज्ञान को प्राप्त करता है, उस ज्ञान द्वारा ही शुद्ध आत्मा का स्वरूप जाना जाता है, इसलिए विशेष ज्ञानियों के विनय द्वारा ज्ञान की प्राप्ति करनी, क्योंकि निज शुद्ध स्वरूप को जानकर मोक्ष प्राप्त किया जाता है । यहाँ जो विनय-रहित हो, यथार्थ सूत्र पद से चिगा हो, भ्रष्ट हो गया हो उसका निषेध जानना ॥२२॥

**मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं
परमत्थबद्धलक्खो णवि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥२३॥**

अन्वयार्थ : [जस्स] जिस मुनि के [मइधणु] मति-ज्ञान-रूप धनुष [थिरं] स्थिर हो, [सुदगुण] श्रुत-ज्ञान-रूप गुण अर्थात् प्रत्यंचा हो, [रयणत्तं] रत्नत्रय-रूप [सुअत्थि] उत्तम [बाणा] बाण हो और [परमत्थ] परमार्थ-स्वरूप / निज-शुद्धात्म-स्वरूप का [बद्ध] संबंध-रूप [लक्खो] लक्ष्य हो, वह मुनि [मोक्खमग्गस्स] मोक्ष-मार्ग में [णवि] नहीं [चुक्कदि] चूकता है ।

छाबडा :

मतिधनुर्यस्य स्थिरं श्रुतं गुणः बाणाः सुसन्ति रत्नत्रयं, परमार्थबद्धलक्ष्यः नापि स्खलति मोक्षमार्गस्य ॥२३॥

धनुष की सब सामग्री यथावत् मिले तब निशाना नहीं चूकता है वैसे ही मुनि के मोक्षमार्ग की यथावत् सामग्री मिले तब मोक्षमार्ग से भ्रष्ट नहीं होता है । उसके साधन से मोक्ष को प्राप्त होता है । यह ज्ञान का माहात्म्य है, इसलिए जिनागम के अनुसार सत्यार्थ ज्ञानियों का विनय करके ज्ञान का साधन करना ॥२३॥

इसप्रकार ज्ञान का निरूपण किया ।

+ देव का स्वरूप -

**सो देवो जो अत्थं धम्मं कामांशुदेइ णाणं च
सो दइ जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पवज्ज ॥२४॥**

अन्वयार्थ : [सो] वह [देवो] देव है, जो [सु] भली प्रकार [अत्थं] अर्थ, [धम्मं] धर्म, [कामं] काम [च] और [णाणं] ज्ञान [देइ] देते है । [जस्स] जिसके पास [अत्थि] है [सो] वही [देइ] देता है इस न्याय से जिनके पास [अत्थो धम्मो] अर्थ, धर्म, [य] काम और [पवज्जा] दीक्षा / ज्ञान है उनको 'देव' जानो ।

छाबडा :

सः देवः यः अर्थं धर्मं कामं सुददाति ज्ञानं च;;सः ददाति यस्य अस्ति तु अर्थः धर्मः च प्रव्रज्या ॥२४॥

+ धर्मादिक का स्वरूप -

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्ज सव्वसंगपरिचत्त देवो ववगयमोहो उदयकरो भव्वजीवाणं ॥२५॥

अन्वयार्थ : जो [दयाविसुद्धो] दया से विशुद्ध है वह [धम्मो] धर्म है, जो [सव्वसंगपरिचत्ता] सर्व परिग्रह से रहित है वह [पव्वज्जा] प्रव्रज्या है, जिसका [ववगयमोहो] मोह नष्ट हो गया है वह [देवो] देव है, वह [भव्वजीवाणां] भव्य जीवों के [उदययो] उदय को करनेवाला है ।

छाबडा :

धर्मः दयाविशुद्धः प्रव्रज्या सर्वसङ्गपरित्यक्ता;;देवः व्यपगतमोहः उदयकरः भव्यजीवानाम् ॥२५॥

लोक में यह प्रसिद्ध है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुष के प्रयोजन हैं । उनके लिए पुरुष किसी को वंदना करता है, पूजा करता है और यह न्याय है कि जिसके पास जो वस्तु हो वह दूसरे को देवे, न हो तो कहाँ से लावे ? इसलिए ये चार पुरुषार्थ जिनदेव के पाये जाते हैं । धर्म तो उनके दयारूप पाया जाता है, उसको साधकर तीर्थकर हो गये, तब धन की और संसार के भोगों की प्राप्ति हो गई, लोकपूज्य हो गए और तीर्थकर के परमपद में दीक्षा लेकर, सब मोह से रहित होकर, परमार्थ-स्वरूप आत्मिक-धर्म को साधकर, मोक्ष-सुख को प्राप्त कर लिया ऐसे तीर्थकर जिन हैं, वे ही 'देव' हैं ।

अज्ञानी लोग जिनको देव मानते हैं, उनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नहीं है, क्योंकि कई हिंसक हैं, कई विषयासक्त हैं, मोही हैं, उनके धर्म कैसा ? अर्थ और काम की जिनके वांछा पाई जाती है, उनके अर्थ, काम कैसा ? जन्म, मरण सहित हैं, उनके मोक्ष कैसे ? ऐसा देव सच्चा जिनदेव ही है वही भव्य-जीवों के मनोरथ पूर्ण करते हैं, अन्य सब कल्पित देव हैं ॥२५॥

इसप्रकार देव का स्वरूप कहा -

+ तीर्थ का स्वरूप -

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचेन्द्रियसंजदे णिरावेक्खे ण्हाएउ मुणी तित्थे, दिक्खासिक्खासुण्हाणेण ॥२६॥

अन्वयार्थ : [वय] व्रत [सम्मत्त] सम्यक्त्व से [विसुद्धे] विशुद्ध और [पंचेन्द्रिय] पाँच इन्द्रियों से [संजदे] संयत अर्थात् संवरसहित तथा [णिरावेक्खे] निरपेक्ष (ख्याति, लाभ, पूजादिक इस लोक के फल की तथा परलोक में स्वर्गादिक के भोगों की अपेक्षा से रहित) [मुणी] मुनि [तित्थे] आत्म-स्वरूप तीर्थ में [दिक्खासिक्खा] दीक्षा-शिक्षा-रूप [सुण्हाणेण] उत्तम स्नान से [ण्हाएउ] नहाओ ।

छाबडा :

व्रतसम्यक्त्वविसुद्धे पञ्चेन्द्रियसंयते निरपेक्षे;;स्नातु मुनिः तीर्थे दीक्षाशिक्षासुस्नानेन ॥२६॥

तत्त्वार्थ-श्रद्धान-लक्षण-सहित, पाँच महाव्रत से शुद्ध और पाँच इन्द्रियों के विषयों से विरक्त, इस लोक-परलोक में विषय-भोगों की वांछा से रहित ऐसे निर्मल आत्मा के स्वभावरूप तीर्थ में स्नान करने से पवित्र होते हैं, ऐसी प्रेरणा करते हैं ॥२६॥

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं तं तित्थं जिणमग्गे हवेइ जदि सतिभावेण ॥२७॥

अन्वयार्थ : [जिणमग्गे] जिनमार्ग में वह तीर्थ है [जं] जो [णिम्मलं] निर्मल [सुधम्मं] उत्तम-क्षमादिक धर्म तथा [सम्मत्तं] तत्त्वार्थ-श्रद्धान-लक्षण शंकादि मल-रहित निर्मल सम्यक्त्व तथा [संजमं] इन्द्रिय व प्राणी संयम तथा [तवं] बारह प्रकार के निर्मल तप और [णाणं] जीव-अजीव आदि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान, [तं] ये [तित्थं] 'तीर्थ' हैं, ये भी [जदि] यदि [सतिभावेण] शांत-भाव सहित [हवेइ] होता है तो ।

छाबडा :

यत् निर्मलं सुधर्मं, सम्यक्त्वं संयमं तपः ज्ञानम्; तत् तीर्थं जिनमार्गे भवति यदि शान्तभावेन ॥२७॥

जिनमार्ग में तो इसप्रकार 'तीर्थ' कहा है । लोग सागर-नदियों को तीर्थ मानकर स्नान करके पवित्र होना चाहते हैं, वह शरीर का बाह्य-मल इनसे कुछ उतरता है, परन्तु शरीर के भीतर का धातु-उपधातुरूप अन्तर्मल इनसे उतरता नहीं है तथा ज्ञानावरण आदि कर्म-रूप मल और अज्ञान राग-द्वेष-मोह आदि भाव-कर्म-रूप मल आत्मा के अन्तर्मल हैं, वह तो इनसे कुछ भी उतरते नहीं हैं, उल्टा हिंसादिक से पापकर्मरूप मल लगता है, इसलिए सागर-नदी आदि को तीर्थ मानना भ्रम है । जिससे तिरे सो 'तीर्थ' है इसप्रकार जिन-मार्ग में कहा है, उसे ही संसार-समुद्र से तारने वाला जानना ॥२७॥

इसप्रकार तीर्थ का स्वरूप कहा ।

+ अरहंत का स्वरूप -

णामे ठवणे हि संदव्वे भावे हि सगुणपज्जाया चउणागदि संपदिमे१ भावा भावन्ति अरहन्तं ॥२८॥

अन्वयार्थ : [णामे] नाम, [ठवणे] स्थापना, [य] और [संदव्वे] द्रव्य, [भावेहि] भाव से, [सगुणपज्जाया] गुण पर्यायों से तथा [चउणा] गमन (स्वर्ग/नरक से च्युत होकर) और [आगदि] आगमन (भरतादि क्षेत्र में) व [संपदिम] सम्पदा (रत्न-वर्षा आदि) से [भावा] भव्य जीव [अरहन्तं] अरहंत भगवान का [भावन्ति] चितन करते हैं ।

छाबडा :

नाम्नि संस्थापनायां हि च सन्द्रव्ये भावे च सगुणपर्यायाः, च्यवनमागतिः सम्पत् इमे भावा भावयन्ति अर्हन्तम् ॥
२८॥

अरहंत शब्द से यद्यपि सामान्य अपेक्षा केवलज्ञानी हों वे सब ही अरहंत हैं तो भी यहाँ तीर्थकर पद की प्रधानता से कथन करते हैं, इसलिए नामादिक से बतलाना कहा है । लोक-व्यवहार में नाम आदि की प्रवृत्ति इसप्रकार है कि जो जिस वस्तु का नाम हो वैसा गुण न हो उसको नाम-निक्षेप कहते हैं । जिस वस्तु को जैसा आकार हो उस आकार की काष्ठ-पाषाणादिक की मूर्ति बनाकर उसका संकल्प करे उसको स्थापना कहते हैं । जिस वस्तु की पहली अवस्था हो उस ही को आगे की अवस्था प्रधान करके कहे उसको द्रव्य कहते हैं । वर्तमान में जो अवस्था हो उसको भाव कहते हैं । ऐसे चार निक्षेप की प्रवृत्ति है । उसका कथन शास्त्र में भी लोगों को समझाने के लिए किया है । जो निक्षेप विधान द्वारा नाम, स्थापना, द्रव्य को भाव न समझे, नाम को नाम समझे, स्थापना को स्थापना समझे, द्रव्य को द्रव्य समझे, भाव को भाव समझे, अन्य को अन्य समझे, अन्यथा तो 'व्यभिचार' नाम का दोष आता है । उसे दूर करने के लिए लोगों को यथार्थ समझाने के लिए शास्त्र में कथन है, किन्तु यहाँ वैसा निक्षेप का कथन नहीं समझना । यहाँ तो निश्चय-नय की प्रधानता से कथन है सो जैसा अरहंत का नाम है वैसा ही गुण सहित नाम जानना, स्थापना जैसी उसकी देह सहित मूर्ति है वही स्थापना जानना, जैसा उसका द्रव्य है, वैसा द्रव्य जानना और जैसा उसका भाव है वैसा ही भाव जानना ॥२८॥

+ नाम को प्रधान करके कहते हैं -

दंसण अणंत णाणे मोक्खो णट्टट्टकम्मबंधेण णिरुवमगुणमारूढो अरहंतो एरिसो होइ ॥२९॥

अन्वयार्थ : [दंसण] अनन्त-दर्शन, [अणंताणाणे] अनन्त-ज्ञान से [णट्टट्टकम्मबंधेण] अष्ट-कर्मों का बंध नष्ट होने होने से, [मोक्खो] भाव-मोक्ष प्राप्त कर लिया है, [णिरुवम] अनुपम [गुणमारूढो] गुणों से आरूढ़ हैं-सहित हैं [एरिसो] ऐसे अरिहंत भगवान [होई] होते हैं ।

छाबडा :

दर्शनं अनन्तं ज्ञानं मोक्षः नष्टानष्टकर्मबन्धेन;;निरुपमगुणमारूढः अर्हन् ईदृशो भवति ॥२९॥

केवल नाममात्र ही अरहंत हो उसको अरहंत नहीं कहते हैं । इसप्रकार के गुणों से सहित हो उसको अरहंत कहते हैं ।

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥३०॥

अन्वयार्थ : [जर] बुढ़ापा, [वाहि] व्याधि / रोग, [जम्म] जन्म, [मरणं] मरण, [चउगइगमणं] चतुरगति मे गमन [च] और [पुण्णपावं] पुण्य, पाप, [च] (१८) [दोस] दोष [हंतूण] रहित [च] और [कम्मे] कर्मों को, नष्टकर [णाणमयं] ज्ञानमय हुए हैं, वे [अरहंतो] 'अरहंत' हैं ।

छाबडा :

जराव्याधिजन्ममरणं चतुर्गतिगमनं पुण्यपावं च;;हत्वा दोषकर्माणि भूतः ज्ञानमयश्चाहन् ॥३०॥

पहिली गाथा में तो गुणों के सद्भाव से अरहंत नाम कहा और इस गाथा में दोषों के अभाव से अरहंत नाम कहा । राग, द्वेष, मद, मोह, अरति, चिंता, भय, निद्रा, विषाद, खेद और विस्मय ये ग्यारह दोष तो घातिकर्म के उदय से होते हैं और क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मरण, रोग और स्वेद - ये सात दोष अघातिकर्म के उदय से होते हैं । इस गाथा में जरा, रोग, जन्म, मरण और चार गतियों में गमन का अभाव कहने से तो अघातिकर्म से हुए दोषों का अभाव जानना, क्योंकि अघातिकर्म में इन दोषों को उत्पन्न करनेवाली पापप्रकृतियों के उदय का अरहंत के अभाव है और रागद्वेषादिक दोषों का घातिकर्म के अभाव से अभाव है ।

प्रश्न – अर्हन्त को मरण का और पुण्य का अभाव कहा; मोक्षगमन होना यह 'मरण' अरहंत के है और पुण्य-प्रकृतियों का उदय पाया जाता है, उनका अभाव कैसे ?

समाधान – यहाँ मरण होकर फिर संसार में जन्म हो इसप्रकार के 'मरण' की अपेक्षा यह कथन है, इसप्रकार मरण अरहंत के नहीं है, उसीप्रकार जो पुण्य-प्रकृति का उदय पाप-प्रकृति सापेक्ष करे इसप्रकार पुण्य के उदय का अभाव जानना अथवा बंध-अपेक्षा पुण्य का भी बंध नहीं है । साता-वेदनीय बंधे वह स्थिति-अनुभाग बिना बंधतुल्य ही है ।

प्रश्न – केवली के असाता वेदनीय का उदय भी सिद्धान्त में कहा है, उसकी प्रवृत्ति कैसे है ?

उत्तर – इसप्रकार जो असाता का अत्यन्त मंद-बिल्कुल मंद अनुभाग उदय है और साता का अति तीव्र अनुभाग उदय है, उसके वश से असाता कुछ बाह्य कार्य करने में समर्थ नहीं है, सूक्ष्म उदय देकर खिर जाता है तथा संक्रमणरूप होकर सातारूप हो जाता है, इसप्रकार जानना । इसप्रकार अनंत चतुष्टय-सहित सर्व-दोष-रहित सर्वज्ञ वीतराग हो उसको नाम से 'अरहंत' कहते हैं ॥३०॥

गुणठाणमगणेहिं य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहिं ठावण पंचविहेहिं पणयव्वा अरहपुरिसस्स ॥३१॥

अन्वयार्थ : [गुणठाणमगणेहिं] गुणस्थान, मार्गणा, [य] और [पज्जत्तीपाण] पर्याप्ति, प्राण [जीवठाणेहिं] जीवस्थान, [पंचविहेहिं] पांच प्रकार से [अरूहपुरीसस्स] अरिहंत भगवान् की [ठावण] स्थापना का [पणयव्वा] वर्णन करना चाहिये ।

छाबडा :

गुणस्थानमार्गणाभिः च पर्याप्तिप्राणजीवस्थानैः; स्थापना पञ्चविधैः प्रणेतव्या अर्हत्पुरुषस्य ॥३१॥

स्थापना-निक्षेप में काष्ठ-पाषाणादिक में संकल्प करना कहा है सो यहाँ प्रधान नहीं है । यहाँ निश्चय की प्रधानता से कथन है । यहाँ गुणस्थानादिक से अरहंत का स्थापन कहा है ॥३१॥

+ गुणस्थान में अरिहंत की स्थापना -

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठ पडिहारा ॥३२॥

अन्वयार्थ : [अरहंतो] अरिहंत भगवान्, [तेरहमे] तेरहवे [गुणठाणे] गुणस्थान में [सजोइकेवलिय] सयोगकेवलि [होइ] होते हैं । उनके [चउतीस] चौतीस [अइसयगुणा] अतिशय गुण तथा [हु तस्सट्ठ] उनके आठ [पडिहारा] प्रातिहार्य [होंति] होते हैं ।

छाबडा :

त्रयोदशे गुणस्थाने सयोगकेवलिकः भवति अर्हन्; चतुस्त्रिंशत् अतिशयगुणा भवन्ति स्फुटं तस्याष्टप्रातिहार्या ॥३२॥

यहाँ चौतीस अतिशय और आठ प्रातिहार्य कहने से तो समवसरण में विराजमान तथा विहार करते हुए अरहंत हैं और 'सयोग' कहने से विहार की प्रवृत्ति और वचन की प्रवृत्ति सिद्ध होती है । 'केवली' कहने से केवलज्ञानद्वारा सब तत्त्वों का जानना सिद्ध होता है । चौतीस अतिशय इसप्रकार हैं - जन्म से प्रकट होनेवाले दस - १. मलमूत्र का अभाव, २. पसेव का अभाव, ३. धवल रुधिर होना, ४. समचतुरस्रसंस्थान, ५. वज्रवृषभनाराच संहनन, ६. सुन्दर रूप, ७. सुगंध शरीर, ८. शुभ लक्षण होना, ९. अनन्त बल, १०. मधुर वचन - इसप्रकार दस होते हैं ।

केवलज्ञान उत्पन्न होने पर दस होते हैं - १. उपसर्ग का अभाव, २. अदया का अभाव, ३. शरीर की छाया न पड़ना, ४. चतुर्मुख दीखना, ५. सब विद्याओं का स्वामित्व, ६. नेत्रों के पलक न गिरना, ७. शतयोजन सुभिक्षता, ८. आकाशगमन, ९. कवलाहार नहीं होना, १०. नख-केशों का नहीं बढ़ना, ऐसे दस होते हैं ।

चौदह देवकृत होते हैं - १. सकलार्द्धमागधी भाषा, २. सब जीवों में मैत्रीभाव, ३. सब ऋतु के फल-फूल फलना, ४. दर्पण समान भूमि, ५. कंटकरहित भूमि, ६. मंद सुगंध पवन, ७. सबके आनंद होना, ८. गंधोदकवृष्टि, ९. पैरों के नीचे कमल रचना, १०. सर्वधान्य निष्पत्ति, ११. दशों दिशाओं का निर्मल होना, १२. देवों के द्वारा आह्वानन शब्द, १३. धर्मचक्र का आगे चलना, १४. अष्ट मंगल द्रव्यों का आगे चलना ।

अष्ट मंगल द्रव्यों के नाम - १. छत्र, २. ध्वजा, ३. दर्पण, ४. कलश, ५. चामर, ६. भृङ्गार (झारी), ७. ताल (ठवणा) और स्वस्तिक (साँथिया) अर्थात् सुप्रतीच्छक ऐसे आठ होते हैं । ऐसे चौतीस अतिशय के नाम कहे ।

आठ प्रातिहार्य होते हैं, उनके नाम ये हैं - १. अशोकवृक्ष, २. पुष्पवृष्टि, ३. दिव्यध्वनि, ४. चामर, ५. सिंहासन, ६. भामण्डल, ७. दुन्दुभिवादित्र और ८. छत्र - ऐसे आठ होते हैं । इसप्रकार गुणस्थान द्वारा अरहंत का स्थापन कहा ॥३२॥

+ मार्गणा में अरिहंत की स्थापना -

गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य संजम दंसण लेसा भविया सम्मत सण्णि आहारे ॥३३॥

अन्वयार्थ : १४ मार्गणा -- [गइ] गति, [इंदियं] पंचेन्द्रियों, [काए] काय, [जोए] योग, [वेए] वेद, [कसाय] कषाय, [णाणे] ज्ञान, [संजम] संयम, [दंसण] दर्शन, [लेसा] लेश्या, [भविया] भव्यत्व, [सम्मत] सम्यक्त्व, [सण्णि] संज्ञित्व, [च] और [आहारे] आहारक, इसप्रकार मार्गणा अपेक्षा अरिहंत भगवान् की स्थापना करनी चाहिए ।

छाबडा :

गतौ इन्द्रिये च काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने च;; संयमे दर्शने लेश्यायां भव्यत्वे सम्यक्त्वे सज्जिनि आहारे ॥३३॥;; गति इन्द्रिय कायरु योग वेद कसाय ज्ञानरु संयमा;; दर्शलेश्या भव्य सम्यक् संज्ञिना आहार हैं ॥३३॥

+ पर्याप्ति में अरिहंत की स्थापना -

आहारो य सरीरो इंदियमणआणपाणभासा य पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो ॥३४॥

अन्वयार्थ : [आहारो] आहार, [य] और [सरीरो] शरीर, [तह] तथा [इंदिय] इन्द्रिय, [आणपाण] श्वासोच्छ्वास, [भासा] भाषा, [य] और मन; -- इसप्रकार छह पर्याप्ति हैं, इस [पज्जत्तिगुण] पर्याप्ति गुण द्वारा [समिद्धो] समृद्ध अर्थात् युक्त [उत्तमदेवो] उत्तम देव [अरहो] अरहंत [हवइ] होते हैं ।

छाबडा :

आहारः च शरीरं इन्द्रियमनआनप्राणभाषाः च;; पर्याप्तिगुणसमृद्धः उत्तमदेवः भवति अर्हन् ॥३४॥;; आहार तन मन इन्द्रि श्वासोच्छ्वास भाषा छहों इन;; पर्याप्तियों से सहित उत्तम देव ही अरहंत हैं ॥३४॥

पर्याप्तिका स्वरूप इसप्रकार है—जो जीव एक अन्य पर्यायको छोड़कर अन्य पर्यायमें जावे तब विग्रह गतिमें तीन समय उत्कृष्ट बीचमें रहे, पीछे सैनी पंचेन्द्रियमें उत्पन्न हो । वहाँ तीन जातिकी वर्गणाका ग्रहण करे—आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, इसप्रकार ग्रहण करके 'आहार' जातिकी वर्गणासे तो आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास इसप्रकार चार पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्त कालमें पूर्ण करे, तत्पश्चात् भाषाजाति मनोजातिकी वर्गणासे अन्तर्मुहूर्तमें ही भाषा, मनःपर्याप्ति पूर्ण करे, इसप्रकार छहों पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण करता है, तत्पश्चात् आयुपर्यन्त पर्याप्त ही कहलाता है और नौकर्मवर्गणाका ग्रहण करता ही रहता है । यहाँ आहार नाम कवलाहारका नहीं जानना । इसप्रकार तेरहवें गुणस्थानमें भी अरहंतके पर्याप्त पूर्ण ही है, इसप्रकार पर्याप्ति द्वारा अरहंतकी स्थापना है ।

+ प्राण में अरिहंत की स्थापना -

पंच वि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा ॥३५॥

अन्वयार्थ : [पंचवि] पाँच [इंदियपाणा] इन्द्रिय-प्राण, [मनवयकाएण] मन-वचन-काय [तिण्णि] तीन [बलपाणा] बल-प्राण, एक [आणप्पाणप्पाणा] श्वासोच्छ्वास-प्राण और एक [आउगपाणेण] आयु-प्राण ये [दह] दस [पाणा] प्राण [होंति] होते हैं ।

छाबडा :

पञ्चापि इन्द्रियप्राणाः मनोवचनकायैः त्रयो बलप्राणाः;; आनप्राणप्राणाः आयुष्कप्राणेन भवन्ति दशप्राणाः ॥ ३५॥;; पंचेन्द्रियों मन-वचन-तन बल और श्वासोच्छ्वास भी;; अर आयु □ इनदशप्राणोंमें अरिहंतकी स्थापना ॥३५॥

इसप्रकार दस प्राण कहे उनमें तेरहवें गुणस्थान में भाव-इन्द्रिय और भावमन का क्षयोपशम-भाव-रूप प्रवृत्ति नहीं है इस अपेक्षा तो काय-बल, वचन-बल, श्वासोच्छ्वास और आयु - ये चार प्राण हैं और द्रव्य अपेक्षा दसों ही हैं । इसप्रकार प्राण द्वारा अरहंत का स्थापन है ॥३५॥

+ जीवस्थान में अरिहंत की स्थापना -

**मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्टाणेषु होइ चउदसमे
एदे गुणगणजुत्ते गुणमारूढो हवइ अरहो ॥३६॥**

अन्वयार्थ : [मणुयभवे] मनुष्य-भव में [पंचिंदिय] पंचेन्द्रिय नाम के [चउदसमे] चौदहवें [जीवट्टाणेषु] जीवस्थान अर्थात् जीव-समास [होइ] होते हैं, [एवे] इतने [गुणगण] गुणों के समूह से [जुत्तो] युक्त तेरहवें [गुणमारूढो] गुणस्थान में आरूढ़ अरहंत [हवइ] होते हैं ।

छाबडा :

मनजुभवे पञ्चेन्द्रियः जीवस्थानेषु भवति चतुर्दशेः, एतद्गुणगणयुक्तः गुणमारूढो भवति अर्हन् ॥३६॥; सैनी पंचेन्द्रियों नाम के इस चतुर्दश जीवस्थान में; अरहंत होते हैं सदा गुणसहित मानवलोक में ॥३६॥

जीवसमास चौदह कहे हैं - एकेन्द्रिय सूक्ष्म और बादर २. दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चोइन्द्रिय ऐसे विकलत्रय-३, पंचेन्द्रिय असैनी सैनी २, ऐसे सात हुए, ये पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चौदह हुए । इनमें चौदहवाँ 'सैनी पंचेन्द्रिय जीवस्थान' अरहंत के हैं । गाथा में सैनी का नाम न लिया और मनुष्य-भव का नाम लिया सो मनुष्य सैनी ही होते हैं, असैनी नहीं होते हैं, इसलिए मनुष्य कहने से 'सैनी' ही जानना चाहिए ॥३६॥

इसप्रकार जीवस्थान द्वारा 'स्थापना अरहंत' का वर्णन किया -

+ द्रव्य की प्रधानता से अरहंत का निरूपण -

**जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं
सिंहाण खेले सेओ णत्थि दुगुंछा य दोसो य ॥३७॥
दस पाणा पज्जती अट्टसहस्सा य लक्खणा भणिया
गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे ॥३८॥
एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं
ओरालियं च कायं णायव्वं अरहपुरिसस्स ॥३९॥**

अन्वयार्थ : अरहंत पुरुष के औदारिक काय इसप्रकार होता है, जो [जर] बुढ़ापा, [वाहि] व्याधि और रोग संबंधी [दुक्खरहियं] दुःख से रहित है, [आहारणिहार] आहार, मल-मूत्र विसर्जन से [वज्जियं] रहित है, [विमलं] मलमूत्र रहित है; [सिंहाण] श्लेष्म, [खेल] थूक-कफ, [सेओ] पसेव और दुर्गन्ध अर्थात् जुगुप्सा, [दुगुंछा] ग्लानि [य] और दुर्गन्धादि [दोसो] दोष उसमें [णत्थि] नहीं है ॥३७॥

[दसपाणा] दस तो उसमें प्राण होते हैं वे द्रव्यप्राण हैं, [पज्जती] पूर्ण पर्याप्ति है, [अट्टसहस्सा] एक हजार आठ [लक्खणा] लक्षण [भणिया] कहे हैं और [सव्वंगे] सर्वांग में [गोखीर] गाय के दूध तथा [संख] शंख जैसा [धवलंमंसं] धवल [रूहिरं] रुधिर और [मंसं] मांस है ॥३८॥

[एरिस] इसप्रकार [गुणेहिं] गुणों से संयुक्त [सव्वं] सर्व ही देह [अइसयवंतं] अतिशयसहित [सुपरिमलामोयं] उत्तम सुगन्ध से परिपूर्ण है, आमोद अर्थात् सुगंध जिसमें इसप्रकार [अरहपुरिसस्स] अरहंत पुरुष [ओरालियं] औदारिक [कायं] देह के [णायव्वं] जानो ॥३९॥

जराव्याधिदुःखरहितः आहारनीहारवर्जितः विमलः;सिंहाणः खेलः स्वेदः नास्ति दुर्गन्ध च दोषः च ॥३७॥;दश प्राणाः पर्याप्तयः अष्टसहस्राणि च लक्षणानि भणितानि;गोक्षीरशङ्खधवलं मांसं रुधिरं च सर्वाङ्गे ॥ ३८ ॥;ईदृशगुणैः सर्वः अतिशयवान् सुपरिमलामोदः;औदारिकश्च कायः अर्हत्पुरुषस्य ज्ञातव्यः ॥३९॥;व्याधी बुढ़ापा श्वेद मल आहार अर नीहार से;थूक से दुर्गन्ध से मल-मूत्र से वे रहित हैं ॥३७॥;अठ सहस लक्षण सहित हैं अर रक्त है गोक्षीर सम;दश प्राण पर्याप्ती सहित सर्वांग सुन्दर देह है ॥३८॥;इस तरह अतिशयवान निर्मल गुणों से सयुक्त हैं;अर परम औदारिक श्री अरिहंत की नरदेह है ॥३९॥

यहाँ द्रव्यनिक्षेप नहीं समझना । आत्मा से जुदा ही देह की प्रधानता से 'द्रव्य अरहंत' का वर्णन है ॥३७-३८-३९॥

इसप्रकार द्रव्य अरहंत का वर्णन किया ।

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविशुद्धो चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो ॥४०॥ सम्मद्दंसणि पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जया सम्मत्तगुणविशुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो ॥४१॥

अन्वयार्थ : अरिहन्त भगवान भाव निक्षेप की अपेक्षा -- [मय] मद (ज्ञानादि ८), [राय] राग (ममता रूप परिणामों), [दोस] दोष (क्षुधादि १८) [रहिओ] रहित, [कसायमल] कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ), नोकषाय (हास्य, रति, अरती, शोक, भय, जुगुप्सा, त्रिवेद -- ९) [वज्जिओ] रहित, [सुविसुद्धो] अत्यंतविशुद्ध, [चित्तपरिणाम] मन के व्यापार [रहियो] रहित [य] और [केवलभावे] केवल ज्ञानादि (क्षायिक) भावों से [मुणेयव्वो] युक्त जानने चाहिए । [सम्मद्दंसणि] सम्यग्दर्शन से तो अपने को तथा सबको सत्तमात्र [पस्सइ] देखते हैं, इसप्रकार जिनको केवलदर्शन है, [णाणेण] ज्ञान से सब [दव्वपज्जया] द्रव्य-पर्यायों को [जाणदि] जानते हैं, जिनको [सम्मत्त] सम्यक्त्व [गुणविशुद्धो] गुण से विशुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व पाया जाता है, इसप्रकार [अरहस्स] अरहंत को [भावो] भाव-निक्षेप से [णायव्वो] जानना चाहिए ।

मदरागदोषरहितः कषायमलवर्जितः च सुविशुद्धः;चित्तपरिणामरहितः केवलभावे ज्ञातव्यः ॥४०॥;सम्यग्दर्शनेन पश्यति ज्ञानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान्;सम्यक्त्वगुणविशुद्धः भावः अर्हतः ज्ञातव्यः ॥४१॥;(हिंदी);राग-द्वेष विकार वर्जित विकल्पों से पार हैं;कषायमल से रहित केवलज्ञान से परिपूर्ण हैं ॥४०॥

इसप्रकार अरहंत का निरूपण चौदह गाथाओं में किया । प्रथम गाथा में नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, गुण, पर्याय सहित च्यवन, आगति, संपत्ति ये भाव अरहंत को बतलाते हैं । इसका व्याख्यान नामादि कथन मंत सर्व ही आ गया, उसका संक्षेप भावार्थ लिखते हैं -

गर्भकल्याणक - प्रथम गर्भकल्याणक होता है, गर्भ में आने के छह महीने पहिले इन्द्र का भेजा हुआ कुबेर, जिस राजा की रानी के गर्भ में तीर्थकर आयेंगे, उसके नगर की शोभा करता है, रत्नमयी सुवर्णमयी मन्दिर बनाता है, नगर के कोट, खाई, दरवाजे, सुन्दर वन, उपवन की रचना करता है, सुन्दर भेषवाले नर-नारी नगर में बसाता है, नित्य राजमन्दिर पर रत्नों की वर्षा होती रहती है, तीर्थकर का जीव जब माता के गर्भ में आता है, तब माता को सोलह स्वप्न आते हैं, रुचकवरद्वीप में रहनेवाली देवांगनायें माता की नित्य सेवा करती हैं, ऐसे नौ महीने पूरे होने पर प्रभु का तीन ज्ञान और दस अतिशय सहित जन्म होता है, तब तीन लोक में आनंदमय क्षोभ होता है, देवों के बिना बजाए बाजे बजते हैं, इन्द्र का आसन कंपायमान होता है, तब इन्द्र प्रभु का जन्म हुआ जानकर स्वर्ग से ऐरावत हाथी पर चढ़कर आता है, सर्व चार प्रकार के देव-देवी एकत्र होकर आते हैं, शची (इन्द्राणी) माता के पास जाकर गुप्तरूप से प्रभु को ले आती हैं, इन्द्र हर्षित होकर हजार नेत्रों से देखता है ।

फिर सौधर्म इन्द्र, बालक शरीरी भगवान को अपनी गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर चढ़कर मेरुपर्वत पर जाता है, ईशान

इन्द्र छत्र धारण करता है, सनत्कुमार, महेन्द्र इन्द्र चंवर ढोरते हैं, मेरु के पांडुकवन की पांडुकशिला पर सिंहासन के ऊपर प्रभु को विराजमान करते हैं, सब देव क्षीरसमुद्र में एक हजार आठ कलशों में जल लाकर देव-देवांगना गीत नृत्य वादित्र द्वारा बड़े उत्साह सहित प्रभु के मस्तक पर कलश ढारकर जन्मकल्याणक का अभिषेक करते हैं, पीछे शृंगार, वस्त्र, आभूषण पहिनाकर माता के मंदिर में लाकर माता को सौंप देते हैं, इन्द्रादिक देव अपने-अपने स्थान पर चले जाते हैं, कुबेर सेवा के लिए रहता है।

तदनन्तर कुमार अवस्था तथा राज्य अवस्था भोगते हैं। उसमें मनोवांछित भोग भोगकर फिर कुछ वैराग्य का कारण पाकर संसार-देह-भोगों से विरक्त हो जाते हैं। तब लौकान्तिक देव आकर, वैराग्य को बढ़ानेवाली प्रभु की स्तुति करते हैं, फिर इन्द्र आकर 'तपकल्याणक' करता है। पालकी में बैठाकर बड़े उत्सव से वन में ले जाता है, वहाँ प्रभु पवित्र शिला पर बैठकर पंचमुष्टि से लोचकर पंच महाव्रत अंगीकार करते हैं, समस्त परिग्रह का त्याग कर दिगम्बररूप धारण कर ध्यान करते हैं, उसीसमय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो जाता है। फिर कुछ समय व्यतीत होने पर तप के बल से घातिकर्म की प्रकृति ४७, अघाति कर्मप्रकृति १६, इसप्रकार त्रेसठ प्रकृति का सत्त में से नाशकर केवलज्ञान उत्पन्न कर अनन्तचतुष्टयरूप होकर क्षुधादिक अठारह दोषों से रहित अरहंत होते हैं।

फिर इन्द्र आकर समवसरण की रचना करता है सो आगमोक्त अनेक शोभासहित मणिसुवर्णमयी कोट, खाई, वेदी चारों दिशाओं में चार दरवाजे, मानस्तंभ, नाट्यशाला, वन आदि अनेक रचना करता है। उसके बीच सभामण्डप में बारह सभा, उनमें मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, देव, देवी, तिर्यच बैठते हैं। प्रभु के अनेक अतिशय प्रकट होते हैं। सभामंडप के बीच तीन पीठ पर गंधकुटी के बीच सिंहासन पर कमल के ऊपर अंतरीक्ष प्रभु विराजते हैं और आठ प्रातिहार्य युक्त होते हैं। वाणी खिरती है, उसको सुनकर गणधर द्वादशांग शास्त्र रचते हैं। ऐसे केवलज्ञानकल्याणक का उत्सव इन्द्र करता है। फिर प्रभु विहार करते हैं। उनका बड़ा उत्सव देव करते हैं। कुछ समय बाद आयु के दिन थोड़े रहने पर योगनिरोध कर अघातिकर्म का नाशकर मुक्ति पधारते हैं, तत्पश्चात् शरीर का अग्नि संस्कार कर इन्द्र उत्सवसहित 'निर्वाण कल्याणक' महोत्सव करता है। इसप्रकार तीर्थकर पंचकल्याणक की पूजा प्राप्त कर, अरहंत होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं - ऐसा जानना ॥४१॥

+ प्रव्रज्या (दीक्षा) का निरूपण -

**सुण्णहरे तरुहिट्टे उज्जणे तह मसाणवासे वा
गिरिगुह गिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा ॥४२॥
१सवसासत्तं तित्थं २वचचइदालत्तयं च वुत्तेहिं
जिणभवणं अह बेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति ॥४३॥
पंचमहव्वयजुत्त पंचिंदियसंजया गिरावेक्खा
सज्झायझाणजुत्त मुणिवरवसहा णिइच्छन्ति ॥४४॥**

अन्वयार्थ : [सुण्ण] सूना [हरे] घर, [तरु] वृक्ष का [हिट्टे] मूल, कोटर, [उज्जाणे] उद्यान, वन, [तह] तथा [मसाणवासे] श्मशानभूमि, [गिरिगुह] पर्वत की गुफा, [गिरिसिहरे] पर्वत का शिखर, [वा] या [भीमवजे] भयानक वन [अहव] अथवा [वसिते] वस्तिका - इनमें दीक्षासहित मुनि ठहरें।

[सवसासत्तं] स्ववशासक्त अर्थात् स्वाधीन मुनियों से आसक्त जो क्षेत्र उन क्षेत्रों में मुनि ठहरे। जहाँ से मोक्ष पधारे इसप्रकार तो [तित्थं] तीर्थस्थान और [वचचइदालत्तयंच] वच (आयतन आदिक परमार्थरूप संयमी मुनि, अरहंत, सिद्धस्वरूप उनके नाम के अक्षररूप 'मंत्र' तथा उनकी आज्ञारूप वाणी), चैत्य (उनके आकार धातु-पाषाण की प्रतिमा स्थापन), आलय (प्रतिमा तथा अक्षर मंत्र वाणी जिसमें स्थापित किये जाते हैं, इसप्रकार आलय-मंदिर) [वुत्तेहिं] कहा गया है अर्थात् तथा को 'चैत्य' कहते हैं और वह यंत्र या पुस्तकरूप ऐसा वच, चैत्य तथा आलय का त्रिक है अथवा [जिणभवणं] जिनभवन अर्थात् अकृत्रिम चैत्यालय मंदिर इसप्रकार आयतनादिक उनके समान ही उनका व्यवहार उसे [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [जिणवरा] जिनवर देव [वेज्झं] दीक्षासहित मुनियों के ध्यान करने योग्य, चिन्तन करने योग्य [विंति] जानते हैं।

[वसहा] श्रेष्ठ [मुणिवर] मुनिराज [पंचमहव्वयजुत्ता] पाँच महाव्रत संयुक्त हैं, [पंचिंदियसंजया] पाँच इन्द्रियों को भले प्रकार जीतनेवाले हैं, [गिरावेक्खा] निरपेक्ष हैं, [णिइच्छन्ति] किसीप्रकार की वांछा से मुनि नहीं हुए हैं, [सज्झाय] स्वाध्याय और [झाणजुत्ता] ध्यानयुक्त हैं।

छाबडा :

शून्यगृहे तरुमूले उद्याने तथा श्मसानवासे वा; गिरिगुहायां गिरिशिखरे वा भीमवने अथवा वसतौ वा ॥
४२ ॥; स्ववशासक्तं तीर्थं वचश्चैत्यालयत्रिकं च उक्तैः; जिनभवनं अथ वेध्यं जिनमार्गे जिनवरा विदन्ति ॥
४३ ॥; पञ्चमहाव्रतयुक्ताः पञ्चेन्द्रियसंयताः निरपेक्षाः; स्वाध्यायध्यानयुक्ताः मुनिवरवृषभाः नीच्छन्ति ॥४४॥

यहाँ दीक्षायोग्य स्थान तथा दीक्षासहित दीक्षा देनेवाले मुनि का तथा उनके चिंतन योग्य व्यवहार का स्वरूप कहा है ॥
४२-४३-४४ ॥

+ प्रव्रज्या का स्वरूप -

**गिहगन्धमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकषाया
पावारंभविमुक्का पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥४५॥**

अन्वयार्थ : [गिह] गृह (घर) और [गन्ध] ग्रन्थ (परिग्रह) इन दोनों से मुनि तो [मोहमुक्का] मोह / ममत्व / इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से रहित ही है, जिनमें [बावीसपरीसहा] बाईस परीषहों का सहना होता है, [जियकसाया] कषायों को जीतते हैं और [पावारंभ] पापरूप आरंभ से [विमुक्का] रहित हैं, [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] प्रव्रज्या जिनेश्वरदेव ने [भणिया] कही है ।

छाबडा :

गृहग्रन्थमोहमुक्ता द्वाविंशतिपरीषहा जितकषाया; पापारम्भविमुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४५॥

जैनदीक्षा में कुछ भी परिग्रह नहीं, सर्व संसार का मोह नहीं, जिसमें बाईस परीषहों का सहना तथा कषायों का जीतना पाया जाता है और पापारंभ का अभाव होता है । इसप्रकार की दीक्षा अन्यमत में नहीं है ॥४५॥

**धणधणवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४६॥**

अन्वयार्थ : [धण] धन, [धण्ण] धान्य, [वत्थ] वस्त्र इनका [दाणं] दान, [हिरण्य] सोना आदिक, [सयणा] शय्या, [सणाइ] आसन [छत्ताइं] छत्र, चामरादिक और क्षेत्र आदि [कुद्दाण] कुदानों से [विरहरहिया] रहित [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] प्रव्रज्या [भणिया] कही है ।

छाबडा :

धनधान्यवस्त्रदानं हिरण्यशयनासनादि छत्रादि; कुदानविरहरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४६॥

अन्यमती, बहुत से इसप्रकार प्रव्रज्या कहते हैं - गौ, धन, धान्य, वस्त्र, सोना, रूपा (चाँदी), शयन, आसन, छत्र, चंवर और भूमि आदि का दान करना प्रव्रज्या है । इसका इस गाथा में निषेध किया है - प्रव्रज्या तो निर्ग्रन्थस्वरूप है, जो धन, धान्य आदि रखकर दान करे उसके काहे की प्रव्रज्या ? यह तो गृहस्थ का कर्म है, गृहस्थ के भी इन वस्तुओं के दान से विशेष पुण्य तो होता नहीं है, क्योंकि पाप बहुत हैं और पुण्य अल्प है वह बहुत पापकार्य तो गृहस्थ को करने में लाभ नहीं है । जिसमें बहुत लाभ हो वही काम करना योग्य है । दीक्षा तो इन वस्तुओं से रहित ही है ॥४६॥

**सत्तूमित्ते य समा पसंसणिंदा अलद्धिलद्धिसमा
तणकणए समभावा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥४७॥**

अन्वयार्थ : [सत्तु] शत्रु [व] और [मित्ते] मित्र में [समा] समभाव है, [पसंसणिंदा] प्रशंसा-निन्दा में, [अलद्धिलद्धि] अलाभ-लाभ में और [तणकणए] तृण-कंचन में [समभावा] समभाव है । [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] प्रव्रज्या [भणिया] कही है ।

छाबडा :

शत्रौ मित्रे च समा प्रशंसानिन्दाऽलब्धिलब्धिसमाः, तृणे कनके समभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४७॥

जैनदीक्षा में राग-द्वेष का अभाव है । शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा, लाभ-अलाभ और तृण-कंचन में समभाव है । जैनमुनियों की दीक्षा इसप्रकार ही होती है ॥४७॥

**उत्तममज्झिमगेहे दारिद्रे ईसरे णिरावेक्खा
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥४८॥**

अन्वयार्थ : [उत्तम] शोभा सहित राजभवनादि और [मज्झिम] मध्यम [गेहे] घरों में, तथा [दारिद्रे] दरिद्र [ईसरे] धनवान् इनमें [णिरावेक्खा] निरपेक्ष अर्थात् इच्छारहित हैं, [सव्वत्थ] सब ही योग्य जगह पर [गिहिदपिंडा] आहार ग्रहण किया जाता है, [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] प्रव्रज्या [भणिया] कही है ।

छाबडा :

उत्तममध्यगेहे दरिद्रे ईश्वरे निरपेक्षाः, सर्वत्र गृहीतपिण्डा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४८॥

मुनि दीक्षासहित होते हैं और आहार लेने को जाते हैं, तब इसप्रकार विचार नहीं करते हैं कि बड़े घर जाना अथवा छोटे घर वा दरिद्री के घर या धनवान के घर जाना इसप्रकार वांछारहित निर्दोष आहार की योग्यता हो वहाँ सब ही जगह से योग्य आहार ले लेते हैं, इसप्रकार दीक्षा है ॥४८॥

**णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्धोसा
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥४९॥**

अन्वयार्थ : [णिग्गंथा] निर्ग्रन्थ / परिग्रह से रहित, [णिस्संगा] निस्संग / स्त्री आदि के संसर्ग रहित, [णिम्माणासा] तृष्णा से रहित / आठ मर्दों से रहित, [अराय] रागरहित, [णिद्धोसा] निर्दोषा / निर्द्वेषा, [णिम्मम] ममत्व रहित भाव, [णिरहंकार] अहंकार रहित [पव्वज्जा एरिसा भणिया] इसप्रकार दीक्षा कही है ।

छाबडा :

निर्ग्रन्था निःसङ्गा निर्मानाशा अरागा निर्द्वेषाः, निर्ममा निरहङ्कारा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४९॥

अन्यमती भेष पहिनकर उसी मात्र को दीक्षा मानते हैं, वह दीक्षा नहीं है, जैनदीक्षा इसप्रकार कही है ॥४९॥

**णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥५०॥**

अन्वयार्थ : [णिण्णेहा] निस्नेही, [णिल्लोहा] निर्लोभी, [णिम्मोहा] निर्मोही, [णिव्वियार] निर्विकार, [णिक्कलुसा] निकलुष, [णिब्भय] भय, [णिरासभावा] आशाभाव रहित और निराश भाव सहित, [एरिसा] इसप्रकार [पव्वज्जा] जिन दीक्षा [भणिया] कही गई है ।

छाबडा :

निःस्नेहा निर्लोभा निर्मोहा निर्विकारा निःकलुषाः;निर्भया निराशभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥५०॥

जैनदीक्षा ऐसी है । अन्यमत में स्व-पर द्रव्य का भेदज्ञान नहीं है, उनके इसप्रकार दीक्षा कहाँ से हो ॥५०॥

+ दीक्षा का बाह्यस्वरूप -

**जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुय णिराउहा संता
परकियणिलयणिवासा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥५१॥**

अन्वयार्थ : [जहजायरूव] तत्काल जन्मे बालक के नग्नरूप [सरिसा] सदृश्य, [भुअ] भुजाये (हाथ) [अवलंबिय] जिसरूप में नीचे को लटकी रहती है(कायोत्सर्ग में), तथा [णिराउहा] निरायुध / शस्त्रों से रहित या [संता] शांत है, [परकिय] अन्यो द्वारा निर्मित [णिलय] उपाश्रय में [णिवासा] निवास करते हैं, [एरिसा] इसप्रकार [पव्वजा] दीक्षा का स्वरूप [भणिया] बताया है ।

छाबडा :

यथाजातरूपसदृशी अवलम्बितभुजा निरायुधा शान्ताः;परकृतनिलयनिवासा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥५१॥

अन्यमती कई लोग बाह्य में वस्त्रादिक रखते हैं, कई आयुध रखते हैं, कई सुख के लिए आसन चलाचल रखते हैं, कई उपाश्रय आदि रहने का निवास बनाकर उसमें रहते हैं और अपने को दीक्षासहित मानते हैं, उनके भेषमात्र है, जैनदीक्षा तो जैसी कही वैसी ही है ॥५१॥

**उवसमखमदमजुत्त सरीरसंस्कारवज्जिया रुक्खा
मयरायदोसरहिया पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥५२॥**

अन्वयार्थ : [उवसम] उपशम / मोहकर्म के उदय का अभावरूप शांतपरिणाम, [खम] कषायों के शमन और [दम] इन्द्रिय और मन के दमन [जुत्ता] युक्त, [सरीरसंस्कार] शरीर के संस्कार [वज्जिया] रहित [रुक्खा] रुक्ष अर्थात् तेल आदि का मर्दन शरीर के नहीं है, [मय] मद और [रायदोस] राग द्वेष से [रहिया] रहित [पव्वजा] जिनदीक्षा [एरिसा] इसप्रकार [भणिया] कही है ।

छाबडा :

उपशमक्षमदमयुक्ता शरीरसंस्कार वर्जिता रूक्षाः;मदरागदोषरहिता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥५२॥

अन्यमत के भेषी क्रोधादिरूप परिणमते हैं, शरीर को सजाकर सुन्दर रखते हैं, इन्द्रियों के विषयों का सेवन करते हैं और अपने को दीक्षासहित मानते हैं, वे तो गृहस्थ के समान हैं, अतीत (यति) कहलाकर उलटे मिथ्यात्व को दृढ़ करते हैं; जैनदीक्षा इसप्रकार है, वही सत्यार्थ है, इसको अंगीकार करते हैं, वे ही सच्चे अतीत (यति) हैं ॥५२॥

**विवरीयमूढभावा पणट्टकम्मट्ट णट्टमिच्छत्त
सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥५३॥**

अन्वयार्थ : [विवरीय] विपरीतता-रूप, [मूढभावा] मूढ भाव, [कम्मट्ट] अष्टकर्म, और [मिच्छत्ता] मिथ्यात्व [पणट्ट] नष्ट होकर [सम्मत्तगुणविसुद्धा] सम्यक्त्व गुणों से विशुद्ध [पव्वजा] जिनदीक्षा [एरिसा] इसप्रकार [भणिया] कही है ।

छाबडा :

विपरीतमूढभावा प्रणष्टकर्माष्टा नष्टमिथ्यात्वाः, सम्यक्त्वगुणविशुद्धा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥५३॥

जिणमग्गे पव्वज्ज छहसंहणणेषु भणिय णिग्गंथा भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥५४॥

अन्वयार्थ : [जिणमग्गे] जिन मार्ग मे [पव्वज्जा] दीक्षा, [छहसंघयणेषु] छहों संहनन में [भणिय] कही है, [णिग्गंथा] निर्ग्रंथ अपरिग्रहीयों के [भव्वपुरिसा] भव्य पुरुष ही इसकी [भावंति] भावना करते हैं, [कम्मक्खय] कर्म क्षय में [कारणे] कारण [भणिया] कही है ।

छाबडा :

जिनमार्गे प्रव्रज्या षट्संहननेषु भणिता निर्ग्रन्थाः, भावयन्ति भव्यपुरुषाः कर्मक्षयकारणे भणिता ॥५४॥

वज्रवृषभनाराच आदि, छह शरीर के संहनन कहे हैं, उनमें सबमें ही दीक्षा होना कहा है, जो भव्यपुरुष हैं वे कर्मक्षय का कारण जानकर इसको अंगीकार करो । इसप्रकार नहीं है कि दृढ़ संहनन वज्रऋषभ आदि हैं उनमें ही दीक्षा हो और असंसृपाटिक संहनन में न हो, इसप्रकार निर्ग्रन्थरूप दीक्षा तो असंप्राप्तसृपाटिका संहनन में भी होती है ॥५४॥

तिलतुसमत्तणिमित्तसम बाहिरग्गंधसंगहो णत्थि पव्वज्ज हवइ एसा जह भणिया सव्वदरसीहिं ॥५५॥

अन्वयार्थ : [तिलओसत्त] तिल-तुष मात्र सत्व का [निमित्तं] कारण इसप्रकार भावरूप इच्छा अर्थात् अंतरंग परिग्रह और तिल-तुष [समवाहिर] बराबर भी बाह्य [गंध] परिग्रह का [संगहो] संग्रह मुनि के [णत्थि] नहीं है, [एसा] वही [पावज्ज] दीक्षा [हवइ] है [जह] जैसी [सव्वदरिसीहिं] सर्वदर्शी/सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान ने [भणिय] कही है ।

छाबडा :

तिलतुषमात्रनिमित्तसमः बाह्यग्रन्थसङ्ग्रहः नास्तिः, प्रव्रज्या भवति एषा यथा भणिता सर्वदर्शिभिः ॥५५॥

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च १अत्थइ सिल कट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ ॥५६॥

अन्वयार्थ : [उवसग्ग] उपसर्ग और [परिसह] परिषह का सहना, [णिच्च] निरंतर [णिज्जणदेसे] निर्जन (मनुष्य रहित) स्थानों पर [हि] ही [अत्थेइ] रहना, [सव्वत्थ] सर्वत्र [सिल] शिला, [कट्ठे] काष्ठ, [भूमितले] भूमि तल पर [सव्वे] इस सब प्रदेशों में [आरुहइ] रहना, इसप्रकार जिनदीक्षा कही है ।

छाबडा :

उपसर्गपरीषहसहा निर्जनदेशे हि नित्यं तिष्ठतिः, शिलायां काष्ठे भूमितले सर्वाणि आरोहति सर्वत्र ॥५६॥

जैनदीक्षावाले मुनि उपसर्गपरीषह में समभाव रखते हैं और जहाँ सोते हैं, बैठते हैं, वहाँ निर्जन प्रदेश में शिला, काष्ठ, भूमि में ही बैठते हैं, सोते हैं, इसप्रकार नहीं है कि अन्यमत के भेषीवत् स्वच्छन्दी प्रमादी रहें, इसप्रकार जानना चाहिए ॥५६॥

पशुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ सज्झायझाणजुत्त पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥५७॥

अन्वयार्थ : [पशु] पशु, [महिल] महिला, [संढ] नपुंसको के [संगं] साथ, [कुसीलसंगं] कुशील मनुष्यो के साथ [विकहाओ] विकथा [ण] नहीं [कुणइ] करते हैं, तथा [सज्झाय] स्वाध्याय और [झाण] ध्यान [जुत्ता] युक्त [पव्वजा] जिनदीक्षा [एरिसा] इसप्रकार [भणिया] कही है ।

छाबडा :

पशुमहिलाषण्डसङ्गं कुशीलसङ्गं न करोति विकथाः; स्वाध्यायध्यानयुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥५७॥

जिनदीक्षा लेकर कुसंगति करे, विकथादिक करे और प्रमादी रहे तो दीक्षा का अभाव हो जाय, इसलिए कुसंगति निषिद्ध है । अन्य भेष की तरह यह भेष नहीं है । यह मोक्षमार्ग है, अन्य संसारमार्ग है ॥५७॥

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्ज एरिसा भणिया ॥५८॥

अन्वयार्थ : [तव] अन्तरंग और बहिरंग तप, [वय] महाव्रत और [गुणेहिं] उत्तर-गुणों से [सुद्धा] शुद्ध (निरतिचार), [संजम] इन्द्रिय और प्राणी संयम, [सम्मत्त] सम्यक्त्व [गुणविसुद्धा] गुण से विशुद्ध (निर्दोष सम्यग्दर्शन) [य] और [सुद्धा] निर्दोष [गुणेहिं] मूलगुणों से शुद्ध [पव्वजा] जिनदीक्षा [एरिसा] इसप्रकार [भणिया] कही है ।

छाबडा :

तपोव्रतगुणैः शुद्धा संयमसम्यक्त्वगुणविशुद्धा च; शुद्धा गुणैः शुद्धा प्रव्रज्या ईदृशी भणिताः ॥५८॥

तप व्रत सम्यक्त्व इन सहित और जिनमें इनके मूलगुण तथा अतिचारों का शोधना होता है इसप्रकार दीक्षा शुद्ध है । अन्य वादी तथा श्वेताम्बरादि चाहे जैसे कहते हैं, वह दीक्षा शुद्ध नहीं है ॥५८॥

एवं १आयत्तणगुणपज्जंता बहुविसुद्धसम्मत्ते णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं ॥५९॥

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार पूर्वोक्त, [णिग्गंथे] निर्ग्रन्थ दीक्षा [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [संखेवेणं] संक्षेप में, [बहुविसुद्ध] अत्यंत विशुद्ध [सम्मत्ते] सम्यक्त्व युक्त [आयत्तगुण] आत्मगुणों की भावना से [पज्जत्ता] परिपूर्ण, [जहाखादं] यथा-ख्यात है ।

छाबडा :

एवं आयतनगुणपर्याप्ता बहुविशुद्धसम्यक्त्वे; निर्ग्रन्थे जिनमार्गे सङ्क्षेपेण यथाख्यातम् ॥५९॥

इसप्रकार पूर्वोक्त प्रव्रज्या निर्मल सम्यक्त्वसहित निर्ग्रन्थरूप जिनमार्ग में कही है । अन्य नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, मीमांसक, पातंजलि और बौद्ध आदिक मत में नहीं है । कालदोष से जैनमत में भ्रष्ट हो गये और जैन कहलाते हैं इसप्रकार के श्वेताम्बरादिक में भी नहीं है ॥५९॥

इसप्रकार प्रव्रज्या के स्वरूप का वर्णन किया ।

रूपस्थं शुद्धस्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहियंकरं उत्तं ॥६०॥

अन्वयार्थ : जिसमें अंतरंग भावरूप अर्थ [शुद्धस्थं] शुद्ध है और ऐसा ही [रूपस्थ] रूपस्थ अर्थात् बाह्यस्वरूप मोक्षमार्ग [जह] जैसा [जिणमग्गे] जिनमार्ग में [जिणवरेहिं] जिनदेव ने [भणियं] कहा है, वैसा [छक्काय] छहकाय के जीवों का [हियंकरं] हित करनेवाला मार्ग [भव्वजण] भव्यजीवों के [बोहणत्थं] संबोधने के लिए [उत्तं] कहा है ।

छाबडा :

रूपस्थं शुद्धस्थं जिणमार्गे जिणवरैः यथा भणितम्; भव्यजनबोधनार्थं षट्कायहितङ्करं उक्तम् ॥६०॥

इस बोधपाहुड में आयतन आदि से लेकर प्रव्रज्यापर्यन्त ग्यारह स्थल कहे । इनका बाह्य-अंतरंग स्वरूप जैसे जिनदेव ने जिनमार्ग में कहा वैसे ही कहा है । कैसा है यह रूप ? छह काय के जीवों का हित करनेवाला है, जिसमें एकेन्द्रिय आदि असैनी पर्यन्त जीवों की रक्षा का अधिकार है, सैनी पंचेन्द्रिय जीवों की रक्षा भी कराता है और मोक्षमार्ग का उपदेश करके संसार का दुःख मेटकर मोक्ष को प्राप्त कराता है, इसप्रकार के मार्ग (उपाय) भव्यजीवों के संबोधने के लिए कहा है । जगत के प्राणी अनादि से लगाकर मिथ्यामार्ग में प्रवर्तनकर संसार में भ्रमण करते हैं, इसीलिए दुःख दूर करने के लिए आयतन आदि ग्यारह स्थान धर्म के ठिकाने का आश्रय लेते हैं, अज्ञानी जीव इन स्थानों पर अन्यथा स्वरूप स्थापित करके उनसे सुख लेना चाहते हैं, वह यथार्थ के बिना सुख कहाँ ? इसलिए आचार्य दयालु होकर जैसे सर्वज्ञ ने कहे वैसे ही आयतन आदि का स्वरूप संक्षेप से यथार्थ कहा है । इसको बाँचो, पढ़ो, धारण करो और इसकी श्रद्धा करो । इसके अनुसार तद्रूपप्रवृत्ति करो । इसप्रकार करने से वर्तमान में सुखी रहो और आगामी संसार दुःख से छूटकर परमानन्दस्वरूप मोक्ष को प्राप्त करो । इसप्रकार आचार्य के कहने का अभिप्राय है ।

यहाँ कोई पूछे - इस बोधपाहुड में व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति के ग्यारह स्थान कहे । इनका विशेषण किया कि ये छहकाय के जीवों के हित करनेवाले हैं । वह अन्यमती इनको अन्यथा स्थापित कर प्रवृत्ति करते हैं, वे हिंसारूप हैं और जीवों के हित करनेवाले नहीं हैं । ये ग्यारह ही स्थान संयमी मुनि और अरहंत, सिद्ध को ही कहे हैं । ये तो छहकाय के जीवों के हित करनेवाले ही हैं, इसलिए पूज्य हैं । यह तो सत्य है और जहाँ रहते हैं, इसप्रकार आकाश के प्रदेशरूप क्षेत्र तथा पर्वत की गुफा वनादिक तथा अकृत्रिम चैत्यालय ये स्वयमेव बने हुए हैं, उनको भी प्रयोजन और निमित्त विचार उपचारमात्र से छहकाय के जीवों के हित करनेवाले कहें तो विरोध नहीं है, क्योंकि ये प्रदेश जड़ हैं, ये बुद्धिपूर्वक किसी का बुरा-भला नहीं करते हैं तथा जड़ को सुख-दुःख आदि फल का अनुभव नहीं है, इसलिए ये भी व्यवहार से पूज्य हैं, क्योंकि अरहंतादिक जहाँ रहते हैं, वे क्षेत्र-निवास आदिक प्रशस्त हैं, इसलिए उन अरहंतादिक के आश्रय से ये क्षेत्रादिक भी पूज्य हैं, परन्तु

प्रश्न - गृहस्थ जिनमंदिर बनावे, वस्तिका, प्रतिमा बनावे और प्रतिष्ठा पूजा करे उसमें तो छहकाय के जीवों की विराधना होती है, यह उपदेश और प्रवृत्ति की बाहुल्यता कैसे है ?

समाधान - गृहस्थ, अरहंत, सिद्ध और मुनियों का उपासक हैं, ये जहाँ साक्षात् हों वहाँ तो उनकी वंदना, पूजन करता ही है । जहाँ ये साक्षात् न हों वहाँ परोक्ष संकल्प कर वंदना पूजन करता है तथा उनके रहने का क्षेत्र तथा ये मुक्त हुए उस क्षेत्र में तथा अकृत्रिम चैत्यालय में उनका संकल्प कर वन्दना व पूजन करता है । इसमें अनुरागविशेष सूचित होता है, फिर उनकी मुद्रा, प्रतिमा तदाकार बनावे और उसको मंदिर बनाकर प्रतिष्ठा कर स्थापित करे तथा नित्य पूजन करे इसमें अत्यन्त अनुराग से सूचित होता है, उस अनुराग से विशिष्ट पुण्यबंध होता है और उस मंदिर में छहकाय के जीवों के हित की रक्षा का उपदेश होता है तथा निरन्तर सुननेवाले और धारण करनेवाले के अहिंसा धर्म की श्रद्धा दृढ़ होती है तथा उनकी तदाकार प्रतिमा देखनेवाले के शांत भाव होते हैं, ध्यान की मुद्रा का स्वरूप जाना जाता है और वीतरागधर्म से अनुराग विशेष होने से पुण्यबन्ध होता है, इसलिए इनको भी छहकाय के जीवों के हित करनेवाले उपचार से कहते हैं ।

जिनमंदिर वस्तिका प्रतिमा बनाने में तथा पूजा प्रतिष्ठा करने में आरम्भ होता है, उसमें कुछ हिंसा भी होती है । ऐसा आरम्भ तो गृहस्थ का कार्य है, इसमें गृहस्थ को अल्प पाप कहा, पुण्य बहुत कहा है, क्योंकि गृहस्थ के पद में न्यायकार्य करके, न्यायपूर्वक धन उपार्जन करना, रहने के लिए मकान बनवाना, विवाहादिक करना और यत्नपूर्वक आरंभ कर आहारादिक स्वयं बनाना तथा खाना इत्यादिक कार्यों में यद्यपि हिंसा होती है तो भी गृहस्थ को इनका महापाप नहीं कहा जाता है । गृहस्थ के तो महापाप मिथ्यात्व का सेवन करना, अन्याय, चोरी आदि से धन उपार्जन करना, त्रसजीवों को मारकर मांस आदि अभक्ष्य खाना और परस्त्री सेवन करना ये महापाप हैं ।

गृहस्थाचार छोड़कर मुनि हो जावे तब गृहस्थ के न्यायकार्य भी अन्याय ही हैं । मुनि के भी आहार आदि की प्रवृत्ति में कुछ

हिंसा होती है, उससे मुनि को हिंसक नहीं कहा जाता है, वैसे ही गृहस्थ के न्यायपूर्वक अपने पद के योग्य आरंभ के कार्यों में अल्प पाप ही कहा जाता है, इसलिए जिनमंदिर, वस्तिका और पूजा प्रतिष्ठा के कार्यों में आरंभ का अल्प पाप है, मोक्षमार्ग में प्रवर्तनेवाले से अति अनुराग होता है और उनकी प्रभावना करते हैं, उनको आहारदानादिक देते हैं और उनका वैयावृत्यादि करते हैं। ये सम्यक्त्व के अंग हैं और महान पुण्य के कारण हैं, इसलिए गृहस्थ को सदा ही करना योग्य है और गृहस्थ होकर ये कार्य न करे तो ज्ञात होता है कि इसके धर्मानुराग विशेष नहीं है।

प्रश्न – गृहस्थी को जिसके बिना चले नहीं इसप्रकार के कार्य तो करना ही पड़े और धर्म पद्धति में आरम्भ का कार्य करके पाप क्यों मिलावे, सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रोषध आदि करके पुण्य उपजावे।

समाधान – यदि तुम इसप्रकार कहो तो तुम्हारे परिणाम तो इस जाति के हैं नहीं, केवल बाह्यक्रिया मात्र में ही पुण्य समझते हो। बाह्य में बहु आरंभ परिग्रह का मन, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि निरारंभ कार्यों में विशेषरूप से लगता नहीं है, यह अनुभवगम्य है, तुम्हारे अपने भावों का अनुभव नहीं है, केवल बाह्य सामायिकादि निरारंभ कार्य का भेष धारण कर बैठो तो कुछ विशिष्ट पुण्य नहीं है, शरीरादिक बाह्य वस्तु तो जड़ है, केवल जड़ की क्रिया का फल तो आत्मा को मिलता नहीं है। अपने भाव जितने अंश में बाह्यक्रिया में लगे; उतने अंश में शुभाशुभ फल अपने को लगता है, इसप्रकार विशिष्ट पुण्य तो भावों के अनुसार है।

आरंभी परिग्रही के भाव तो पूजा, प्रतिष्ठादिक बड़े आरंभ में ही विशेष अनुराग सहित लगते हैं। जो गृहस्थाचार के बड़े आरंभ से विरक्त होगा सो उसे त्यागकर अपना पद बढ़ावेगा, जब गृहस्थाचार के बड़े आरंभ छोड़ेगा तब उसीतरह धर्मप्रवृत्ति के बड़े आरम्भ भी पद के अनुसार घटावेगा। मुनि होगा तब आरम्भ क्यों करेगा? अतः तब तो सर्वथा आरम्भ नहीं करेगा, इसलिए मिथ्यादृष्टि बाह्यबुद्धि जो बाह्य कार्यमात्र ही को पुण्य-पाप मोक्षमार्ग समझते हैं, उनका उपदेश सुनकर अपने को अज्ञानी नहीं होना चाहिए। पुण्य-पाप के बंध में शुभाशुभ भाव ही प्रधान हैं और पुण्य-पापरहित मोक्षमार्ग है, उसमें सम्यग्दर्शनादिकरूप आत्मपरिणाम प्रधान है। (हेय बुद्धि सहित) धर्मानुराग मोक्षमार्ग का सहकारी है और (आंशिक वीतराग भाव सहित) धर्मानुराग के तीव्र मंद के भेद बहुत हैं, इसलिए अपने भावों को यथार्थ पहिचानकर अपनी पदवी, सामर्थ्य पहिचान-समझकर श्रद्धान-ज्ञान और उसमें प्रवृत्ति करना अपना भला-बुरा अपने भावों के आधीन है, बाह्य परद्रव्य तो निमित्तमात्र है, उपादानकारण हो तो निमित्त भी सहकारी हो और उपादान न हो तो निमित्त कुछ भी नहीं करता है, इसप्रकार इस बोधपाहुड का आशय जानना चाहिए।

इसको अच्छी तरह समझकर आयतनादिक जैसे कहे वैसे और इनका व्यवहार भी बाह्य वैसा ही तथा चैत्यगृह, प्रतिमा, जिनबिंब, जिनमुद्रा आदि धातु पाषाणादिक का भी व्यवहार वैसा ही जानकर श्रद्धान और प्रवृत्ति करनी। अन्यमती अनेकप्रकार स्वरूप बिगाड़कर प्रवृत्ति करते हैं उनको बुद्धि कल्पित जानकर उपासना नहीं करनी। इस द्रव्यव्यवहार का प्ररूपण प्रव्रज्या के स्थल में आदि से दूसरी गाथा में बिंबं चैत्यालयत्रिक और जिनभवन ये भी मुनियों के ध्यान करने योग्य हैं इसप्रकार कहा है सो गृहस्थ जब इनकी प्रवृत्ति करते हैं तब ये मुनियों के ध्यान करने योग्य होते हैं, इसलिए जो जिनमंदिर, प्रतिमा, पूजा, प्रतिष्ठा आदिक के सर्वथा निषेध करनेवाले वह सर्वथा एकान्ती की तरह मिथ्यादृष्टि हैं, इनकी संगति नहीं करना।

(मूलाचार पृ. ४९२ अ. १० गाथा ९६ में कहा है कि 'श्रद्धाभ्रष्टों के संपर्क की अपेक्षा (गृह में) प्रवेश करना अच्छा है; क्योंकि विवाह में मिथ्यात्व नहीं होगा, परन्तु ऐसे गण तो सर्व दोषों के आकर हैं, उसमें मिथ्यात्वादि दोष उत्पन्न होते हैं, अतः इनसे अलग रहना ही अच्छा है' ऐसा उपदेश है।)

+ बोधपाहुड पूर्वाचार्यों के अनुसार कहा है -

**सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥**

अन्वयार्थ : [सद्दवियारो] शब्द के विकार से [हूओ] उत्पन्न हुए [भासासुत्तेसु] भाषासूत्रों के द्वारा [जं जिणे कहियं] जैसा जिनदेव ने कहा, [सो तह कहियं] वैसा कहता हूँ जैसा [भद्दबाहुस्स] भद्रबाहु के [सीसेण] शिष्य से [णायं] जाना है ॥

छाबडा :

शब्दविकारो भूतः भाषासूत्रेषु यज्जिनेन कथितम्;;तत् तथा कथितं ज्ञातं शिष्येण च भद्रबाहोः ॥
६१॥;;जिनवरकथित शब्दत्वपरिणत समागत जो अर्थ है;;बस उसे ही प्रस्तुत किया भद्रबाहु के इस शिष्य ने

शब्द के विकार से उत्पन्न हुआ इसप्रकार अक्षररूप परिणामे भाषासूत्रों में जिनदेव ने कहा, वही श्रवण में अक्षररूप आया और जैसा जिनदेव ने कहा वैसा ही परम्परा से भद्रबाहु नामक पंचम श्रुतकेवली ने जाना और अपने शिष्य श्विशाखाचार्य आदि को कहा । वह उन्होंने जाना वही अर्थरूप विशाखाचार्य की परम्परा से चला आया । वही अर्थ आचार्य कहते हैं, हमने कहा है, वह हमारी बुद्धि से कल्पित करके नहीं कहा गया है, इसप्रकार अभिप्राय है ॥

+ भद्रबाहु स्वामी की स्तुतिरूप वचन -

बारसअंगवियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं सुयणाणि भद्रबाहु गमयगुरू भयवओ जयउ ॥६२॥

अन्वयार्थ : [भद्रबाहु] भद्रबाहु आचार्य जिनको [बारसअंगवियाणं] बारह अंगों का विशेष ज्ञान है, [चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं] जिनको चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार है, इसीलिए [सुयणाणि] श्रुतज्ञानी हैं, [गमयगुरू] गमक गुरु है, [भयवओ] भगवान हैं, वे [जयउ] जयवंत होंगे ।

छाबडा :

द्वादशाङ्गविज्ञानः चतुर्दशपूर्वाङ्ग विपुलविस्तरणः; श्रुतज्ञानिभद्रबाहुः गमकगुरुः भगवान् जयतु ॥६२॥

भद्रबाहु नाम आचार्य जयवंत होंगे, कैसे हैं ? जिनको बारह अंगों का विशेष ज्ञान है, जिनको चौदह पूर्वों का विपुल विस्तार है, इसीलिए श्रुतज्ञानी हैं, पूर्ण भावज्ञान सहित अक्षरात्मक श्रुतज्ञान उनके था, 'गमक गुरु' है जो सूत्र के अर्थ को प्राप्त कर उसीप्रकार वाक्यार्थ करे उसको 'गमक' कहते हैं, उनके भी गुरुओं में प्रधान हैं, भगवान हैं - सुरासुरों से पूज्य हैं, वे जयवंत होंगे । इसप्रकार कहने में उनको स्तुतिरूप नमस्कार सूचित है । 'जयति' धातु सर्वोत्कृष्ट अर्थ में है वह सर्वोत्कृष्ट कहने से नमस्कार ही आता है ।; (छप्पय);; प्रथम आयतन दुतिय चैत्यगृह तीजी प्रतिमा ।

दर्शन अर जिनबिम्ब छठो जिनमुद्रा यतिमा ॥; ज्ञान सातमूं देव आठमूं नवमूं तीरथ ।; दसमूं है अरहन्त ग्यारमूं दीक्षा श्रीपथ ॥; इम परमारथ मुनिरूप सति अन्यभेष सब निन्द्य है ।; व्यवहार धातुपाषाणमय आकृति इनिकी वन्द्य है ॥१॥; (दोहा);; भयो वीर जिनबोध यहु, गौतमगणधर धारि ।; बरतायो पञ्चमगुरु, नमूं तिनहिं मद छारि ॥२॥

(इति श्रीकुन्दकुन्दस्वामि विरचित बोधपाहुड की जयपुरनिवासि पण्डित जयचन्द्रछाबड़ाकृत देशभाषामयवचनिका समाप्त ॥४॥)

भाव-पाहुड

+ मंगलाचरण कर ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा -

णमिऊण जिणवरिं दे णरसुरभवणिंदवंदिए सिद्धे वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ॥१॥

अन्वयार्थ : [णरसुरभवणिंदवंदिए] मनुष्य, देव, पातालवासी देव -- इनके इन्द्रों के द्वारा वंदने योग्य [जिणवरिं दे] अरिहंत [सिद्धे] सिद्ध [अवसेसे संजदे] शेष संयतों को [सिरसा] मस्तक से [णमिऊण] नमस्कार करके [भावपाहुडम] भाव-पाहुड को [वोच्छामि] कहूँगा ।

नमस्कृत्य जिनवरेन्द्रान् नरसुरभवनेन्द्रवन्दितान् सिद्धान्;;वक्ष्यामि भावप्राभृतमवशेषान् संयतान् सिरसा ॥१॥

आचार्य भावपाहुड ग्रन्थ बनाते हैं; वह भावप्रधान पंचपरमेष्ठी हैं, उनको आदिमें नमस्कारयुक्त है, क्योंकि जिनवरेन्द्र तो इसप्रकार हैं-जिन अर्थात् गुणश्रेणी निर्जरायुक्त इसप्रकार के अविरतसम्यग्दृष्टि आदिकों में वर अर्थात् श्रेष्ठ ऐसे गणधरादिकों में इन्द्र तीर्थकर परमदेव हैं, वह गुणश्रेणीनिर्जरा शुद्धभाव से ही होती है । वे तीर्थकरभाव के फळ को प्राप्त हुए, घातिकर्म का नाश कर केवलज्ञानको प्राप्त किया, उसीप्रकार सर्व कर्मों का नाश कर, परम शुद्धभाव को प्राप्त कर सिद्ध हुए, आचार्य, उपाध्याय शुद्धभाव के एकदेश को प्राप्त कर पूर्णताको स्वयं साधते हैं तथा अन्य को शुद्धभाव की दीक्षा-शिक्षा देते हैं, इसीप्रकार साधु हैं वे भी शुद्धभाव को स्वयं साधते हैं और शुद्धभाव की ही महिमा से तीनलोक के प्राणियों द्वारा पूजने योग्य वंदने योग्य हैं, इसलिये भावप्राभृतकी आदिमें इनको नमस्कार युक्त है । मस्तक द्वारा नमस्कार करनेमें सब अंग आगये, क्योंकि मस्तक सब अंगोंमें उत्तम है । स्वयं नमस्कार किया तब अपने भावपूर्वक ही हुआ, तब मन-वचन-काय तीनों ही आगये, इसप्रकार जानना चाहिये ॥१॥

+ दो प्रकार के लिंग में भावलिंग परमार्थ -

**भावो हि पढमलिंगं, ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं
भावो कारणभूदो, गुणदोसाणं जिणा वेन्ति ॥२॥**

अन्वयार्थ : [भावो हि पढमलिंगं] भाव प्रथम लिंग है [ण दव्वलिंगं च] द्रव्य-लिंग नहीं [जाण परमत्थं] ऐसा निश्चय से जान, क्योंकि [गुणदोसाणं] गुण और दोषों का [कारणभूदो] कारणभूत [भावो] भाव ही है, इसप्रकार [जिणा] जिन भगवान [वेन्ति] कहते हैं ।

छाबडा :

भावः हि प्रथमलिंगं न द्रव्यलिंगं च जानीहि परमार्थम्;;भावो कारणभूतः गुणदोषाणां जिना ब्रुवन्ति ॥२॥

गुण जो स्वर्ग-मोक्ष का होना और दोष अर्थात् नरकादिक संसार का होना इनका कारण भगवान ने भावों का ही कहा है, क्योंकि कारण कार्य के पहिले होता है । यहाँ मुनि-श्रावक के द्रव्यलिंग के पहिले भावलिंग अर्थात् सम्यग्दर्शनादि निर्मलभाव हो तो सच्चा मुनि-श्रावक होता है, इसलिये भावलिंग ही प्रधान है । प्रधान है वही परमार्थ है, इसलिए द्रव्यलिंग को परमार्थ न जानना, इसप्रकार उपदेश किया है ।

यहाँ कोई पूछे-भावस्वरूप क्या है ? इसका समाधान-भाव का स्वरूप तो आचार्य आगे कहेंगे तो भी यहाँ भी कुछ कहते हैं- इस लोक में छह द्रव्य हैं, इनमें जीव पुद्गल का वर्तन प्रकट देखने में आता है-जीव चेतनास्वरूप है और पुद्गल स्पर्श, रस, गंध और वर्णस्वरूप जड़ है । इनकी अवस्थासे अवस्थान्तररूप होना ऐसे परिणामको भाव कहते हैं । जीव का स्वभाव-परिणामरूप भाव तो दर्शन-ज्ञान है और पुद्गल कर्म के निमित्त से ज्ञानमें मोह-राग-द्वेष होना विभावभाव है । पुद्गल के स्पर्शसे स्पर्शान्तर, रससे रसान्तर इत्यादि गुणों से गुणान्तर होना स्वभावभाव है और परमाणुसे स्कंध होना तथा स्कंधसे अन्य स्कंध होना और जीव के भाव के निमित्त से कर्मरूप होना ये विभावभाव हैं । इसप्रकार इनके परस्पर निमित्त-नैमित्तिक भाव होते हैं ।

पुद्गल तो जड़ है, इसके नैमित्तिकभाव से कुछ सुख-दुःख आदि नहीं है और जीव चेतन है, इसके निमित्त से भाव होते हैं-उनमें सुख-दुःख आदि होते हैं अतः जीव को स्वभावभावरूप रहनेका और नैमित्तिकभावरूप न प्रवर्तने का उपदेश है । जीव के पुद्गल कर्म के संयोग से देहादिक द्रव्य का संबंध है, इसप्रकार द्रव्य की प्रवृत्ति होती है । इसप्रकार द्रव्य-भाव का स्वरूप जानकर स्वभाव में प्रवर्त्त विभाव में न प्रवर्त्त उसके परमानन्द सुख होता है; और विभाव राग-द्वेष-मोहरूप प्रवर्त्त, उसके संसार सम्बन्धी दुःख होता है ।

द्रव्यरूप पुद्गल का विभाव है, इस सम्बन्धी जीव को दुःख-सुख नहीं होता अतः भावही प्रधान है, ऐसा न हो तो केवली भगवान को भी सांसारिक सुख-दुःख की प्राप्ति हो परन्तु ऐसा नहीं है । इसप्रकार जीव के ज्ञान-दर्शन तो स्वभाव है और राग-द्वेष-मोह ये स्वभाव विभाव हैं और पुद्गल के स्पर्शादिक तथा स्कन्धादिक स्वभाव विभाव हैं । उनमें जीव का हित-अहितभाव प्रधान है, पुद्गल-द्रव्य संबंधी प्रधान नहीं है । बाह्य द्रव्य निमित्तमात्र है, उपादान के बिना निमित्त कुछ करता नहीं

है । यह तो सामान्यरूप से स्वभाव का स्वरूप है और इसी का विशेष सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो जीव का स्वभाव-भाव है, इसमें सम्यग्दर्शन भाव प्रधान है । इसके बिना सब बाह्यक्रिया मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं ये विभाव हैं और संसार के कारण हैं, इसप्रकार जानना चाहिये ॥२॥

+ बाह्यद्रव्य के त्याग की प्रेरणा -

भावविसुद्धिणिमित्तं, बहिरंगस्स कीरए चाओ बाहिरचाओ विहलो, अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥३॥

अन्वयार्थ : [भावविसुद्धिणिमित्तं] भावों की विशुद्धि के लिए [बहिरंगस्स] बाह्य परिग्रह का [कीरए चाओ] त्याग किया जाता है, [अब्भंतरगंथजुत्तस्स] अभ्यन्तर परिग्रह से युक्त के [बाहिरचाओ] बाह्य परिग्रह का त्याग [विहलो] निष्फल है ।

छाबडा :

भावविशुद्धिनिमित्तं बाह्यग्रंथस्य क्रियते त्यागः, बाह्यत्यागः विफलः अभ्यन्तरग्रन्थयुक्तस्य ॥३॥

अन्तरंग भाव बिना बाह्य त्यागादिक की प्रवृत्ति निष्फल है, यह प्रसिद्ध है ॥३॥

+ करोड़ों भावों के भाव रहित तप द्वारा भी सिद्धि नहीं -

भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ जम्मंतराइ बहुसो लंवियहत्यो गलियवत्यो ॥४॥

अन्वयार्थ : [जइ] यदि [कोडिकोडीओ] कोडाकोडि [जम्मंतराइ] जन्मान्तरों तक [बहुसो] बहुत प्रकार से [लंवियहत्यो] हाथ लम्बे लटकाकर, [गलियवत्यो] वस्त्रादिक का त्याग करके [तवं चरइ] तपश्चरण करे, [वि] तो भी [भावरहिओ] भाव-रहित को [ण सिज्झइ] सिद्धि नहीं होती है ।

छाबडा :

भावरहितः न सिद्ध्यति यद्यपि तपश्चरति कोटिकोटीः, जन्मान्तराणि बहुशः लंबितहस्तः गलितवस्त्रः ॥४॥

भाव में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप विभाव रहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप स्वभाव में प्रवृत्त न हो, तो क्रीडाक्रीडि भव तक कायोत्सर्गपूर्वक नग्नमुद्रा धारणकर तपश्चरण करे तो भी मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती है, इसप्रकार भावों में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव प्रधान हैं, और इनमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है, क्योंकि इसके बिना ज्ञान-चारित्र मिथ्या कहे हैं, इसप्रकार जानना चाहिये ।

+ इस ही अर्थ को दृढ़ करते हैं -

परिणामम्मि असुद्धे गंथे मुञ्चेइ बाहिरे य जई बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ ॥५॥

अन्वयार्थ : [जई] यदि [परिणामम्मि] परिणाम [असुद्धे] अशुद्ध होते हुए [बाहिरे] बाह्य [गंथे मुञ्चेइ] परिग्रह [च] आदि को छोड़े तो [बाहिरगंथच्चाओ] बाह्य परिग्रह का त्याग उस [भावविहूणस्स] भावरहित को [किं कुणइ] क्या करे ? अर्थात् कुछ भी लाभ नहीं करता है ।

छाबडा :

परिणामे अशुद्धे ग्रन्थान् मुञ्चति बाह्यान च यदि, बाह्यग्रन्थत्यागः भावविहीनस्य किं करोति ॥५॥

जो बाह्य परिग्रह को छोड़कर मुनि बन जावे और परिणाम परिग्रहरूप अशुद्ध हों, अभ्यन्तर परिग्रह न छोड़े तो बाह्य-त्याग कुछ कल्याणरूप फल नहीं कर सकता । सम्यग्दर्शनादिभाव बिना कर्म-निर्जरारूप कार्य नहीं होता है ॥५॥

+ भाव को परमार्थ जानकर इसी को अंगीकार करो -

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिण पंथिय सिवपुरिपंथं जिणउवइट्ठं पयत्तेण ॥६॥

अन्वयार्थ : [जाणहि भावं पढमं] प्रथम भाव को जान, [किं ते लिंगेण भावरहिण] भावरहित लिंग से तुझे क्या प्रयोजन है ? [पंथिय सिवपुरिपंथं] शिवपुरी का पंथ [जिणउवइट्ठं पयत्तेण] जिनभगवंतो ने प्रयत्न-साध्य कहा है ।

छाबडा :

जानीहि भावं प्रथमं किं ते लिंगेण भावरहितेन; पथिक शिवपुरीपंथाः जिनोपदिष्टः प्रयत्नेन ॥६॥

मोक्षमार्ग जिनेश्वरदेव ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मभाव-स्वरूप परमार्थ से कहा है, इसलिये इसी को परमार्थ जानकर सर्व उद्यम से अंगीकार करो, केवल द्रव्य-मात्र लिंग से क्या साध्य है ? इसप्रकार उपदेश है ॥६॥

+ भाव-रहित द्रव्य-लिंग बहुत बार धारण किये, परन्तु सिद्धि नहीं हुई -

भावरहिण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरणिगंथरूवाइं ॥७॥

अन्वयार्थ : [सपुरिस] हे सत्पुरुष ! [अणाइकालं] अनादिकाल से लगाकर इस [अणंतसंसारे] अनन्त संसार में तूने [भावरहिण] भाव-रहित [बाहिरणिगंथरूवाइं] बाह्य में निर्ग्रन्थ रूप [बहुसो] बहुत बार [गहिउज्झियाइं] ग्रहण किये और छोड़े ।

छाबडा :

भावरहितेन सत्पुरुष ! अनादिकालं अनंतसंसारे; गृहीतो ज्झितानि बहुशः बाह्यनिर्ग्रन्थरूपाणि ॥७॥

भाव जो निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उनके बिना बाह्य निर्ग्रन्थरूप द्रव्यलिंग संसार में अनन्तकाल से लगाकर बहुत बार धारणा किये और छोड़े तो भी कुछ सिद्धि न हुई । चारों गतियों में भ्रमण ही करता रहा ॥७॥

+ भाव-रहितपने के कारण चारों गतियों में दुःख प्राप्ति -

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए पत्तो सि तिक्खदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव ! ॥८॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने [भीसणणरयगईए] भीषण (भयंकर) नरकगति तथा [तिरियगईए] तिर्यग्गति में और [कुदेवमणुगइए] कुदेव, कुमनुष्यगति में [तिक्खदुक्खं] तीव्र दुःख [पत्तो सि] पाये हैं, अतः अब तू [जिणभावणा] जिनभावना (शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना) [भावहि] भा ।

छाबडा :

भीषणनरकगतौ तिर्यग्गतौ कुदेवमनुष्यगत्योः; प्राप्तोऽसि तीव्रदुःखं भावय जिनभावना जीव ! ॥८॥

आत्मा की भावना बिना चार गति के दुःख अनादि काल से संसार में प्राप्त किये, इसलिये अब हे जीव ! तू जिनेश्वरदेव का शरण ले और शुद्धस्वरूप का बारबार भावनारूप अभ्यास कर, इससे संसार के भ्रमण से रहित मोक्ष को प्राप्त करेगा, यह उपदेश है ॥८॥

+ नरकगति के दुःख -

सत्तसु णरयावासे दारुणभीमाइं असहणीयाइं भुताइं सुइरकालं दुःक्खाइं णिरंतरं सहियं ॥९॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने [सत्तसु] सात [णरयावासे] नरकभूमियों के नरक-आवास बिलों में [दारुणभीमाइं] दारुण (तीव्र) तथा भयानक और [असहणीयाइं] असहनीय [दुःक्खाइं] दुःखों को [सुइरकालं] बहुत दीर्घ काल तक [णिरंतरं] निरन्तर ही [भुताइं] भोगे और [सहियं] सहे ।

छाबडा :

सप्तसु नरकावासेषु दारुणभीषणानि असहनीयानि; भुक्तानि सुचिरकालं दुःखानि निरंतरं सोढानि ॥९॥

नरक की पृथ्वी सात हैं, उनमें बिल बहुत हैं, उनमें दस हजार वर्षों से लगाकर तथा एक सागर से लगाकर तेतीस सागर तक आयु है जहाँ आयुपर्यन्त अति तीव्र दुःख यह जीव अनन्तकाल से सहता आया है ॥९॥

+ मनुष्यगति के दुःख -

खणणुत्तावणवालग, वेयणविच्छेयणाणिरोहं च पत्तोसि भावरहिओ, तिरियगईए चिरं कालं ॥१०॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने [तिरियगईए] तिर्यगति में [खणणुत्तावणवालग] खनन, उत्तापन, ज्वलन, [वेयणविच्छेयणाणिरोहं] वेदन, व्युच्छेदन, निरोधन [च] इत्यादि दुःख (सम्यग्दर्शन आदि) [भावरहिओ] भावरहित होकर [चिरं कालं] बहुत काल तक [पत्तोसि] प्राप्त किये ।

छाबडा :

खननोत्तापनज्वालन +वेदनविच्छेदनानिरोधं च; प्राप्तोडसि भावरहितः तिर्यगतौ चिरं कालं ॥१०॥

इस जीव ने सम्यग्दर्शनादि भाव बिना तिर्यच गति में चिरकाल तक दुःख पाये--पृथ्वीकाय में कुदाल आदि खोदने द्वारा दुःख पाये, जलकाय में अग्नि से तपना, ढोलना इत्यादि द्वारा दुःख पाये, अग्निकाय में जलाना, बुझाना आदि द्वारा दुःख पाये, पवनकाय में भार से हलका चलना, फटना आदि द्वारा दुःख पाये, वनस्पतिकाय में फाड़ना, छेदना, राँधना आदि द्वारा दुःख पाये, विकलत्रय में दूसरे से रुकना, अल्प आयु से मरना इत्यादि द्वारा दुःख पाये, पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी-जलचर आदि में परस्पर घात तथा मनुष्यादि द्वारा वेदना, भूख, तृषा, रोकना, वध-बंधन इत्यादि द्वारा दुःख पाये । इसप्रकार तिर्यचगति में असंख्यात अनन्तकालपर्यन्त दुःख पाये ॥१०॥

+ तिर्यचगति के दुःख -

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि दुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तो सि अणंतयं कालं ॥११॥

अन्वयार्थ : [मणुयजम्मे] मनुष्य-जन्म में [अणंतयं कालं] अनन्तकाल तक [आगंतुक] अकस्मात् (वज्रपातादिक का आ-गिरना), [माणसियं] मानसिक (विषयों की वांछा का होना और तदनुसार न मिलना), [सहजं] सहज (माता, पितादि द्वारा सहज से ही उत्पन्न हुआ तथा राग-द्वेषादिक से वस्तु के इष्ट-अनिष्ट मानने के दुःख का होना), [सारीरियं] शारीरिक (व्याधि, रोगादिक तथा परकृत छेदन, भेदन आदि) से हुए [दुःखाइं] दुःख ये [चत्तारि] चार प्रकार के और चकार से इनको आदि लेकर अनेक प्रकारके दुःख [पत्तो सि] पाये ।

+ देवगति के दुःख -

सुरणिलयेसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं संपत्तो सि महाजस दुःखं सुहभावणारहिओ ॥१२॥

अन्वयार्थ : [महाजस] हे महायश ! तूने [सुहभावणारहिओ] शुभभावना से रहित होकर [सुरणिलयेसु] देवलोक में [सुरच्छरविओयकाले] सुराप्सरा अर्थात् प्यारे देव [य] तथा प्यारी अप्सरा के वियोग-काल में उसके वियोग सम्बन्धी दुःख तथा [माणसं] मानसिक [तिव्वं] तीव्र [दुःखं] दुःखों को [संपत्तो सि] पाये हैं ।

छाबडा :

यहाँ महायश इसप्रकार सम्बोधन किया । उसका आशय यह है कि जो मुनि निर्ग्रन्थलिंग धारण करे और द्रव्यलिंगी मुनि की समस्त क्रिया करे, परन्तु आत्मा के स्वरूप शुद्धोपयोग के सन्मुख न हो उसका प्रधानतया उपदेश है कि मुनि हुआ वह तो बड़ा कार्य किया, तेरा यश लोक में प्रसिद्ध हुआ, परन्तु भली भावना अर्थात् शुद्धात्मतत्त्वका अभ्यास करके बिना तपश्चरणादि करके स्वर्ग में देव भी हुआ तो वहाँ भी विषयों का लोभी होकर मानसिक दुःख से ही तप्तायमान हुआ ॥१२॥

+ अशुभ भावना द्वारा देवों में भी दुःख -

कंदप्पमाइयाओ पंच वि असुहादिभावणाई य भाऊण दव्वलिंगी पहीणदेवो दिवे जाओ ॥१३॥

अन्वयार्थ : तू [दव्वलिंगी] द्रव्यलिंगी मुनि होकर [कंदप्पमाइयाओ] कान्दर्पी [पंच वि य] आदि पाँच [असुहादिभावणाई] अशुभ भावना [भाऊण] भाकर [पहीणदेवो] नीच देव होकर [दिवे] स्वर्ग में [जाओ] उत्पन्न हुआ ।

छाबडा :

कान्दर्पी, किल्बिषिकी, संमोही, दानवी और अभियोगिकी-ये पाँच अशुभ भावना हैं । निर्ग्रन्थ मुनि होकर सम्यक्त्व-भावना बिना इन अशुभ भावनाओं को भावे तब किल्बिष आदि नीच देव होकर मानसिक दुःख को प्राप्त होता है ॥१३॥

+ पार्श्वस्थ भावना से दुःख -

पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहिं ॥१४॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू पार्श्वस्थ भावना से अनादिकाल से लेकर अनन्त-बार भाकर दुःख को प्राप्त हुआ । किससे दुःख पाया ? कुभावना अर्थात् खोटी भावना, उसका भाव वे ही हुए दुःख के बीज, उनसे दुःख पाया ।

छाबडा :

जो मुनि कहलावे और बस्तिका बाँधकर आजीविका करे उसे पार्श्वस्थ वेषधारी कहते हैं । जो कषायी होकर व्रतादिक से भ्रष्ट रहे, संघका अविनय करे, इस प्रकारके वेषधारी को कुशील कहते हैं । जो वैद्यक ज्योतिषविद्या मंत्र की आजीविका करे, राजादिकका सेवक होवे इसप्रकार के वेषधारी को संसक्त कहते हैं । जो जिनसूत्रसे प्रतिकूल, चारित्रसे भ्रष्ट आलसी, इसप्रकार वेषधारी को अवसन्न कहते हैं । गुरुका आश्रय छोड़कर एकाकी स्वच्छन्द प्रवर्ते, जिन आज्ञा का लोप करे, ऐसे वेषधारी को मृगचारी कहते हैं । इनकी भावना भावे वह दुःख ही को प्राप्त होता है ॥१४॥

+ देव होकर मानसिक दुःख पाये -

देवाण गुण विहृई इड्ठी माहप्प बहुविहं दट्ठं होऊण हीणदेवो पत्तो बहु माणसं दुक्खं ॥१५॥

अन्वयार्थ : स्वर्ग में हीन देव होकर बड़े ऋद्धिधारी देव के अणिमादि गुण की विभूति देखे तथा देवांगना आदि का बहुत परिवार देखे और आज्ञा, ऐश्वर्य आदिका माहात्म्य देखे तब मन में इसप्रकार विचारे कि मैं पुण्य-रहित हूँ, ये बड़े पुण्यवान् हैं, इनके ऐसी विभूति माहात्म्य ऋद्धि है, इसप्रकार विचार करने से मानसिक दुःख होता है ।

+ अशुभ भावना से नीच देव होकर दुःख पाते हैं -

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो होऊण कुदेवत्तं पत्तो सि अणेयवाराओ ॥१६॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू चार प्रकार की विकथा में आसक्त होकर, मद से मत्त और जिसके अशुभ भावना का ही प्रकट प्रयोजन है इसप्रकार अनेकबार कुदेवपने को प्राप्त हुआ ।

छाबडा :

स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा और राजकथा इन चार विकथाओंमें आसक्त होकर वहाँ परिणाम को लगाया तथा जाति आदि साठ मर्दों से उन्मत्त हुआ, ऐसी अशुभ भावना ही का प्रयोजन धारण कर अनेकबार नीच देवपने को प्राप्त हुआ, वहाँ मानसिक दुःख पाया ।

यहाँ यह विशेष जानने योग्य हैं कि विकथादिक से तो नीच देव भी नहीं होता है, परन्तु यहाँ मुनि को उपदेश है, वह मुनिपद धारणकर कुछ तपश्चरणादिक भी करे और वेषमें विकथादिक में रक्त हो तब नीच देव होता है, इसप्रकार जानना चाहिये ॥ १६॥

+ मनुष्य-तिर्यच होवे, वहाँ गर्भ के दुःख -

असुईबीहत्येहि य कलिमलबहुलाहि गम्भवसहीहि वसिओ सि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवर ॥१७॥

अन्वयार्थ : हे मुनिप्रवर ! तू कुदेवयोनि से चयकर अनेक माताओं की गर्भ की बस्ती में बहुत काल रहा । कैसी हैं वह बस्ती ? अशुचि अर्थात् अपवित्र है, बीभत्स (घिनावनी) है और उसमें कलिमल बहुत है अर्थात् पापरूप मलिन मल की अधिकता है ।

छाबडा :

यहाँ मुनिप्रवर ऐसा सम्बोधन है सो प्रधानरूप से मुनियोंको उपदेश है । जो मुनिपद लेकर मुनियों से प्रधान कहलावे और शुद्धात्मरूप निश्चयचारित्र के सन्मुख न हो, उसको कहते हैं कि बाह्य द्रव्यलिंग तो बहुतवार धारणकर चार गतियों में ही भ्रमण किया, देव भी हुआ तो वहाँ से चयकर इसप्रकार के मलिन गर्भवास में आया, वहाँ भी बहुतवार रहा ॥१७॥

+ अनंतों बार गर्भवास के दुःख प्राप्त किये -

पीओ सि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं ॥१८॥

अन्वयार्थ : हे महायश ! उस पूर्वोक्त गर्भवास में अन्य-अन्य जन्म में अन्य-अन्य माता के स्तन का दूध तूने समुद्र के जल से भी अतिशयकर अधिक पिया है ।

छाबडा :

जन्म--जन्ममें अन्य--अन्य माता के स्तन का दूध इतना पिया कि उसको एकत्र करें तो समुद्र के जलसे भी अतिशयकर अधिक हो जावे । यहाँ अतिशय का अर्थ अनन्तगुणा जानना, क्योंकि अनन्तकाल का एकत्र किया हुआ दूध अनन्तगुणा हो जाता है ॥१८॥

+ मरण द्वारा दुखी हुआ -

**तुह मरणे दुक्खेण अण्णणाणं अणेयजणणीणं
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं ॥१९॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने माता के गर्भ में रहकर जन्म लेकर मरण किया, वह तेरे मरण से अन्य-अन्य जन्म में अन्य-अन्य माता के रुदन के नयनों का नीर एकत्र करें तब समुद्र के जल से भी अतिशयकर अधिकगुणा हो जावे अर्थात् अनन्तगुणा हो जावे ।

+ अनन्त बार संसार में जन्म लिया -

**भवसायरे अणंते छिण्णुज्झिय केसणहरणालट्ठी
पुञ्जइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमधिया रासी ॥२०॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! इस अनन्त संसारसागर में तूने जन्म लिये उनमें केश, नख, नाल और अस्थि कटे, टूटे उनका यदि देव पुंज करे तो मेरु पर्वत से भी अधिक राशि हो जावे, अनन्तगुणा हो जावे ।

+ जल-थल आदि स्थानों में सब जगह रहा -

**जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरितरुवणाइ सव्वत्थ
वसिओ सि चिरं कालं तिहुवणमज्झे अणप्पवसो ॥२१॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू जल में, थल अर्थात् भूमि में, शिखि अर्थात् अग्नि में, पवन में, अम्बर अर्थात् आकाश में, गिरि अर्थात् पवन में, सरित् अर्थात् नदीमें, दरी अर्थात् पवन की गुफा में, तरु अर्थात् वृक्षों में, वनों में और अधिक क्या कहें सब ही स्थानों में, तीन लोक में अनात्मवश अर्थात् पराधीन होकर बहुत काल तक रहा अर्थात् निवास किया ।

छाबडा :

निज शुद्धात्माकी भावना बिना कर्म के आधीन होकर तीन लोक में सर्व दुःखसहित सर्वत्र निवास किया ॥२१॥

+ लोक में सर्व पुद्गल भक्षण किये तो भी अतृप्त रहा -

**गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवित्तियाइं सव्वाइं
पत्तो सि तो ण तित्तिं पुणरुत्तं ताइं भुञ्जंतो ॥२२॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने इस लोक के उदर में वर्तते जो पुद्गल स्कन्ध, उन सबको ग्रसे अर्थात् भक्षण किये और उनही को पुनरुक्त अर्थात् बारबार भोगता हुआ भी तृप्ति को प्राप्त न हुआ ।

+ समस्त जल पीया फिर भी प्यासा रहा -

**तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाए पीडिएण तुमे
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चिंतेह भवमहणं ॥२३॥**

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने इस लोक में तृष्णा से पीड़ित होकर तीन लोक का समस्त जल पिया, तो भी तृष्णा का व्युच्छेद न हुआ अर्थात् प्यास न बुझी, इसलिये तू इस संसार का मथन अर्थात् तेरे संसार का नाश हो, इसप्रकार निश्चय रत्नत्रय का चिन्तन कर ।

छाबडा :

संसार में किसी भी तरह तृप्ति नहीं है, जैसे अपने संसार का अभाव हो वैसे चिन्तन करना, अर्थात् निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य को धारण करना, सेवना करना, यह उपदेश है ॥२३॥

+ अनेक बार शरीर ग्रहण किया -

**गहिउज्झियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं
ताणं णत्थि पमाणं अणंतभवसायरे धीर ॥२४॥**

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! हे धीर ! तूने इस अनन्त भवसागर में कलेवर अर्थात् शरीर अनेक ग्रहण किये और छोड़े, उनका परिमाण नहीं है ।

छाबडा :

हे मुनिप्रधान ! तू इस शरीरसे कुछ स्नेह करना चाहता है तो इस संसार में इतने शरीर छोड़े और ग्रहण किये कि उनका कुछ परिमाण भी नहीं किया जा सकता है ।

+ आयुकर्म अनेक प्रकार से क्षीण हो जाता है -

**विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेणं
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जे आऊ ॥२५॥
हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहिं
रसविज्जजोयधारण अणयपसंगेहिं विविहेहिं ॥२६॥
इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण बहुवारं
अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तो सि तं मित्त ॥२७॥**

अन्वयार्थ : विषभक्षण से, वेदना की पीड़ा के निमित्त से, रक्त अर्थात् रुधिर के क्षय से, भय से, शस्त्र के घात से, संक्लेश परिणाम से, आहार तथा श्वास के निरोध से इन कारणों से आयु का क्षय होता है ।

हिम अर्थात् शीत पाले से, अग्नि से, जल से, बड़े पर्वत पर चढ़कर पड़ने से, बड़े वृक्ष पर चढ़कर गिरने से, शरीर का भंग होने से, रस अर्थात् पारा आदि की विद्या उसके संयोग से धारण करके भक्षण करे इससे, और अन्याय कार्य, चोरी, व्यभिचार आदि के निमित्त से -- इसप्रकार अनेक-प्रकार के कारणों से आयु का व्युच्छेद (नाश) होकर कुमरण होता है ।

इसलिये कहते हैं कि हे मित्र ! इसप्रकार तिर्यच, मनुष्य जन्म में बहुतकाल बहुतबार उत्पन्न होकर अपमृत्यु अर्थात् कुमरण सम्बन्धी तीव्र महादुःख को प्राप्त हुआ ।

छाबडा :

इस लोक में प्राणी की आयु (जहाँ सोपक्रम आयु बँधी है उसी नियमसे अनुसार) तिर्यच-मनुष्य पर्याय में अनेक कारणों से छिदती है, इससे कुमरण होता है । इससे मरते समय तीव्र दुःख होता है तथा छोटे परिणामों से मरण कर फिर दुर्गति ही में पड़ता है; इसप्रकार यह जीव संसार में महादुःख पाता है । इसलिये आचार्य दयालु होकर बारबार दिखाते हैं और संसार से मुक्त होने का उपदेश करते हैं, इसप्रकार जानना चाहिये ॥२५-२६-२७॥

+ निगोद के दुःख -

छत्तीस तिणि सया छावट्टिसहस्सवारमरणाणि अतोमुहुत्तमज्झे पत्तो सि निगोयवासम्मि ॥२८॥

अन्वयार्थ : हे आत्मन् तू निगोद के वासमें एक अंतर्मुहूर्त में छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण को प्राप्त हुआ ।

छाबडा :

निगोद में एक श्वासके अठारहवें भाग प्रमाण आयु पाता है । वहाँ एक मुहूर्त के सैंतीससौ तिहत्तर श्वासोच्छ्वास गिनते हैं । उनमें छत्तीससौ पिच्यासी श्वासोच्छ्वास और एक श्वासके तीसरे भाग के छ्यासठ हजार तीनसौ छत्तीस बार निगोद में जन्म-मरण होता है । इसका दुःख यह प्राणी सम्यग्दर्शनभाव पाये बिना मिथ्यात्व के उदय के वशीभूत होकर सहता है ।

अंतर्मुहूर्त में छ्यासठ हजार तीनसौ छत्तीस बार जन्म-मरण कहा, वह अठ्यासी श्वास कम मुहूर्त इसप्रकार अन्तर्मुहूर्त में जानना चाहिये ॥२८॥

+ क्षुद्रभव -- अंतर्मुहूर्त के जन्म-मरण -

वियलिंदए असीदी सट्ट चालीसमेव जाणेह पंचिंदिय चउवीसं खुद्दभावंतोमुहुत्तस्स ॥२९॥

अन्वयार्थ : इस अन्तर्मुहूर्त के भवों में दो इन्द्रिय के क्षुद्र-भव अस्सी, तेइन्द्रिय के साठ, चौइन्द्रिय के चालीस और पंचेन्द्रिय के चौबीस, इसप्रकार हे आत्मन् ! तू क्षुद्र-भव जान ।

छाबडा :

क्षुद्रभव अन्य शास्त्रों में इसप्रकार गिने हैं । पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और साधारण निगोद के सूक्ष्म बादर से दस और सप्रतिष्ठित वनस्पति एक, इसप्रकार ग्यारह स्थानों के भव तो एक-एक के छह हजार बार उसके छ्यासठ हजार एकसौ बत्तीस हुए और इस गाथा में कहे वे भव दो इन्द्रिय आदि के दो सौ चार, ऐसे ६६३३६ एक अन्तर्मुहूर्त में क्षुद्रभव हैं ॥२९॥

+ इसलिए अब रत्नत्रय धारण कर -

रयणत्तये अलद्धे एवं भमिओ सि दीहसंसारे इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तय समायरह ॥३०॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तूने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय को नहीं पाया, इसलिये इस दीर्घकाल से -- अनादि संसार में पहिले कहे अनुसार भ्रमण किया, इसप्रकार जानकर अब तू उस रत्नत्रय का आचरण कर, इसप्रकार जिनेश्वरदेव ने कहा है ।

छाबडा :

निश्चय रत्नत्रय पाये बिना यह जीव मिथ्यात्व के उदय से संसार में भ्रमण करता है, इसलिये रत्नत्रय के आचरण का उपदेश है ॥३०॥

+ रत्नत्रय इसप्रकार है -

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो जाणइ तं सण्णाणं चरदिहं चारित्त मग्गो त्ति ॥३१॥

अन्वयार्थ : जो आत्मा आत्मा में रत होकर यथार्थरूप का अनुभव कर तद्रूप होकर श्रद्धान करे वह प्रगट सम्यग्दृष्टि होता है, उस आत्मा को जानना सम्यग्ज्ञान है, उस आत्मा में आचरण करके राग-द्वेष-रूप न परिणमना सम्यक्चारित्र है । इसप्रकार यह निश्चय-रत्नत्रय है, मोक्षमार्ग है ।

छाबडा :

आत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण निश्चयरत्नत्रय है और बाह्य में इसका व्यवहार-जीव अजीवादि तत्त्वों का श्रद्धान, तथा जानना और परद्रव्य परभाव का त्याग करना इसप्रकार निश्चय-व्यवहारस्वरूप रत्नत्रय मोक्ष का मार्ग है । वहाँ निश्चय तो प्रधान है, इसके बिना व्यवहार संसारस्वरूप ही है । व्यवहार है वह निश्चय का साधनस्वरूप है, इसके बिना निश्चय की प्राप्ति नहीं है और निश्चय की प्राप्ति हो जाने के बाद व्यवहार कुछ नहीं है इसप्रकार जानना चाहिये ॥३१॥

+ सुमरण का उपदेश -

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओ सि भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव ! ॥३२॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! इस संसार में अनेक जन्मान्तरों में अन्य कुमरण मरण जैसे होते हैं वैसे तू मरा । अब तू जिस मरण का नाश हो जाय इसप्रकार सुमरण भा अर्थात् समाधिमरण की भावना कर ।

छाबडा :

अन्यस्मिन् कुमरणमरणं अनेकजन्मान्तरेषु मृतः असि; भावय सुमरणमरणं जन्ममरणविनाशनं जीव ! ॥३२॥

मरण संक्षेपमें अन्य शास्त्रों में सत्रह प्रकार के कहे हैं । वे इसप्रकार हैं-१-आवीचिकामरण, २-तद्भवमरण, ३-अवधिमरण, ४-आद्यन्तमरण, ५-बालमरण, ६-पंडितमरण, ७-आसन्नमरण, ८-बालपंडितमरण, ९-सशल्यमरण, १०-पलयामरण, ११-वशार्तमरण, १२-विप्राणसमरण, १३-गृध्रपृष्ठमरण, १४-भक्तप्रत्याख्यानमरण, १५-इंगिनीमरण, १६-प्रायोपगमनमरण, और १७-केवलिमरण, इसप्रकार सत्रह हैं ।

इनका स्वरूप इसप्रकार है -- आयु-कर्म का उदय समय-समय में घटता है वह समय-समय मरण है, यह आवीचिकामरण है ॥१॥

वर्तमान पर्याय का अभाव तद्भवमरण है ॥२॥

जैसा मरण वर्तमान पर्याय का हो वैसा ही अगली पर्याय का होगा वह अवधिमरण है । इसके दो भेद हैं -- जैसा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग वर्तमान का उदय आया वैसा ही अगली का उदय आवे वह (१) सर्वावधिमरण है और एकदेश बंध-उदय हो तो (२) देशावधिमरण कहलाता है ॥३॥

वर्तमान पर्याय का स्थिति आदि जैसा उदय था वैसा अगली का सर्वतो वा देशतो बंध-उदय न हो वह आद्यन्तमरण है ॥४॥

पाँचवाँ बालमरण है, यह पाँच प्रकार का है-१ अव्यक्तबाल, २ व्यवहारबाल, ३ ज्ञानबाल, ४ दर्शनबाल, ५ चारित्रबाल । जो धर्म, अर्थ, काम इन कामों को न जाने, जिसका शरीर इनके आचरण के लिये समर्थ न हो वह अव्यक्तबाल है । जो लोक के और शास्त्र के व्यवहार को न जाने तथा बालक अवस्था हो वह व्यवहारबाल है । वस्तु के यथार्थ ज्ञान-रहित ज्ञानबाल है । तत्त्वश्रद्धानरहित मिथ्यादृष्टि दर्शनबाल है । चारित्ररहित प्राणी चारित्रबाल है । इनका मरना सो बालमरण है । यहाँ प्रधानरूप से दर्शनबाल का ही ग्रहण है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि को अन्य बालपना होते हुए भी दर्शनपंडितता के सद्भाव से पंडितमरण में ही गिनते हैं । दर्शनबाल का मरण संक्षेप से दो प्रकार का कहा है -- इच्छाप्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त । अग्नि से, धूम से, शस्त्र से, विष से, जल से, पर्वत के किनारे पर से गिरने से, अति शीत-उष्ण की बाधा से, बंधन से, क्षुधा-तृषा के रोकने से, जीभ उखाड़ने से और विरुद्ध आहार करने से बाल (अज्ञानी) इच्छापूर्वक मरे सो इच्छा-प्रवृत्त है तथा जीने का इच्छुक हो और मर जावे सो अनिच्छा-प्रवृत्त है । ॥५॥

पंडितमरण चार प्रकार का है-१ व्यवहार-पंडित, २-सम्यक्त्व-पंडित, ३-ज्ञान-पंडित, ४-चारित्र-पंडित । लोकशास्त्र के व्यवहार में प्रवीण हो वह व्यवहार-पंडित है । सम्यक्त्व सहित हो सम्यक्त्व-पंडित है । सम्यग्ज्ञान सहित हो ज्ञान-पंडित है । सम्यक्चारित्र सहित हो चारित्र-पंडित है । यहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित पंडित का ग्रहण है, क्योंकि व्यवहार-पंडित मिथ्यादृष्टि बालमरण में आ गया ॥६॥

मोक्षमार्ग में प्रवर्तनेवाला साधु संघ से छूटा उसको आसन्न कहते हैं । इसमें पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, संसक्त भी लेने; इसप्रकार के पंचप्रकार भ्रष्ट साधुओं का मरण आसन्न-मरण है ॥७॥

सम्यग्दृष्टि श्रावक का मरण बालपंडित मरण है ॥८॥

सशल्यमरण दो प्रकार का है -- मिथ्यादर्शन, माया, निदान ये तीन शल्य तो भाव-शल्य हैं और पंच स्थावर तथा त्रस में असैनी ये द्रव्य-शल्य सहित हैं, इसप्रकार सशल्य-मरण है ॥९॥

जो प्रशस्तक्रिया में आलसी हो, व्रतादिक में शक्ति को छिपावे, ध्यानादिक से दूर भागे, इसप्रकार का मरण पलाय-मरण है ॥१०॥

वशार्तमरण चार प्रकार का है -- वह आर्त-रौद्र ध्यान सहित मरण है, पाँच इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष सहित मरण इन्द्रियवशार्तमरण है । साता-असाता की वेदना सहित मरे वेदनावशार्त-मरण है । क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय के वश से मरे कषायवशार्त-मरण है । हास्य विनोद कषाय के वश से मरे नोकषायवशार्त-मरण है ॥११॥

जो अपने व्रत क्रिया चारित्रमें उपसर्ग आवे वह सहा भी न जावे और भ्रष्ट होने का भय आवे तब अशक्त होकर अन्न-पानी का त्यागकर मरे विप्राण-स्मरण है ॥१२॥

शस्त्र ग्रहण कर मरण हो गृध्रपृष्ठ-मरण है ॥१३॥

अनुक्रम से अन्न-पानी का यथाविधि त्याग कर मरे भक्तप्रत्याख्यान-मरण है ॥१४॥

संन्यास करे और अन्य से वैयावृत्य करावे इंगिनी-मरण है ॥१५॥

प्रायोपगमन संन्यास करे और किसी से वैयावृत्य न करावे, तथा अपने आप भी न करे, प्रतिमायोग रहे प्रायोगमनकरण है ॥१६॥

केवली मुक्तिप्राप्त हो केवलीमरण है ॥१७॥

इसप्रकार सत्रह कहे । इनका संक्षेप इसप्रकार है -- मरण पाँच प्रकार के हैं-१ पंडितपंडित, २ पंडित, ३ बालपंडित, ४ बाल, ५ बालबाल । जो दर्शन ज्ञान चारित्र के अतिशय सहित हो वह पंडित-पंडित है और इनकी प्रकर्षता जिसके न हो वह पंडित है, सम्यग्दृष्टि श्रावक वह बाल-पंडित है और पहिले चार प्रकार के पंडित कहे उनमें से एक भी भाव जिसके नहीं हो वह बाल है तथा जो सबसे न्यून हो वह बाल-बाल है । इनमें पंडित-पंडित-मरण, पंडित-मरण और बालपंडित-मरण ये तीन प्रशस्त सुमरण कहे हैं, अन्य रीति होवे वह कुमरण है । इसप्रकार जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एकदेश सहित मरे वह सुमरण है; इस प्रकार सुमरण करने का उपदेश है ॥३२॥

+ क्षेत्र-परावर्तन -

**सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ
जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोपमाणिओ सव्वो ॥३३॥**

अन्वयार्थ : यह जीव द्रव्यलिंग का धारक मुनिपना होते हुए भी जो तीन-लोक प्रमाण सर्व स्थान हैं उनमें एक परमाणु-परिणाम एक प्रदेशमात्र भी ऐसा स्थान नहीं है कि जहाँ जन्म-मरण न किया हो ।

छाबडा :

सः नास्ति द्रव्यश्रमणः परमाणुप्रमाणमात्रो निलयः; यत्र न जातः न मृतः त्रिलोकप्रमाणकः सर्वः ॥३३॥

द्रव्यलिंग धारण करके भी इस जीव ने सर्व लोक में अनन्तबार जन्म और मरण किये, किन्तु ऐसा कोई प्रदेश शेष न रहा कि जिसमें जन्म और मरण न किये हों । इसप्रकार भावलिंग के बिना द्रव्यलिंग से मोक्ष की (-निज परमात्मदशा की) प्राप्ति नहीं हुई, ऐसा जानना ॥३३॥

+ काल-परावर्तन -

कालमणंतं जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं जिणलिंगेण वि पत्तो परंपराभावरहिण ॥३४॥

अन्वयार्थ : यह जीव इस संसार में जिसमें परम्परा भाव-लिंग न होने से अनंत-काल पर्यन्त जन्म-जरा-मरण से पीड़ित दुःख को ही प्राप्त हुआ ।

छाबडा :

कालमनंतं जीवः जन्मजरामरणपीडितः दुःखम्; जिणलिंगेन अपि प्राप्तः परम्पराभावरहितेन ॥३४॥

द्रव्य-लिंग धारण किया और उसमें परम्परा से भी भाव-लिंग की प्राप्ति न हुई इसलिये द्रव्य-लिंग निष्फल गया, मुक्ति की प्राप्ति नहीं हुई, संसार में ही भ्रमण किया ।

यहाँ आशय इसप्रकार है कि -- द्रव्य-लिंग है वह भाव-लिंग का साधन है, परन्तु काललब्धि बिना द्रव्यलिंग धारण करने पर भी भाव-लिंग की प्राप्ति नहीं होती है, इसलिये द्रव्य-लिंग निष्फल जाता है । इसप्रकार मोक्ष-मार्ग में प्रधान भाव-लिंग ही है । यहाँ कोई कहे कि इसप्रकार है तो द्रव्य-लिंग पहिले क्यों धारण करें ? उसको कहते हैं कि -- इसप्रकार माने तो व्यवहार का लोप होता है, इसलिये इसप्रकार मानना जो द्रव्य-लिंग पहिले धारण करना, इसप्रकार न जानना कि इसी से सिद्धि है । भावलिंग को प्रधान मानकर उसके सन्मुख उपयोग रखना, द्रव्य-लिंग को यत्नपूर्वक साधना, इसप्रकार का श्रद्धान भला है ॥३४॥

+ द्रव्य-परावर्तन -

पडिदेससमयपुग्गलआउगपरिणामणामकालट्ठं गहिउज्झियाइं बहुसो अणंतभवसायरे जीव ॥३५॥

अन्वयार्थ : इस जीव ने इस अनन्त अपार भव-समुद्र में लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उन प्रति समय समय और पर्याय के आयुप्रमाण काल और अपने जैसा योगकषाय के परिणमन-स्वरूप परिणाम और जैसा गति-जाति आदि नाम-कर्म के उदय से हुआ नाम और काल जैसा उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी उनमें पुद्गल के परमाणुरूप स्कन्ध, उनको बहुतबार / अनन्तबार ग्रहण किये और छोड़े ।

छाबडा :

प्रतिदेशसमयपुद्गलायुः परिणामनामकालस्थम्; गृहीतो ज्झितानि बहुशः अनन्तभवसागरे जीवः ॥३५॥

भावलिंग बिना लोक में जितने पुद्गल स्कन्ध हैं उन सबको ही ग्रहण किये और छोड़े तो भी मुक्त न हुआ ॥३५॥

+ क्षेत्र परावर्तन -

तेयाला तिण्णि सया रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं मुत्तूणट्ठ पएसा जत्थ जण दुरुदुल्लिओ जीवो ॥३६॥

अन्वयार्थ : यह लोक तीनसौ तेतालीस राजू परिमाण क्षेत्र है, उसको बीच मेरु के नीचे गोस्तनाकार आठ प्रदेश हैं, उनको छोड़कर अन्य प्रदेश ऐसा न रहा जिसमें यह जीव नहीं जन्मा-मरा हो ।

छाबडा :

त्रिचत्वारिंशत् त्रीणि शतानि रज्जूनां लोकक्षेत्रपरिणामं; मुक्त्वा डट्ठौ प्रदेशान् यत्र न भ्रमितः जीवः ॥३६॥

दुरुदुल्लिओ इसप्रकार प्राकृत में भ्रमम अर्थ के धातु का आदेश है और क्षेत्रपरावर्तन में मेरु के नीचे आठ लोक के मध्य में हैं उनको जीव अपने शरीर के अष्ट मध्य प्रदेश बनाकर मध्यदेश उपजता है, वहां से क्षेत्र-परावर्तन का प्रारम्भ किया जाता है, इसलिये उनको पुनरुक्त भ्रमण में नहीं गिनते हैं ॥३६॥ (देखो गो० जीव० काण्ड गाथा ५३० पृ० २६६ मूलाचार अ० ९ गाथा १४ पृ० ४२८)

+ शरीर में रोग का वर्णन -

**एक्केक्कंगुलि वाही छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया ॥३७॥**

अन्वयार्थ : इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल में छ्यानवे-छ्यानवे रोग होते हैं, तब कहो, अवशेष समस्त शरीर में कितने रोग कहें ।

छाबडा :

एकेकांगुलौ व्याधयः षण्णवतिः भवति जानीहि मनुष्यानां; अवशेषे च शरीरे रोगाः भण कियन्तः भणिताः ॥३७॥

+ उन रोगों का दुःख तूने बहुत सहा -

**ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे
एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥३८॥**

अन्वयार्थ : हे महायश ! हे मुने ! तूने पूर्वोक्त रोगोंको पूर्वभवों में तो परवश सहे, इसप्रकार ही फिर सहेगा, बहुत कहने से क्या ?

छाबडा :

ते रोगा अपि च सकलाः सोढास्त्वया परवशेण पूर्वभवे; एवं सहसे महायशः ! किं वा बहुभिः लपितैः ॥३८॥

यह जीव पराधीन होकर सब दुःख सहता है । यदि ज्ञानभावना करे और दुःख आने पर उससे चलायमान न हो, इस तरह स्ववश होकर सहे तो कर्म का नाश कर मुक्त हो जावे, इसप्रकार जानना चाहिये ॥३८॥

+ अपवित्र गर्भवास में भी रहा -

**पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले
उयरे वसिओ सि चिरं णवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥३९॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने इस प्रकार के मलिन अपवित्र उदर में नव मास तथा दश मास प्राप्त कर रहा । कैसा है उदर ? जिसमें पित्त और आंतों से वेष्टित, मूत्र का स्रवण, फेफस अर्थात् जो रुधिर बिना मेद फूल जावे, कालिज्ज अर्थात् कलेजा, खून, खरिस अर्थात् अपक्व मल में मिला हुआ रुधिर श्लेष्म और कृमिजाल अर्थात् लट आदि जीवों के समूह ये सब पाये जाते हैं -- इसप्रकार स्त्री के उदर में बहुत बार रहा ।

छाबडा :

पित्तात्रमूत्रफेफसयकृद्गुहिरखरिसकृमिजाले; उदरे उषितोडसि चिरं नवदशमासैः प्राप्तैः ॥३९॥

+ फिर इसी को कहते हैं -

दियसंगट्टियमसणं आहारिय मायभुत्तमण्णांते छद्दिखरिसाण मज्झे जठरे वसिओ सि जणणीए ॥४०॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू जननी (माता) के उदर (गर्भ) में रहा, वहाँ माता के और पिता के भोग के अन्त, छर्दि (वमन) का अन्न, खरिस (रुधिरसे मिला हुआ अपक्व मल) के बीचमें रहा, कैसा रहा ? माताके दाँतों से चबाया हुआ और उन दाँतों के लगा हुआ (रुका हुआ) झूठा भोजन माता के खाने के पीछे जो उदर में गया उसके रसरूपी आहार से रहा ।

छाबडा :

द्विजसंगस्थितमशनं आहत्य मातृभुक्तमन्नान्ते; छर्दिखरिसयोर्मध्ये जठरे उषितोडसि जनन्याः ॥४०॥

+ बालकपन में भी अज्ञान-जनित दुःख -

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओ सि तुमं असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण ॥४१॥

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू बचपन के समय में अज्ञान अवस्था में अशुचि (अपवित्र) स्थानों में अशुचि के बीच लेटा और बहुत बार अशुचि वस्तु ही खाई, बचपन को पाकर इसप्रकार चेष्टायें की ।

छाबडा :

शिशुकाले च अज्ञाने अशुचिमध्ये लोलितोडसित्वम्; अशुचिः अशिता बहुशः मुनिवर ! बालत्वप्राप्तेन ॥४१॥

यहाँ मुनिवर इसप्रकार सम्बोधन है वह पहिले के समान जानना; बाह्य आचरण सहित मुनि हो उसी को यहाँ प्रधानरूप से उपदेश है कि बाह्य आचरण किया वह तो बड़ा कार्य किया, परन्तु भावों के बिना यह निष्फल है इसलिये भाव के सन्मुख रहना, भावों के बिना ही ये अपवित्र स्थान मिले हैं ॥४१॥

+ देह के स्वरूप का विचार करो -

मंसट्टिसुक्कसोमियपित्ततसवत्तकुणिमदुग्गंधं खरिसवसापूय खिब्भिस भरियं चिंतेहि देहउडं ॥४२॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू देहरूप घट को इसप्रकार विचार, कैसा है देहघट ? मांस, हाड़, शुक्र (वीर्य), श्रोणित (रुधिर), पित्त (उष्ण विकार) और अंत्र (अँतड़ियाँ) आदि द्वारा तत्काल मृतक की तरह दुर्गंध है तथा खरिस (रुधिरसे मिला अपक्वमल), वसा (मेद), पूय (खराब खून) और राध, इन सब मलिन वस्तुओं से पूरा भरा है, इसप्रकार देहरूप घट का विचार करो ।

छाबडा :

मांसस्थिशुक्रश्रोणितपित्तांत्रस्रवत्कुणिमदुर्गन्धम्; खरिसवसापूयकिल्बिषभरितं चिन्तय देहकुटम् ॥४२॥

यह जीव तो पवित्र है, शुद्धज्ञानमयी है और यह देह इसप्रकार है, इसमें रहना अयोग्य है-ऐसा बताया है ॥४२॥

+ अन्तरंग से छोड़ने का उपदेश -

भावविमुक्तो मुक्तो ण य मुक्तो बंधवाइमित्तेण इय भाविऊण उज्झसु गंथं अब्भंतरं धीर ॥४३॥

अन्वयार्थ : जो मुनि भावों से मुक्त हुआ उसी को मुक्त कहते हैं और बांधव आदि कुटुम्ब तथा मित्र आदि से मुक्त हुआ उसको मुक्त नहीं कहते हैं, इसलिये हे धीर मुनि ! तू इसप्रकार जानकर अभ्यन्तर की वासना को छोड़ ।

छाबडा :

भावविमुक्तः मुक्तः न च मुक्तः बांधवादिमित्रेण;;इति भावयित्वा उज्झय ग्रन्थमाभ्यन्तरं धीर ! ॥४३॥

जो बाह्य बांधव, कुटुम्ब तथा मित्र इनको छोड़कर निर्ग्रन्थ हुआ और अभ्यन्तर की ममत्वभावरूप वासना तथा इष्ट--अनिष्ट में राग-द्वेष वासना न छूटी तो उसको निर्ग्रन्थ नहीं कहते हैं । अभ्यन्तर वासना छूटने पर निर्ग्रन्थ होता है, इसलिये यह उपदेश है कि अभ्यन्तर मिथ्यात्व कषाय छोड़कर भावमुनि बनना चाहिये ॥४३॥

+ भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं -- उदाहरण बाहुबली -

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर ! अत्ताववेण जादो बाहुबली कित्तिं* कालं ॥४४॥

अन्वयार्थ : देखो, बाहुबली श्री ऋषभदेव का पुत्र देहादिक परिग्रह को छोड़कर निर्ग्रन्थ मुनि बन गया, तो भी मानकषाय से कलुष परिणामरूप होकर कुछ समय तक आतापन योग धारणकर स्थित हो गया, फिर भी सिद्धि नहीं पाई ।

छाबडा :

देहादित्यक्तसंगः मानकषायेन कलुषितः धीरः !;;आतापनेन जातः बाहुबली कियन्तं कालम् ॥४४॥

बाहुबली से भरतचक्रवर्ती ने विरोध कर युद्ध आरंभ किया, भरत का अपमान हुआ । उसके बाद बाहुबली विरक्त होकर निर्ग्रन्थ मुनि बन गये, परन्तु कुछ मानकषाय की कलुषता रही कि भरतकी भूमि पर मैं कैसे रहूँ ? तब कायोत्सर्ग योग से एक वर्ष तक खड़े रहे परन्तु केवलज्ञान नहीं पाया । पीछे कलुषता मिटी तब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । इसलिये कहते हैं कि ऐसे महान पुरुष बड़ी शक्ति के धारक के भी भावशुद्धि के बिना सिद्धि नहीं पाई तब अन्य की क्या बात ? इसलिये भावों को शुद्ध करना चाहिये, यह उपदेश है ॥४४॥

+ मधुपिंगल मुनि का उदाहरण करते हैं -

मधुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिचत्तवावारो सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ॥४५॥

अन्वयार्थ : मधुपिंगलनाम का मुनि कैसा हुआ ? देह आहारादि में व्यापार छोड़कर भी निदान-मात्र से भाव-श्रमणपने को प्राप्त नहीं हुआ, उसको भव्य-जीवों से नमने योग्य मुनि, तू देख ।

छाबडा :

मधुपिंगो नाम मुनिः देहाहारादित्यक्तव्यापारः;;श्रमणत्वं न प्राप्तः निदानमात्रेण भव्यनुत ! ॥४५॥

मधुपिंगल नाम के मुनि की कथा पुराण में है उसका संक्षेप ऐसे है -- इस भरतक्षेत्र के सुरम्यदेश में पौदनापुर का राजा तृणपिंगल का पुत्र मधुपिंगल था । वह चारणयुगल नगर के राजा सुयोधन की पुत्री सुलसा के स्वयंवर में आया था । वही साकेतापुरी का राजा सगर आया था । सगर के मंत्री ने मधुपिंगल को कपट से नया सामुद्रिक शास्त्र बनाकर दोषी बताया

कि इसके नेत्र पिंगल हैं (माँजरा है) जो कन्या इसको वरे सो मरण को प्राप्त हो । तब कन्या ने सगर के गले में वरमाला पहिना दी । मधुपिंगल का वरण नहीं किया, तब मधुपिंगल ने विरक्त होकर दीक्षा ले ली ।

फिर कारण पाकर सगर के मंत्री के कपट को जानकर क्रोध से निदान किया कि मेरे तप का फल यह हो -- अगले जन्म में सगर के कुल को निर्मूल करूँ, उसके पीछे मधुपिंगल मरकर महाकालासुर नाम का असुर देव हुआ, तब सगर को मंत्री सहित मारने का उपाय सोचना लगा । इसको क्षीरकदम्ब ब्राह्मण का पुत्र पापी पर्वत मिला, तब उसको पशुओं की हिंसारूप यज्ञ का सहायक बन ऐसा कहा । सगर राजा को यज्ञ का उपदेश करके यज्ञ कराया, तेरे यज्ञ का मैं सहायक बनूँगा । तब पर्वत ने सगर से यज्ञ कराया / पशु होमे । उस पाप से सगर सातवें नरक गया और कालासुर सहायक बना सो यज्ञ करनेवालों को स्वर्ग जाते दिखाये । ऐसे मधुपिंगल नामक मुनि ने निदान से महाकालासुर बनकर महापाप कमाया, इसलिये आचार्य कहते हैं कि मुनि बन जाने पर भी भाव बिगड़ जावे तो सिद्धि को नहीं पाता है । इसकी कथा पुराणों से विस्तारसे जानो ।

+ भावशुद्धि बिना सिद्धि नहीं -- वशिष्ठ मुनि -

अण्णं च वसिट्ठमुणी पत्तो दुक्खं णियाणदोसेण सो णत्थि वासठाणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीवो ॥४६॥

अन्वयार्थ : अन्य और एक वशिष्ठ नामक मुनि निदान के दोषसे दुःख को प्राप्त हुआ, इसलिये लोक में ऐसा वासस्थान नहीं है जिसमें यह जीव जन्म-मरणसहित भ्रमण को प्राप्त नहीं हुआ ।

छाबडा :

अन्यश्च वसिष्ठमुनिः प्राप्तः दुःखं निदानदोषेण;;तत्रास्ति वासस्थानं यत्र न भ्रमितः जीव ! ॥४६॥

वशिष्ठ मुनि की कथा ऐसे है -- गंगा और गंधवती दोनों नदियों का जहाँ संगम हुआ है वहाँ जठरकौशिक नाम की तापसी की पल्ली थी । वहाँ एक वशिष्ठ नाम का तपस्वी पंचाग्नि से तप करता था । वहाँ गुणभद्र वीरभद्र नाम के दो चारणमुनि आये । उस वशिष्ठ तपस्वी को कहा -- जो तू अज्ञान-तप करता है इसमें जीवों की हिंसा होती है, तब तपस्वी ने प्रत्यक्ष हिंसा देख और विरक्त होकर जैन-दीक्षा ले ली, मासोपवास सहित आतापन-योग स्थापित किया, उस तप के माहात्म्य से सात व्यन्तर देवों ने आकर कहा, हमको आज्ञा दो सो ही करें, तब वशिष्ठ ने कहा, अभी तो मेरे कुछ प्रयोजन नहीं है, जन्मांतर में तुम्हें याद करूँगा । फिर वशिष्ठ ने मथुरापुरी में आकर मासोपवास सहित आतापन योग स्थापित किया ।

उसको मथुरापुरी के राजा उग्रसेन ने देखकर भक्तिवश यह विचार किया कि मैं इनको पारणा कराऊँगा । नगर में घोषणा करा दी कि इन मुनि को और कोई आहार न दे । पीछे पारणा के दिन नगर में आये, वहाँ अग्नि का उपद्रव देख अंतराय जानकर वापिस जले गये । फिर मासोपवास किया, फिर पारणा के दिन नगर में आये तब हाथी का क्षोभ देख अंतराय जानकर वापिस चले गये । फिर मासोपवास किया, पीछे पारणा के दिन फिर नगर में आये । तब राजा जरासिंह का पुत्र आया, उसके निमित्त से राजा का चित्त व्यग्र था इसलिये मुनि को पड़गाहा नहीं, तब अंतराय मान वापिस वन में जाते हुए लोगों को वचन सुने -- राजा मुनि को आहार दे नहीं और अन्य देनेवालों को मना कर दिया; ऐसे लोगों के वचन सुन राजा पर क्रोध कर निदान किया कि -- इस राजा का पुत्र होकर राजा का निग्रह कर मैं राज करूँ, इस तप का मेरे यह फल हो, इसप्रकार निदान से मरा ।

राजा उग्रसेन की रानी पद्मावती के गर्भ में आया, मास पूरे होने पर जन्म लिया तब इस को क्रूर-दृष्टि देखकर काँसी के सन्दूक में रक्खा और वृत्तान्त के लेख सहित यमुना नदी में बहा दिया । कौशाम्बी में मंदोदरी नाम की कलाली ने उसको लेकर पुत्रबुद्धि से पालन किया, कंस नाम रखा । जब वह बड़ा हुआ तो बालकों के साथ खेलते समय सबको दुःख देने लगा, तब मंदोदरी ने उलाहनों के दुःख से इसको निकाल दिया । फिर यह कंस शौर्यपुर गया वहाँ वसुदेव राजा के पयादा (सेवक) बनकर रहा । पीछे जरासिंह प्रतिनारायण का पत्र आया कि जो पौदनपुर के राजा सिंहस्थ को बाँध लावे उसको आधे राज्य-सहित पुत्री विवाहित कर दूँ । तब वसुदेव वहाँ कंस सहित जाकर युद्ध करके उस सिंहस्थ को बाँध लाया, जरासिंह को सौंप दिया । फिर जरासिंह ने जीव्यंशा पुत्री सहित आधा राज्य दिया, तब वसुदेव ने कहा -- सिंहस्थ को कंस बांधकर लाया है, इसको दो । फिर जरासिंह ने इसका कुल जानने के लिये मंदोदरी को बुलाकर कुल का निश्चय करके इस को जीव्यंशा पुत्री ब्याह दी; तब कंस ने मथुरा का राज लेकर पिता उग्रसेन राजा को और पद्मावती माता को बंदीखाने में

डाल दिया, पीछे कृष्ण नारायण से मृत्यु को प्राप्त हुआ । इसकी कथा विस्तारपूर्वक उत्तरपुराणादि से जानिये । इसप्रकार वशिष्ठ मुनि ने निदान से सिद्धि को नहीं पाई, इसलिये भावलिंग ही से सिद्धि है ॥४६॥

+ भावरहित चौरासी लाख योनियों में भ्रमण -

**सो णत्थि तप्पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि
भावविरओ वि सवणो जत्थ ण दुरुदुल्लिओ जीव ॥४७॥**

अन्वयार्थ : इस संसार में चौरासीलाख योनि, उनके निवास में ऐसा कोई देश नहीं है जिसमें इस जीव ने द्रव्य-लिंगी मुनि होकर भी भाव-रहित होता हुआ भ्रमण न किया हो ।

छाबडा :

सः नास्ति तं प्रदेशः चतुरशीतिलक्षयोनिवासेः, भावविरतः अपि श्रमणः यत्र न भ्रमितः जीवः ॥४७॥

द्रव्यलिंग धारणकर निर्ग्रन्थ मुनि बनकर शुद्ध स्वरूप के अनुभवरूप भाव बिना यह जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण ही करता रहा, ऐसा स्थान नहीं रहा जिसमें मरण नहीं हुआ हो ।

आगे चौरासी लाख योनि के भेद कहते हैं -- पृथ्वी, अप, तेज, वायु, नित्यनिगोद और इतरनिगोद ये तो सात-सात लाख हैं, सब व्यालीस लाख हुए, वनस्पति दस लाख हैं, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय दो-दो लाख हैं, पंचेन्द्रिय तिर्यच चार लाख, देव चार लाख, नारकी चार लाख, मनुष्य चौदह लाख । इसप्रकार चौरासी लाख हैं । ये जीवों के उत्पन्न होने के स्थान हैं ॥ ४७॥

+ द्रव्य-मात्र से लिंगी नहीं, भाव से होता है -

**भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥४८॥**

अन्वयार्थ : लिंगी होता है सो भाव-लिंग ही से होता है, द्रव्य-लिंग से लिंगी नहीं होता है यह प्रकट है; इसलिये भाव-लिंग ही धारण करना, द्रव्य-लिंग से क्या सिद्ध होता है ?

छाबडा :

भावेन भवति लिंगी न हि भवति लिंगी द्रव्यमात्रेण; तस्मात् कुर्याः भावं किं क्रियते द्रव्यलिंगेन ॥४८॥

आचार्य कहते हैं कि-इससे अधिक क्या कहा जावे, भावलिंग बिना लिंगी नाम ही नहीं होता है, क्योंकि यह प्रगट है कि भाव शुद्ध न देखे तब लोग ही कहें कि काहे का मुनि है ? कपटी है । द्रव्य-लिंग से कुछ सिद्धि नहीं है, इसलिये भाव-लिंग ही धारण करने योग्य है ॥४८॥

+ द्रव्यलिंगधारक को उलटा उपद्रव हुआ -- उदाहरण -

**दंडयणयरं सयलं डहिओ अब्भंतरेण दोसेण
जिणलिंगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवे णरए ॥४९॥**

अन्वयार्थ : देखो, बाहु नामक मुनि बाह्य जिन-लिंग सहित था तो भी अभ्यन्तर के दोष से समस्त दंडक नामक नगर को दग्ध किया और सप्तम पृथ्वी के रौरव नामक बिल में गिरा ।

दण्डकनगरं सकलं दग्ध्वा अभ्यन्तरेण दोषेण;;जिनलिंगेनापि बाहुः पतितः सः रौरवे नरके ॥४९॥

द्रव्य-लिंग धारण कर कुछ तप करे, उससे कुछ सामर्थ्य बढ़े, तब कुछ कारण पाकर क्रोध से अपना और दूसरे का उपद्रव करने का कारण बनावे, इसलिये द्रव्य-लिंग भावसहित धारण करना ही श्रेष्ठ है और केवल द्रव्य-लिंग तो उपद्रव का कारण होता है । इसका उदाहरण बाहु मुनि का बताया । उसकी कथा ऐसे है --

दक्षिण दिशा में कुम्भकारकटक नगर में दण्डक नाम का राजा था । उसके बालक नाम का मंत्री था । वहाँ अभिनन्दन आदि पाँच सौ मुनि आये, उनमें एक खंडक नाम के मुनि थे । उन्होंने बालक नाम के मंत्री को वाद में जीत लिया, तब मंत्री ने क्रोध करके एक भाँड को मुनि का रूप कराकर राजा की रानी सुव्रता के साथ क्रीड़ा करते हुए राजा को दिखा दिया और कहा कि देखो ! राजा के ऐसी भक्ति है कि जो अपनी स्त्री भी दिगम्बर को क्रीड़ा करने के लिये दे दी है । तब राजा ने दिगम्बरों पर क्रोध करके पाँच सौ मुनियों को घानी में पिलवाया । वे मुनि उपसर्ग सहकर परम-समाधि में सिद्धि को प्राप्त हुए ।

फिर उस नगर में बाहु नाम के एक मुनि आये । उनको लोगों ने मना किया कि यहाँ का राजा दुष्ट है इसलिये आप नगर में प्रवेश मत करो । पहिले पाँच सौ मुनियों को घानी में पेल दिया है, वह आपका भी वही हाल करेगा । तब लोगों के वचनों से बाहु मुनि को क्रोध उत्पन्न हुआ, अशुभ तैजस समुद्घात से राजा को मंत्री सहित और सब नगर को भस्म कर दिया । राजा और मंत्री सातवें-नरक रौरव नामक बिल में गिरे, वह बाहु मुनि भी मरकर रौरव बिल में गिरे । इसप्रकार द्रव्य-लिंग में भाव के दोष से उपद्रव होते हैं, इसलिये भाव-लिंग का प्रधान उपदेश है ॥४६॥

+ दीपायन मुनि का उदाहरण -

**अवरो वि दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो
दीवायणो त्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ ॥५०॥**

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि जैसे पहिले बाहु मुनि कहा वैसे ही और भी दीपायन नामका द्रव्य-श्रमण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्त-संसारी हुआ है ।

छाबडा :

अपरः अपि द्रव्यश्रमणः दर्शनज्ञानचरणप्रभ्रष्टः;;दीपायन इति नाम अनन्तसांसारिकः जातः ॥५०॥

पहिले की तरह इस की कथा संक्षेप से इसप्रकार है -- नौवें बलभद्र ने श्रीनेमिनाथ तीर्थकर से पूछा कि हे स्वामिन् ! यह द्वारकापुरी समुद्र में है इसकी स्थिति कितने समय तक है ? तब भगवान ने कहा कि रोहिणी का भाई दीपायन तेरा मामा बारह वर्ष पीछे मद्य के निमित्त से क्रोध करके इस पुरी को दग्ध करेगा । इसप्रकार भगवान के वचन सुन निश्चयकर दीपायन दीक्षा लेकर पूर्वदेशमें चला गया । बारह वर्ष व्यतीत करने के लिये तप करना शुरू किया और बलभद्र नारायण ने द्वारिकामें मद्य--निषेध की घोषणा करा दी । मद्यके बरतन तथा उसकी सामग्री मद्य बनानेवालों ने बाहर पर्वतादि में फेंक दी । तब बरतनों की मदिरा तथा मद्य की सामग्री जल के गर्तों में फैल गई ।

फिर बारह वर्ष बीते जानकर दीपायन द्वारिका आकर नगर के बाहर आतापन-योग धारण कर स्थित हुए । भगवान के वचन की प्रतीति न रखी । पीछे शंभवकुमारादि क्रीड़ा करते हुए प्यासे होकर कुंडों में जल जानकर पी गये । उस मद्य के निमित्त से कुमार उन्मत्त हो गये । वहाँ दीपायन मुनि को खड़ा देखकर कहने लगे -- यह द्वारिका को भस्म करनेवाला दीपायन है; इसप्रकार कहकर उसको पाषाणादिक से मारने लगे । तब दीपायन भूमि पर गिर पड़ा, उसको क्रोध उत्पन्न हो गया, उसके निमित्त से द्वारिका जलकर भस्म हो गई । इसप्रकार दीपायन भाव-शुद्धि के बिना अनन्त-संसारी हुआ ॥५०॥

+ भाव-शुद्धि सहित मुनि हुए उन्होंने सिद्धि पाई, उसका उदाहरण -

भावसमणो य धीरो जुवईजणवेढिओ विसुद्धमई णामेण सिवकुमारो परीत्तसंसारिओ जादो ॥५१॥

अन्वयार्थ : शिवकुमार नामक भाव-श्रमण स्त्रीजनों से वेष्टित होते हुए भी विशुद्ध-बुद्धि का धारक धीर संसार को त्यागनेवाला हुआ ।

छाबडा :

भावश्रमणश्च धीरः युवतिजनवेष्टितः विशुद्धमतिः,;नाम्ना शिवकुमारः परित्यक्तसांसारिकः जातः ॥५१॥

शिवकुमार ने भाव की शुद्धता से ब्रह्म-स्वर्ग में विद्युन्माली देव होकर वहाँ से चय जंबूस्वामी केवली होकर मोक्ष प्राप्त किया । उसकी कथा इसप्रकार है :-

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश के वीतशोकपुर में महापद्म राजा बनमाला रानी के शिवकुमार नामक पुत्र हुआ । वह एक दिन मित्र सहित वन-क्रीड़ा करके नगर में आ रहा था । उसने मार्ग में लोगों को पूजा की सामग्री ले जाते हुए देखा । तब मित्र को पूछा -- ये कहाँ जा रहे हैं ? मित्र ने कहा, ये सागरदत्त नामक ऋद्धिधारी मुनि को पूजने के लिये वन में जा रहे हैं । तब शिवकुमार ने मुनि के पास जाकर अपना पूर्व-भव सुन संसार से विरक्त हो दीक्षा ले ली और दृढ़कर नामक श्रावक के घर प्रासुक आहार लिया । उसके बाद स्त्रियों के निकट असिधारव्रत परम ब्रह्मचर्य पालते हुए बारह वर्ष तक तप कर अन्त में संन्यास-मरण करके ब्रह्म-कल्पमें विद्युन्माली देव हुआ । वहाँ से चयकर जम्बूकुमार हुआ सो दीक्षा ले केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गया । इसप्रकार शिवकुमार भाव-मुनि ने मोक्ष प्राप्त किया । इसकी विस्तार सहित कथा जम्बूचरित्र में हैं, वहाँ से जानिये । इसप्रकार भाव-लिंग प्रधान है ॥५१॥

+ भाव-शुद्धि बिना शास्त्र भी पढ़े तो सिद्धि नहीं -- उदाहरण अभव्यसेन -

केवलिजिणपण्णत्तं एयादसअंग सयलसुयणाणं पढिओ अभव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो ॥५२॥

अन्वयार्थ : अभव्यसेन नाम के द्रव्यलिंगी मुनि ने केवली भगवान से उपदिष्ट ग्यारह अंग पढ़े और ग्यारह अंग को पूर्ण श्रुतज्ञान भी कहते हैं, क्योंकि इतने पढ़े हुए को अर्थअपेक्षा पूर्ण श्रुतज्ञान भी हो जाता है । अभव्यसेन इतना पढ़ा, तो भी भाव-श्रमणपने को प्राप्त न हुआ ।

छाबडा :

केवलिजिणप्रज्ञप्तं एकादशांगं सकलश्रुतज्ञानम्,;पठितः अभव्यसेनः न भावश्रमणत्वं प्राप्तः ॥५२॥

यहाँ ऐसा आशय है कि कोई जानेगा बाह्य-क्रिया मात्र से तो सिद्धि नहीं है और शास्त्र के पढ़ने से तो सिद्धि है तो इसप्रकार जानना भी सत्य नहीं है, क्योंकि शास्त्र पढ़ने मात्र से भी सिद्धि नहीं है -- अभव्यसेन द्रव्य-मुनि भी हुआ और ग्यारह अंग भी पढ़े तो भी जिनवचन की प्रतीति न हुई, इसलिये भाव-लिंग नहीं पाया । अभव्यसेन की कथा पुराणों में प्रसिद्ध है, वहाँ से जानिये ॥५२॥

+ शास्त्र पढ़े बिना भी भाव-विशुद्धि द्वारा सिद्धि -- उदाहरण शिवभूति मुनि -

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य णामेव य सिवभूई केवलीणाणी फुडं जाओ ॥५३॥

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि शिवभूति मुनि ने शास्त्र नहीं पढ़े थे, परन्तु तुष-माष ऐसे शब्द को रटते हुए भावों की विशुद्धता से महानुभाव होकर केवलज्ञान पाया, यह प्रकट है ।

छाबडा :

तुषमासं घोषयन भावविशुद्धः महानुभावश्च;;नाम्ना च शिवभूतिः केवलज्ञानी स्फुटं जातः ॥५३॥

कोई जानेगा कि शास्त्र पढ़ने से ही सिद्धि है तो इसप्रकार भी नहीं है । शिवभूति मुनि ने तुष माष ऐसे शब्द-मात्र रटने से ही भावों की विशुद्धता से केवलज्ञान पाया । इसकी कथा इसप्रकार है -- कोई शिवभूति नामक मुनि था । उसने गुरु के पास शास्त्र पढ़े परन्तु धारणा नहीं हुई । तब गुरु ने यह शब्द पढ़ाया कि मा रुष मा तुष सो इस शब्द को घोजने लगा । इसका अर्थ यह है कि रोष मत करे, तोष मत करे अर्थात् राग-द्वेष मत करे, इससे सर्व सिद्ध है ।

फिर यह भी शुद्ध याद न रहा तब तुष-माष ऐसा पाठ घोजने लगा, दोनों पदों के रुकार और --*तुकार भूल गये और तुष मास इसप्रकार याद रह गया । उसको घोजते हुए विचारने लगे । तब कोई एक स्त्री उड़द की दाल धो रही थी, उसको किसी ने पूछा तू क्या कर रही है ? उसने कहा -- तुष और माष भिन्न भिन्न कर रही हूँ । तब यह सुनकर मुनि ने तुष माष शब्द का भावार्थ यह जाना कि यह शरीर तो तुष है और यह आत्मा माष है, दोनों भिन्न भिन्न हैं । इसप्रकार भाव जानकर आत्मा का अनुभव करने लगा । चिन्मात्र शुद्ध आत्मा को जानकर उसमें लीन हुआ, तब घाति-कर्म का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त किया । इसप्रकार भावों की विशुद्धता से सिद्धि हुई जानकर भाव शुद्ध करना, यह उपदेश है ॥५३॥

+ इसी अर्थ को सामान्यरूप से कहते हैं -

**भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥५४॥**

अन्वयार्थ : भाव से नग्न होता है, बाह्य नग्न लिंग से क्या कार्य होता है ? अर्थात् नहीं होता है, क्योंकि भाव-सहित द्रव्य-लिंग से कर्म-प्रकृति के समूह का नाश होता है ।

छाबडा :

भावेन भवति नग्नः बहिर्लिंगेन किं च नग्नेन;;कर्मप्रकृतिनां निकरं नाशयति भावेन द्रव्येण ॥५४॥

आत्मा के कर्मप्रकृति के नाश से निर्जरा तथा मोक्ष होना कार्य है । यह कार्य द्रव्यलिंग से नहीं होता । भाव-सहित द्रव्य-लिंग होने पर कर्म की निर्जरा नामक कार्य होता है । केवल द्रव्यलिंग से तो नहीं होता है, इसलिए भावसहित द्रव्य-लिंग धारण करने का यह उपदेश है ॥५४॥

+ इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं -

**णगगतणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं
इय जाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥५५॥**

अन्वयार्थ : भावरहित नग्नत्व अकार्य है, कुछ कार्यकारी नहीं है । ऐसा जिन भगवान ने कहा है । इसप्रकार जानकर हे धीर ! धैर्यवान मुने ! निरन्तर नित्य आत्मा की ही भावना कर ।

छाबडा :

नग्नत्वं अकार्यं भावरहितं जिनैः प्रज्ञप्तम्;;इति ज्ञात्वा नित्यं भावयेः आत्मानं धीर ! ॥५५॥

आत्मा की भावना बिना केवल नग्नत्व कुछ कार्य करनेवाला नहीं है, इसलिये चिदानन्द-स्वरूप आत्मा की ही भावना निरन्तर करना, आत्मा की भावना सहित नग्नत्व सफल होता है ॥५५॥

+ भावलिंग का निरूपण करते हैं -

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहु ॥५६॥

अन्वयार्थ : भावलिंगी साधु ऐसा होता है -- देहादिक परिग्रहों से रहित होता है तथा मान कषाय से रहित होता है और आत्मा में लीन होता है, वही आत्मा भाव-लिंगी है ।

छाबडा :

देहादिसंगरहितः मानकषायैः सकलपरित्यक्तः,;आत्मा आत्मनि रतः स भावलिंगी भवेत् साधु ॥५६॥

आत्मा के स्वाभाविक परिणाम को भाव कहते हैं उस-रूप लिंग (चिह्न), लक्षण तथा रूप हो वह भाव-लिंग है । आत्मा अमूर्तिक चेतनारूप है, उसका परिणाम दर्शन ज्ञान है । उसमें कर्म के निमित्त से (--पराश्रय करने से) बाह्य तो शरीरादिक मूर्तिक पदार्थ का संबंध है और अंतरंग मिथ्यात्व और रागद्वेष आदि कषायों का भाव है, इसलिये कहते हैं कि :-

बाह्य तो देहादिक परिग्रह से रहित और अंतरंग रागादिक परिणाम में अहंकाररूप मान-कषाय, पर-भावों में अपनापन मानना इस भाव से रहित हो और अपने दर्शन-ज्ञानरूप चेतनाभाव में लीन हो वह भाव-लिंग है, जिसको इसप्रकार के भाव हों वह भाव-लिंगी साधु है ॥५६॥

+ इसी अर्थ को स्पष्ट कर कहते हैं -

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं बोसरे ॥५७॥

अन्वयार्थ : भाव-लिंगी मुनि के इसप्रकार के भाव होते हैं -- मैं पर-द्रव्य और पर-भावों से ममत्व (अपना मानना) को छोड़ता हूँ और मेरा निज-भाव ममत्व-रहित है उसको अंगीकार कर स्थित हूँ । अब मुझे आत्मा का ही अवलंबन है, अन्य सभी को छोड़ता हूँ ।

छाबडा :

ममत्वं परिवर्जामि निर्ममत्वमुपस्थितः,;आलंबनं च मे आत्मा अवशेषानि व्युत्सृजामि ॥५७॥

सब परद्रव्यों का आलम्बन छोड़कर अपने आत्म-स्वरूप में स्थित हो ऐसा भाव-लिंग है ॥५७॥

+ ज्ञान, दर्शन, संयम, त्याग संवर और योग इनमें अभेद के अनुभव की प्रेरणा -

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥५८॥

अन्वयार्थ : भावलिंगी मुनि विचारते हैं कि -- मेरे ज्ञानभाव प्रकट है, उसमें आत्मा की ही भावना है, ज्ञान कोई भिन्न वस्तु नहीं है, ज्ञान है वह आत्मा ही है, इसप्रकार ही दर्शन में भी आत्मा ही है । ज्ञान में स्थिर रहना चारित्र्य है, इसमें भी आत्मा ही है । प्रत्याख्यान (अर्थात् शुद्ध-निश्चयन के विषयभूत स्वद्रव्य के आलंबनके बल से) आगामी पर-द्रव्य का सम्बन्ध छोड़ना है, इस भाव में भी आत्मा ही है, संवर ज्ञान-रूप रहना और परद्रव्य के भाव-रूप न परिणमना है, इस भाव में भी मेरा आत्मा ही है, और योग का अर्थ एकाग्र-चिन्ता-रूप समाधि-ध्यान है, इस भाव में भी मेरा आत्मा ही है ।

छाबडा :

आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शन चरित्रे च; आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥५८॥

ज्ञानादिक कुछ भिन्न पदार्थ तो हैं नहीं, आत्मा के ही भाव हैं, संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन के भेद से भिन्न कहते हैं, वहां अभेद-दृष्टि से देखें तो ये सब भाव आत्मा ही हैं इसलिये भाव-लिंगी मुनि के अभेद अनुभव में विकल्प नहीं है, अतः निर्विकल्प अनुभव से सिद्धि है यह जानकर इसप्रकार करता है ॥५८॥

+ इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं -

**एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५९॥**

अन्वयार्थ : भावलिंगी मुनि विचारता है कि -- ज्ञान, दर्शन लक्षणरूप और शाश्वत अर्थात् नित्य ऐसा आत्मा है वही एक मेरा है । शेष भाव हैं वे मुझसे बाह्य हैं, वे सब ही संयोग-स्वरूप हैं, पर-द्रव्य हैं ।

छाबडा :

एकः मे शाश्वतः आत्मा ज्ञानदर्शन लक्षणः; शेषाः मे बाह्याः भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥५९॥

ज्ञान-दर्शन-स्वरूप नित्य एक आत्मा है वह तो मेरा रूप है, एक स्वरूप है और अन्य पर-द्रव्य हैं वे मुझसे बाह्य हैं, सब संयोग-स्वरूप हैं, भिन्न हैं । यह भावना भाव-लिंगी मुनि के है ॥५९॥

+ जो मोक्ष चाहे वह इसप्रकार आत्मा की भावना करे -

**भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छह सासयं सुक्खं ॥६०॥**

अन्वयार्थ : हे मुनिजनो ! यदि चार गतिरूप संसार से छूटकर शीघ्र शाश्वत सुख-रूप मोक्ष तुम चाहो तो भाव से शुद्ध जैसे हो वैसे अतिशय विशुद्ध निर्मल आत्मा को भावो ।

छाबडा :

भावय भावशुद्धं आत्मानं सुविशुद्धनिर्मलं चैव; लघु चतुर्गति च्युत्वा यदि इच्छसि शाश्वतं सौख्यम् ॥६०॥

यदि संसार से निवृत्त होकर मोक्ष चाहो तो द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध-आत्मा को भावो, इसप्रकार उपदेश है ॥६०॥

+ जो आत्मा को भावे वह इसके स्वभाव को जानकर भावे, वही मोक्ष पाता है -

**जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो
सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥६१॥**

अन्वयार्थ : जो भव्य-पुरुष जीव को भाता हुआ, भले भाव से संयुक्त हुआ जीव के स्वभाव को जानकर भावे, वह जरा-मरण का विनाश कर प्रगट निर्वाण को प्राप्त करता है ।

छाबडा :

यः जीवः भावयन् जीवस्वभावं सुभावसंयुक्तः, सः जरामरणविनाशं करोति स्फुटं लभते निर्वाणम् ॥६१॥

जीव ऐसा नाम तो लोक में प्रसिद्ध है, परन्तु इसका स्वभाव कैसा है ? इसप्रकार लोगों के यथार्थ ज्ञान नहीं है और मतांतर के दोष से इसका स्वरूप विपर्यय हो रहा है । इसलिये इसका यथार्थ-स्वरूप जानकर भावना करते हैं वे संसार से निर्वृत्त होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥६१॥

+ जीव का स्वरूप -

**जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ
सो जीवो णायव्वो कम्मक्खयकरणणिम्मित्तो ॥६२॥**

अन्वयार्थ : जिन सर्वज्ञदेव ने जीव का स्वरूप इसप्रकार कहा है -- जीव है वह चेतना-सहित है और ज्ञान-स्वभाव है, इसप्रकार जीव की भावना करना, जो कर्म के क्षय के निमित्त जानना चाहिये ।

छाबडा :

जीवः जिनप्रज्ञप्तिः ज्ञानस्वभावः च चेतनासहितः, सः जीवः ज्ञातव्यः कर्मक्षयकरणनिमित्तः ॥६२॥

जीव का

- चेतना-सहित विशेषण करने से तो चार्वाक जीव को चेतना-सहित नहीं मानता है उसका निराकरण है ।
- ज्ञान-स्वभाव विशेषण से साँख्यमती ज्ञान को प्रधान धर्म मानता है, जीव को उदासीन नित्य चेतनारूप मानता है उसका निराकरण है और
- नैयायिकमती गुण-गुणी का भेद मानकर ज्ञान को सदा भिन्न मानता है उसका निराकरण है ।

ऐसे जीव के स्वरूप को भाना कर्म के क्षय का निमित्त होता है, अन्य प्रकार मिथ्याभाव है ॥६२॥

+ जो पुरुष जीव का अस्तित्व मानते हैं वे सिद्ध होते हैं :-

**जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तत्थ
ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ॥६३॥**

अन्वयार्थ : जिन भव्यजीवों के जीव नामक पदार्थ सद्भावरूप है और सर्वथा अभावरूप नहीं है, वे भव्य-जीव देह से भिन्न तथा वचन-गोचरातीत सिद्ध होते हैं ।

छाबडा :

येषां जीवस्वभावः नास्ति अभावः च सर्वथा तत्र, ते भवन्ति भिन्नदेहाः सिद्धाः वचोगोचरातीताः ॥६३॥

जीव द्रव्य-पर्याय-स्वरूप है, कथंचित् अस्ति-स्वरूप है, कथंचित् नास्ति-स्वरूप है । पर्याय अनित्य है, इस जीव के कर्म के निमित्त से मनुष्य, तिर्यच, देव और नारक पर्याय होती हैं, इसका कदाचित् अभाव देखकर जीव का सर्वथा अभाव मानते हैं । उनको सम्बोधन करने के लिये ऐसा कहा है कि जीव का द्रव्य-दृष्टि से नित्य स्वभाव है । पर्याय का अभाव होने पर सर्वथा अभाव नहीं मानता है वह देह से भिन्न होकर सिद्ध परमात्मा होता है, वे सिद्ध वचन-गोचर नहीं है । जो देह को नष्ट होते देखकर जीव का सर्वथा नाश मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं, वे सिद्ध-परमात्मा कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं होते हैं ॥६३॥

+ वचन के अगोचर है और अनुभवगम्य जीव का स्वरूप इसप्रकार है -

अरसमरूपमगंधं अव्यक्तं चेदणागुणमसद्वं जाण अलिंगग्रहणं जीवमणिद्विट्टिसंठाणं ॥६४॥

अन्वयार्थ : हे भव्य ! तू जीव का स्वरूप इसप्रकार जान -- कैसा है ? अरस अर्थात् पाँच प्रकार के खट्टे, मीठे, कड़ुवे, कषाय के और खारे रस से रहित है । काला, पीला, लाल, सफेद और हरा इसप्रकार अरूप अर्थात् पाँच प्रकार के रूप से रहित है । दो प्रकार की गंध से रहित है । अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियों के गोचर-व्यक्त नहीं है । चेतना गुणवाला है । अशब्द अर्थात् शब्द-रहित है । अलिंगग्रहण अर्थात् जिसका कोई चिह्न इन्द्रिय द्वारा ग्रहण में नहीं आता है । अनिर्दिष्ट-संस्थान अर्थात् चौकोर, गोल आदि कुछ आकार उसका कहा नहीं जाता है, इसप्रकार जीव जानो ।

छाबडा :

अरसमरूपमगंधं अव्यक्तं चेतनागुणं अशब्दम्;;जानीहि अलिंगग्रहणं जीवं अनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥६४॥

रस, रूप, गंध, शब्द ये तो पुद्गल के गुण हैं, इनका निषेधरूप जीव कहा; अव्यक्त अलिंगग्रहण अनिर्दिष्ट-संस्थान कहा, इसप्रकार ये भी पुद्गल के स्वभाव की अपेक्षा से निषेधरूप ही जीव कहा और चेतना गुण कहा तो यह जीव का विधिरूप कहा । निषेध अपेक्षा तो वचन के अगोचर जानना और विधि अपेक्षा स्वसंवेदनगोचर जानना । इसप्रकार जीव का स्वरूप जानकर अनुभवगोचर करना । यह गाथा समयसारमें ४६, प्रवचनसारमें १७२, नियमसारमें ४६, पंचास्तिकाय में १२७, धवला टीका पु० ३ पृ० २, लघु द्रव्यसंग्रह गाथा ५ आदि में भी है । इसका व्याख्यान टीकाकार ने विशेष कहा है वह वहाँ से जानना चाहिये ॥६४॥

+ जीव का स्वभाव -- ज्ञानस्वरूप -

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होइ ॥६५॥

अन्वयार्थ : हे भव्यजन ! तू यह ज्ञान पाँच प्रकार से भा, कैसा है यह ज्ञान ? अज्ञान का नाश करनेवाला है, कैसा होकर भा ? भावना से भावित जो भाव उस सहित भा, शीघ्र भा, इससे तू दिव (स्वर्ग) और शिव (मोक्ष) का पात्र होगा ।

छाबडा :

भावय पंचप्रकारं ज्ञानं अज्ञाननाशनं शीघ्रम्;;भावनाभावितसहितः दिवशिवसुखभाजन भवति ॥६५॥

यद्यपि ज्ञान जानने के स्वभाव से एक प्रकार का है तो भी कर्म के क्षयोपशम और क्षय की अपेक्षा पाँच प्रकार का है । उसमें मिथ्यात्व-भाव की अपेक्षा से मति, श्रुत और अवधि ये तीन मिथ्याज्ञान भी कहलाते हैं, इसलिये मिथ्याज्ञान का अभाव करने के लिए मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान-स्वरूप पाँच प्रकार का सम्यग्ज्ञान जानकर उनको भाना । परमार्थ विचार से ज्ञान एक ही प्रकार का है । यह ज्ञान की भावना स्वर्ग-मोक्ष की दाता है ॥६५॥

+ पढ़ना, सुनना भी भाव बिना कुछ नहीं है -

पढिएण वि किं कीरइ किं वा सुणिएण भावरहिएण भावो कारणभूदो सायारणयारभूदाणं ॥६६॥

अन्वयार्थ : भावरहित पढ़ने-सुनने से क्या होता है ? अर्थात् कुछ भी कार्यकारी नहीं है, इसलिये श्रावकत्व तथा मुनित्व इनका कारणभूत भाव ही है ।

छाबडा :

पठितेनापि किं क्रियते किं वा श्रुतेन भावरहितेन;;भावः कारणभूतः सागारनगारभूतानाम् ॥६६॥

मोक्ष-मार्ग में एकदेश, सर्वदेश व्रतों की प्रवृत्तिरूप मुनि-श्रावकपना है, उन दोनों का कारणभूत निश्चय सम्यग्दर्शनादिक भाव हैं । भाव बिना व्रत-क्रिया की कथनी कुछ कार्यकारी नहीं है, इसलिये ऐसा उपदेश है कि भाव बिना पढ़ने-सुनने आदि से क्या होता है ? केवल खेदमात्र है, इसलिये भाव-सहित जो करो वह सफल है । यहाँ ऐसा आशय है कि कोई जाने कि-पढ़ना-सुनना ही ज्ञान है तो इसप्रकार नहीं है, पढ़कर-सुनकर आपको ज्ञान-स्वरूप जानकर अनुभव करे तब भाव जाना जाता है, इसलिये बारबार भावना से भाव लगाने पर ही सिद्धि है ॥६६॥

+ यदि बाह्य नग्नपने से ही सिद्धि हो तो नग्न तो सब ही होते हैं -

**द्व्येण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया
पारिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥६७॥**

अन्वयार्थ : द्रव्यसे बाह्य में तो सब प्राणी नग्न होते हैं । नारकी जीव और तिर्यच जीव तो निरन्तर वस्त्रादि से रहित नग्न ही रहते हैं । सकलसंघात कहने से अन्य मनुष्य आदि भी कारण पाकर नग्न होते हैं तो भी परिणामों से अशुद्ध हैं, इसलिये भाव-श्रमणपने को प्राप्त नहीं हुए ।

छाबडा :

द्रव्येण सकला नग्गाः नारकतिर्यचश्च सकलसंघाताः;;परिणामेन असुद्धाः भावश्रमणत्वं प्राप्तः ॥६७॥

यदि नग्न रहने से ही मुनि-लिंग हो तो नारकी तिर्यच आदि सब जीव समूह नग्न रहते हैं वे सब ही मुनि ठहरे, इसलिये मुनिपना तो भाव शुद्ध होने पर ही होता है । अशुद्ध-भाव होने पर द्रव्य से नग्न भी हो तो भाव-मुनिपना नहीं पाता है ॥६७॥

+ केवल नग्नपने की निष्फलता दिखाते हैं -

**णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमइ
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ॥६८॥**

अन्वयार्थ : नग्न सदा दुःख पाता है, नग्न सदा संसार-समुद्र में भ्रमण करता है और नग्न बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप स्वानुभव को नहीं पाता है, कैसा है वह नग्न -- जो जिनभावना से रहित है ।

छाबडा :

नग्नः प्राप्नोति दुःखं नग्नः संसारसागरे भ्रमति;;नग्नः न लभते बोधिं जिनभावनावर्जितः सुचिरं ॥६८॥

जिन-भावना जो सम्यग्दर्शन-भावना उससे रहित जो जीव है वह नग्न भी रहे तो बोध जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्ष-मार्ग को नहीं पाता है । इसीलिये संसार-समुद्र में भ्रमण करता हुआ संसार में ही दुःख को पाता है तथा वर्तमान में भी जो पुरुष नग्न होता है वह दुःखही को पाता है । सुख तो भाव-मुनि नग्न हों वे ही पाते हैं ॥६८॥

+ भाव-रहित द्रव्य-नग्न होकर मुनि कहलावे उसका अपयश होता है -

**अयसाण भावयेण य किं ते णग्गेम पावमलिणेण
पेसुण्णाहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥६९॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तेरे ऐसे नग्नपने से तथा मुनिपने से क्या साध्य है ? कैसा है -- पैशून्य अर्थात् दूसरे का दोष कहने का स्वभाव, हास्य अर्थात् दूसरे की हँसी करना, मत्सर अर्थात् अपने बराबरवाले से ईर्ष्या रखकर दूसरे को नीचा करने की

वृत्ति, माया अर्थात् कुटिल परिणाम, ये भाव उसमें प्रचुरता से पाये जाते हैं, इसीलिये पाप से मलिन है और अयश अर्थात् अपकीर्ति का भाजन है ।

छाबडा :

अयशसां भाजनेन च किं ते नग्नेन पापमलिनेन;; पैशून्यमहासमत्सरमायाबहुलेन श्रमणेन ॥६९॥

पैशून्य आदि पापों से मलिन इसप्रकार नग्न-स्वरूप मुनिपने से क्या साध्य हैं ? उलटा अपकीर्तन का भाजन होकर व्यवहार-धर्म की हँसी करानेवाला होता है, इसलिये भाव-लिंगी होना योग्य है ॥६९॥

+ भावलिंगी होने का उपदेश करते हैं -

**पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भितरभावदोसपरिसुद्धो
भावमलेण य जीवो बाहिरसंगमि मयलियइ ॥७०॥**

अन्वयार्थ : हे आत्मन् ! तू अभ्यन्तर भाव-दोषों से अत्यन्त शुद्ध ऐसा जिनवरलिंग अर्थात् बाह्य निर्ग्रन्थ लिंग प्रगट कर, भाव-शुद्धि के बिना द्रव्य-लिंग बिगड़ जायेगा, क्योंकि भाव-मलिन जीव बाह्य परिग्रह में मलिन होता है ।

छाबडा :

प्रकटय जिनवरलिंगं अभ्यन्तरभावदोषपरिशुद्धः;; भावमलेन च जीवः बाह्यसंगे मलिनयति ॥७०॥

यदि भाव शुद्ध कर द्रव्य-लिंग धारण करे तो भ्रष्ट न हो और भाव मलिन हों तो बाह्य परिग्रह की संगति से द्रव्य-लिंग भी बिगाड़े, इसलिये प्रधानरूप से भाव-लिंग ही का उपदेश है, विशुद्ध भावों के बिना बाह्य-भेष धारण करना योग्य नहीं है ॥ ७०॥

+ भावरहित नग्न मुनि है वह हास्य का स्थान है -

**धम्ममि णिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो
णिप्फलणिगुणयारो णडसवणो णगगरूवेण ॥७१॥**

अन्वयार्थ : धर्म अर्थात् अपना स्वभाव तथा दसलक्षण-स्वरूप में जिसका वास नहीं है वह जीव दोषों का आवास है अथवा जिसमें दोष रहते हैं वह इक्षु के फूल के समान है, जिसके न तो कुछ फल ही लगते हैं और न उसमें गंधादिक गुण ही पाये जाते हैं । इसलिये ऐसा मुनि तो नग्नरूप करके नट-श्रमण अर्थात् नाचनेवाले भाँड़ के स्वांग के समान है ।

छाबडा :

धर्मे निप्रवासः दोषावासः च इक्षुपुष्पसमः;; निष्फलनिर्गुणकारः नटश्रमणः नग्नरूपेण ॥७१॥

जिसके धर्म की वासना नहीं है उसमें क्रोधादिक दोष ही रहते हैं । यदि वह दिगम्बर रूप धारण करे तो वह मुनि इक्षु के फूल के समान निर्गुण और निष्फल है, ऐसे मुनि के मोक्षरूप फल नहीं लगते हैं । सम्यग्ज्ञानादिक गुण जिसमें ही हैं वह नग्न होने पर भाँड़ जैसा स्वांग दीखता है । भाँड़ भी नाचे तब श्रंगारादिक करके नाचे तो शोभा पावे, नग्न होकर नाचे तब हास्य को पावे, वैसे ही केवल द्रव्य-नग्न हास्य का स्थान है ॥७१॥

+ द्रव्यलिंगी बोधि-समाधि जैसी जिनमार्ग में कही है वैसी नहीं पाता है -

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिगंगा ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ॥७२॥

अन्वयार्थ : जो मुनि राग अर्थात् अभ्यन्तर पर-द्रव्य से प्रीति, वही हुआ संग अर्थात् परिग्रह उससे युक्त हैं और जिनभावना अर्थात् शुद्ध-स्वरूप की भावना से रहित हैं वे द्रव्य-निर्ग्रन्थ हैं तो भी निर्मल जिनशासन में जो समाधि अर्थात् धर्म-शुक्लध्यान और बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-स्वरूप मोक्ष-मार्ग को नहीं पाते हैं ।

छाबडा :

ये रागसंयुक्ताः जिनभावनारहितद्रव्यनिर्ग्रन्थाः; न लभन्ते ते समाधिं बोधिं जिनशासने विमले ॥७२॥

द्रव्यलिङ्गी अभ्यन्तर का राग नहीं छोड़ता है, परमात्मा का ध्यान नहीं करता है, तब कैसे मोक्ष-मार्ग पावे तथा कैसे समाधि-मरण पावे ॥७२॥

+ पहिले भाव से नग्न हो, पीछे द्रव्यमुनि बने यह मार्ग है -

भावेण होइ णगो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥७३॥

अन्वयार्थ : पहिले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर और भाव से अन्तरंग नग्न हो, एकरूप शुद्धआत्मा का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करे, पीछे मुनि द्रव्य से बाह्य-लिंग जिन-आज्ञा से प्रकट करे, यह मार्ग है ।

छाबडा :

भावेन भवति नग्नः मिथ्यात्वादीन् च दोषान् त्यक्त्वा; पश्चात् द्रव्येण मुनिः प्रकटयति लिंगं जिनाज्ञया ॥७३॥

भाव शुद्ध हुए बिना पहिले ही दिगम्बररूप धारण कर ले तो पीछे भाव बिगड़े तब भ्रष्ट हो जाय और भ्रष्ट होकर भी मुनि कहलाता रहे तो मार्ग की हँसी करावे, इसलिये जिन आज्ञा यही है कि भाव शुद्ध करके बाह्य मुनिपना प्रगट करो ॥७३॥

+ शुद्ध भाव ही स्वर्ग-मोक्ष का कारण है, मलिनभाव संसार का कारण है -

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥७४॥

अन्वयार्थ : भाव ही स्वर्ग-मोक्ष का कारण है, और भाव-रहित श्रमण पाप-स्वरूप है, तिर्यचगति का स्थान है तथा कर्म-मल से मलिन चित्तवाला है ।

छाबडा :

भावः अपि दिव्यशिवसौख्यभाजनं भाववर्जितः श्रमणः; कर्ममलमलिनचित्तः तिर्यगालयभाजनं पापः ॥७४॥

भाव से शुद्ध है वह तो स्वर्ग-मोक्ष का पात्र है और भाव से मलिन है वह तिर्यचगति में निवास करता है ॥७४॥

+ भाव के फल का माहात्म्य -

खयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संथुया विऊला चक्कहररायलच्छी लब्भइ बोही सुभावेण ॥७५॥

अन्वयार्थ : सुभाव अर्थात् भले भावसे, मंद-कषाय-रूप विशुद्धभाव से, चक्रवर्ती आदि राजाओं की विपुल अर्थात् बड़ी लक्ष्मी पाता है । कैसी है -- खचर (विद्याधर), अमर (देव) और मनुज (मनुष्य) इनकी अंजुलिमाला (हाथोंकी अंजुलि) की पंक्ति से संस्तुत (नमस्कारपूर्वक स्तुति करने योग्य) है और यह केवल लक्ष्मी ही नहीं पाता है, किन्तु बोधि (रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग) पाता है ।

छाबडा :

खचरामरमनुजकरांजलिमालाभिश्च संस्तुता विपुलाः, चक्रधरराजलक्ष्मीः लभ्यते बोधिः सुभावेन ॥७५॥

विशुद्ध भावों का यह माहात्म्य है ॥७५॥

+ भावों के भेद -

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्वं असुहं च अट्टरउद्धं सुह धम्मं जिणवरिं देहिं ॥७६॥

अन्वयार्थ : जिनवरदेव ने भाव तीन प्रकार का कहा है -- 1 शुभ, 2 अशुभ और 3 शुद्ध । आर्त और रौद्र ये अशुभ ध्यान हैं तथा धर्म-ध्यान शुभ है ।

छाबडा :

भावः त्रिविधप्रकारः शुभोऽशुभः शुद्ध एव ज्ञातव्यः, अशुभश्च आर्तरौद्रं शुभः धर्म्यं जिनवरेन्द्रैः ॥७६॥

+ भाव -- शुभ, अशुभ और शुद्ध । आर्त और रौद्र ये अशुभ ध्यान हैं तथा धर्मध्यान शुभ है -

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयं तं समायरह ॥७७॥

अन्वयार्थ : शुद्ध है वह अपना शुद्ध-स्वभाव अपने ही में है इसप्रकार जिनवर देव ने कहा है, वह जानकर इनमें जो कल्याणरूप हो उसको अंगीकार करो ।

छाबडा :

शुद्धः शुद्धस्वभावः आत्मा आत्मनि सः च ज्ञातव्यः, इति जिनवरैः भणितं यः श्रेयान् तं समाचर ॥७७॥

भगवान ने भाव तीन प्रकार के कहे हैं- १ शुभ, २ अशुभ और ३ शुद्ध । अशुभ तो आर्त व रौद्र ध्यान हैं वे तो अति मलिन हैं, त्याज्य ही हैं । धर्म-ध्यान शुभ है, इसप्रकार यह कथंचित् उपादेय है इससे मंद-कषायरूप विशुद्ध भाव की प्राप्ति है । शुद्ध भाव है वह सर्वथा उपादेय है क्योंकि यह आत्मा का स्वरूप ही है । इसप्रकार हेय, उपादेय जानकर त्याग और ग्रहण करना चाहिये, इसीलिये ऐसा कहा है कि जो कल्याणकारी हो वह अंगीकार करना यह जिनदेव का उपदेश है ॥७७॥

+ जिनशासन का इसप्रकार माहात्म्य है -

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो पावइ तिहुवणसारं बोहि जिणसासणे जीवो ॥७८॥

अन्वयार्थ : यह जीव प्रगलित-मान-कषायः अर्थात् जिसका मानकषाय प्रकर्षता से गल गया है, किसी पर-द्रव्य से अहंकाररूप गर्व नहीं करता है और जिसके मिथ्यात्व का उदयरूप मोह भी नष्ट हो गया है इसीलिये समचित्त है, पर-द्रव्य में ममकार रूप मिथ्यात्व और इष्ट-अनिष्ट बुद्धिरूप राग-द्वेष जिसके नहीं है, वह जिनशासन में तीन भुवन में सार ऐसी बोधि अर्थात् रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को पाता है ।

छाबडा :

प्रगलितमानकषायः प्रगलितमिथ्यात्वमोहसमचित्तः,;अप्रोति त्रिभुवनसारं बोधिं जिनशासने जीवः ॥७८॥

मिथ्यात्व-भाव और कषाय-भाव का स्वरूप अन्य मतों में यथार्थ नहीं है । यह कथन इस वीतरागरूप जिन-मत में ही है, इसलिये यह जीव मिथ्यात्व कषाय के अभावरूप मोक्ष-मार्ग तीन-लोक में सार जिन-मत के सेवन से पाता है, अन्यत्र नहीं है ।

+ ऐसा मुनि ही तीर्थकर-प्रकृति बाँधता है -

विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइं भाऊण तिथयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥७९॥

अन्वयार्थ : जिसका चित्त इन्द्रियों के विषयोंसे विरक्त है ऐसा श्रमण अर्थात् मुनि है वह सोलहकारण भावना को भाकर तीर्थकर नाम प्रकृति को थोड़े ही समय में बाँध लेता है ।

छाबडा :

विषयविरक्तः श्रमणः षोडशवरकारणानि भावयित्वा,;तीर्थकरनामकर्म बध्नाति अचिरेण कालेन ॥७९॥

यह भाव का माहात्म्य है, (सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वज्ञान सहित-स्वसन्मुखता सहित) विषयों से विरक्तभाव होकर सोलह-कारण भावना भावे तो अचिंत्य है महिमा जिसकी ऐसी तीन-लोक से पूज्य तीर्थकर नाम प्रकृति को बाँधता है और उसको भोगकर मोक्ष को प्राप्त होता है । ये सोलहकारण भावना के नाम हैं, १-दर्शन-विशुद्धि, २-विनय-संपन्नता, ३-शील-व्रतेष्वनतिचार, ४-अभीक्षण-ज्ञानोपयोग, ५-सेवंग, ६-शक्तितस्त्याग, ७-शक्तितस्तप, ८-साधु-समाधि, ९-वैयावृत्यकरण, १०-अर्हद्भक्ति, ११-आचार्य-भक्ति, १२-बहुश्रुत-भक्ति, १३-प्रवचन-भक्ति, १४-आवश्यक-परिहाणि, १५-सन्मार्ग-प्रभावना, १६-प्रवचन-वात्सल्य, इसप्रकार सोलह भावना हैं । इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की टीका से जानिये । इनमें सम्यग्दर्शन प्रधान है, यह न हो और पन्द्रह भावना का व्यवहार हो तो कार्यकारी नहीं और यह हो तो पन्द्रह भावना का कार्य यही कर ले, इसप्रकार जानना चाहिये ॥७९॥

+ भाव की विशुद्धता के लिए निमित्त आचरण कहते हैं -

बारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भाव तिविहेण धरहि मणमत्तदुरियं णाणंकुसएण मुणिपवर ॥८०॥

अन्वयार्थ : हे मुनिप्रवर ! मुनियों में श्रेष्ठ ! तू बारह प्रकार के तपका आचरण कर और तेरह प्रकार की क्रिया मन-वचन-काया से भा और ज्ञानरूप अंकुश से मनरूप मतवाले हाथी को अपने वश में रख ।

छाबडा :

यह मनरूप हाथी बहुत मदोन्मत्त है, वह तपश्चरण क्रियादिसहित ज्ञानरूप अंकुश ही से वश में होता है, इसलिये यह उपदेश है, अन्य प्रकार से वश में नहीं होता है । ये बारह तपों के नाम हैं १-अनशन, २-अवमौदार्य, ३-वृत्ति-परिसंख्यान, ४-रस-परित्याग, ५-विविक्त-शय्यासन, ६-काय-क्लेश ये तो छह प्रकार के बाह्य तप हैं, और १-प्रायश्चित्त २-विनय ३-वैयावृत्य, ४-स्वाध्याय ५-व्युत्सर्ग ६-ध्यान ये छह प्रकार के अभ्यंतर तप हैं, इनका स्वरूप तत्त्वार्थसूत्र की टीका से जानना चाहिये । तेरह क्रिया इस प्रकार हैं-पंच परमेष्ठी को नमस्कार ये पाँच क्रिया, छह आवश्यक क्रिया, १निषिधिका-क्रिया और २आसिका-क्रिया । इसप्रकार भाव शुद्ध होने के कारण कहे ॥८०॥

+ द्रव्य-भावरूप सामान्यरूप से जिनलिंग का स्वरूप -

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू भावं भावियपुव्वं जिणलिंगं णिम्लं सुद्धं ॥८१॥

अन्वयार्थ : निर्मल शुद्ध जिनलिंग इसप्रकार है -- जहाँ पाँच प्रकार के वस्त्र का त्याग है, भूमि पर शयन है, दो प्रकार का संयम है, भिक्षा भोजन है, भावित-पूर्व अर्थात् पहिले शुद्ध आत्मा का स्वरूप पर-द्रव्य से भिन्न सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी हुआ, उसे बारंबार भावना से अनुभव किया इसप्रकार जिसमें भाव है, ऐसा निर्मल अर्थात् बाह्य-मल-रहित शुद्ध अर्थात् अन्तर्मल-रहित जिनलिंग है ।

छाबडा :

पंचविधचेलत्यागं क्षितिशयनं द्विविधसंयमं भिक्षुः; भाव भावयित्वा पूर्वं जिनलिंगं निर्मलं शुद्धम् ॥८१॥

यहाँ लिंग द्रव्य / भाव से दो प्रकार का है । द्रव्य तो बाह्य त्याग अपेक्षा है जिसमें पाँच प्रकार के वस्त्र का त्याग है, वे पाँच प्रकार ऐसे हैं --

1. अंडज अर्थात् रेशम से बना,
2. बोंडुज अर्थात् कपास से बना,
3. रोमज अर्थात् ऊनसे बना,
4. बल्कलज अर्थात् वृक्ष की छाल से बना,
5. चर्मज अर्थात् मृग आदिक के चर्म से बना,

इसप्रकार पाँच प्रकार कहे । इसप्रकार नहीं जानना कि इनके सिवाय और वस्त्र ग्राह्य हैं -- ये तो उपलक्षण-मात्र कहे हैं, इसलिये सब ही वस्त्र-मात्र का त्याग जानना ।

भूमि पर सोना, बैठना इसमें काष्ठ-तृण भी गिन लेना । इन्द्रिय और मन को वश में करना, छह-काय के जीवों की रक्षा करना -- इसप्रकार दो प्रकार का संयम है । भिक्षा-भोजन करना जिसमें कृत, कारित, अनुमोदना का दोष न लगे, छियालीस दोष टले, बत्तीस अंतराय टले ऐसी विधि के अनुसार आहार करे । इसप्रकार तो बाह्य-लिंग है और पहिले कहा वैसे हो वह भाव-लिंग है, इसप्रकार दो प्रकार का शुद्ध जिन-लिंग कहा है, अन्य प्रकार श्वेताम्बरादिक कहते हैं वह जिनलिंग नहीं है ॥८१॥

+ जिनधर्म की महिमा -

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भाविभवमहणं ॥८२॥

अन्वयार्थ : जैसे रत्नोमें प्रवर (श्रेष्ठ) उत्तम व्रज (हीरा) है और जैसे तरुगण (बड़े वृक्ष) में उत्तम गोसीर (बावन चन्दन) है, वैसे ही धर्मों में उत्तम भाविभवमथन (आगामी संसार का मथन करनेवाला) जिन-धर्म है, इससे मोक्ष होता है ।

छाबडा :

यथा रत्नानां प्रवरं वज्रं यथा तरुगणानां गोशीरम्;;तथा धर्माणां प्रवरं जिनधर्मं भाविभवमथनम् ॥८२॥

धर्म ऐसा सामान्य नाम तो लोक में प्रसिद्ध है और लोक अनेक प्रकार से क्रियाकांडादिक को धर्म जानकर सेवन करता है, परन्तु परीक्षा करने पर मोक्ष की प्राप्ति करानेवाला जिन-धर्म ही है, अन्य सब संसार के कारण हैं । वे क्रियाकांडादिक संसार ही में रखते हैं, कदाचित् संसार के भोगों की प्राप्ति कराते हैं तो भी फिर भोगों में लीन होता है, तब एकेन्द्रियादि पर्याय पाता है तथा नरक को पाता है । ऐसे अन्य धर्म नाम-मात्र हैं, इसलिये उत्तम जिन-धर्म ही जानना ॥८२॥

+ धर्म का स्वरूप -

**पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८३॥**

अन्वयार्थ : जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने इसप्रकार कहा है कि -- पूजा आदिक में और व्रत-सहित होना है वह तो पुण्य ही है तथा मोह के क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम वह धर्म है ।

छाबडा :

पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनैः शासने भणितम्;;मोहक्षोभविहीनः परिणामः आत्मनः धर्मः ॥८३॥

लौकिक जन तथा अन्यमती कई कहते हैं कि पूजा आदिक शुभ क्रियाओं में और व्रत-क्रिया सहित है वह जिन-धर्म है, परन्तु ऐसा नहीं है । जिन-मत में जिन-भगवान ने इसप्रकार कहा है कि-पूजादिक में और व्रत-सहित होना है वह तो पुण्य है, इसमें पूजा और आदि शब्द से भक्ति, वंदना, वैयावृत्य आदिक समझना, यह तो देव-गुरु-शास्त्र के लिये होता है और उपवास आदिक व्रत हैं वह शुभ-क्रिया है, इनमें आत्मा का राग-सहित शुभ-परिणाम है उससे पुण्य-कर्म होता है इसलिये इनको पुण्य कहते हैं । इसका फल स्वर्गादिक भोगों की प्राप्ति है ।

मोह के क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को धर्म समझिये । मिथ्यात्व तो अतत्त्वार्थ-श्रद्धान है, क्रोध-मान-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा ये छह द्वेष-प्रकृति हैं और माया, लोभ, हास्य, रति ये चार तथा पुरुष, स्त्री, नपुंसक ये तीन विकार, ऐसी सात प्रकृति रागरूप हैं । इनके निमित्त से आत्मा का ज्ञान-दर्शन स्वभाव विकार-सहित, क्षोभरूप, चलाचल, व्याकुल होता है इसलिये इन विकारों से रहित हो तब शुद्ध दर्शन-ज्ञानरूप निश्चय हो वह आत्मा का धर्म है । इस धर्म से आत्मा के आगामी कर्म का आस्रव रुककर संवर होता है और पहिले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा होती है । संपूर्ण निर्जरा हो जाय तब मोक्ष होता है तथा एकदेश मोह के क्षोभ की हानि होती है इसलिये शुभ-परिणाम को भी उपचार से धर्म कहते हैं और जो केवल शुभ-परिणाम ही को धर्म मानकर संतुष्ट हैं उनको धर्म की प्राप्ति नहीं है, यह जिन-मत का उपदेश है ॥८३॥

+ पुण्य ही को धर्म मानना केवल भोग का निमित्त, कर्मक्षय का नहीं -

**सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि
पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥८४॥**

अन्वयार्थ : जो पुरुष पुण्य को धर्म मानकर श्रद्धान करते हैं, प्रतीत करते हैं, रुचि करते हैं और स्पर्श करते हैं उनके पुण्य भोग का निमित्त है । इससे स्वर्गादिक भोग पाता है और वह पुण्य कर्म के क्षयका निमित्त नहीं होता है, यह प्रगट जानना चाहिये ।

छाबडा :

श्रद्धाति च प्रत्येति च रोचते च तथा पुनरपि स्पृशति;;पुण्यं भोगनिमित्तं न हि तत् कर्मक्षयनिमित्तम् ॥८४॥

शुभ-क्रियारूप पुण्य को धर्म जानकर इसका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करता है उसके पुण्य-कर्म का बंध होता है, उससे स्वर्गादि के भोगों की प्राप्ति होती है और उससे कर्म का क्षयरूप संवर, निर्जरा, मोक्ष नहीं होता है ॥८४॥

+ आत्मा का स्वभावरूप धर्म ही मोक्ष का कारण -

**अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो
संसारतरणहेट्ठ धम्मो त्ति जिणेहिं णिद्धिं ॥८५॥**

अन्वयार्थ : यदि आत्मा रागादिक समस्त दोषों से रहित होकर आत्मा ही में रत हो जाय तो ऐसे धर्म को जिनेश्वर-देव ने संसार-समुद्र में तिरने का कारण कहा है ।

छाबडा :

आत्मा आत्मनि रतः रागादिषु सकलदोषपरित्यक्तः; संसारतरणहेतुः धर्म इति जिनैः निर्दिष्टम् ॥८५॥

जो पहिले कहा था कि मोह के क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम है सो धर्म है, सो ऐसा धर्म ही संसार से पार कर मोक्ष का कारण भगवान ने कहा है, यह नियम है ॥८५॥

+ आत्मा के लिए इष्ट बिना समस्त पुण्य के आचरण से सिद्धि नहीं -

**अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइं
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥८६॥**

अन्वयार्थ : अथवा जो पुरुष आत्मा का इष्ट नहीं करता है, उसका स्वरूप नहीं जानता है, अंगीकार नहीं करता है और सब प्रकार के समस्त पुण्य को करता है, तो भी सिद्धि (मोक्ष) को नहीं पाता है किन्तु वह पुरुष संसार ही में भ्रमण करता है ।

छाबडा :

अथ पुनः आत्मानं नेच्छति पुण्यानि करोति निरवशेषानि; तथापि न प्राप्नोति सिद्धिं संसारस्थ पुनः भणितः ॥८६॥

आत्मिक धर्म धारण किये बिना सब प्रकार के पुण्य का आचरण करे तो भी मोक्ष नहीं होता है, संसार ही में रहता है । कदाचित् स्वर्गादिक भोग पावे तो वहाँ भोगों में आसक्त होकर रहे, वहाँ से चय एकेन्द्रियादिक होकर संसार ही में भ्रमण करता है ।

+ आत्मा ही का श्रद्धान करो, प्रयत्न-पूर्वक जानो, मोक्ष प्राप्त करो -

**एएण कारणेण य तं अप्पा सद्वहेह तिविहेण
जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥८७॥**

अन्वयार्थ : पहिले कहा था कि आत्माका धर्म तो मोक्ष है, उसी कारणसे कहते हैं कि -- हे भव्यजीवो ! तुम उस आत्मा को प्रयत्न-पूर्वक सब प्रकार के उद्यम करके यथार्थ जानो, उस आत्मा का श्रद्धान करो, प्रतीत करो, आचरण करो । मन-वचन-काय से ऐसे करो जिससे मोक्ष पावो ।

छाबडा :

एतेन कारणेन च तं आत्मानं श्रद्धत त्रिविधेन; येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ॥८७॥

जिसको जानने और श्रद्धान करने से मोक्ष हो उसी को जानना और श्रद्धान करना मोक्ष प्राप्ति कराता है, इसलिये आत्मा को जानने का कार्य सब प्रकार के उद्यम पूर्वक करना चाहिये, इसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिये भव्यजीवों को यही उपदेश है ॥८७॥

+ बाह्य-हिंसादिक क्रिया के बिना, अशुद्ध-भाव से तंदुल मत्स्य नरक को गया -

मच्छो वि सालिसिथो असुद्धभावो गओ महाणरयं इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणं णिच्चं ॥८८॥

अन्वयार्थ : हे भव्यजीव ! तू देख, सालिसिथ (तंदुल नामका सत्त्व) वह भी अशुद्ध-भाव-स्वरूप होता हुआ महानरक (सातवें नरक) में गया, इसलिये तूझे उपदेश देते हैं कि अपनी आत्मा को जानने के लिए निरंतर जिनभावना कर ।

छाबडा :

मत्स्यः अपि सालिसिथः अशुद्धभावः गतः महानरकम्; इति ज्ञात्वा आत्मानं भावय जिनभावनां नित्यम् ॥८८॥

अशुद्धभाव के माहात्म्य के तंदुल मत्स्य जैसा अल्पजीव भी सातवें नरक को गया, तो अन्य बड़े जीव क्यों न नरक जावें ? इसलिये भाव शुद्ध करने का उपदेश है । भाव शुद्ध होने पर अपने और दूसरे के स्वरूप का जानना होता है । अपने और दूसरे के स्वरूप का ज्ञान जिनदेव की आज्ञा की भावना निरंतर भाने से होता है, इसलिये जिनदेव की आज्ञा की भावना निरंतर करना योग्य है ॥

तंदुल मत्स्य की कथा ऐसे है -- काकन्दीपुरी का राजा सूरसेन था वह मांस-भक्षी हो गया । अत्यन्त लोलुपी, मांस भक्षण का अभिप्राय रखता था । उसके पितृप्रिय नाम का रसोईदार था । वह अनेक जीवों का मांस निरंतर भक्षण कराता था । उसको सर्प डस गया सो मरकर स्वयंभूरमण समुद्र में महामत्स्य हो गया । राजा सूरसेन भी मरकर वहाँ ही उसी महामत्स्य के कान में तंदुल मत्स्य हो गया ।

वहाँ महामत्स्य के मुख में अनेक जीव आवें, बाहर निकल जावें, तब तंदुल मत्स्य उनको देखकर विचार करे कि यह महामत्स्य अभागा है जो मुँह में आये हुए जीवों को खाता नहीं है । यदि मेरा शरीर इतना बड़ा होता तो इस समुद्र के सब जीवों को खा जाता । ऐसे भावों के पाप से जीवों को खाये बिना ही सातवें नरक में गया और महामत्स्य तो खानेवाला था सो वह तो नरक में जाय ही जाय ।

इसलिये अशुद्ध-भाव सहित बाह्य पाप करना तो नरक का कारण है ही, परन्तु बाह्य हिंसादिक पाप के किये बिना केवल अशुद्ध-भाव भी उसी के समान है, इसलिये भावों में अशुभ ध्यान छोड़कर शुभ-ध्यान करना योग्य है । यहाँ ऐसा भी जानना कि पहिले राज पाया था सो पहिले पुण्य किया था उसका फल था, पीछे कुभाव हुए तब नरक गया इसलिये आत्मज्ञान के बिना केवल पुण्य ही मोक्ष का साधन नहीं है ॥८८॥

+ भावरहित के बाह्य परिग्रह का त्यागादिक निष्प्रयोजन -

बाहिसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥८९॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष भाव रहित हैं, शुद्ध आत्मा की भावना से रहित हैं और बाह्य आचरण से सन्तुष्ट हैं, उनके बाह्य परिग्रह का त्याग है वह निरर्थक है । गिरि (पर्वत) दरी (पर्वतकी गुफा) सरित् (नदीके पास) कंदर (पर्वतके जलसे चूरी हुआ स्थान) इत्यादि स्थानों में आवास (रहना) निरर्थक है । ध्यान करना, आसन द्वारा मन को रोकना, अध्ययन (पढ़ना) -- ये सब निरर्थक हैं ।

छाबडा :

बाह्यसंगत्यागः गिरिसरिद्धरीकंदरादौ आवासः; सकलं ज्ञानाध्ययनं निरर्थकं भावरहितानाम् ॥८९॥

बाह्य क्रिया का फल आत्मज्ञान सहित हो तो सफल हो, अन्यथा सब निरर्थक है । पुण्य का फल हो तो भी संसार का ही कारण है, मोक्षफल नहीं है ॥८९॥

+ भावशुद्धि के लिये इन्द्रियादिक को वश करो, भावशुद्धि-रहित बाह्यभेष का आडम्बर मत करो -

**भंजसु इन्द्रियसेणं भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण
मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥९०॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू इन्द्रियों की सेना है उसका भंजन कर, विषयों में मत रम, मनरूप बंदर को प्रयत्न-पूर्वक बड़ा उद्यम करके भंजन कर, वशीभूत कर और बाह्यव्रत का भेष लोक को रंजन करनेवाला मत धारण करे ।

छाबडा :

भंग्धि इन्द्रियसेनां भंग्धि मनोमर्कटं प्रयत्नेन; मा जनरंजनकरणं बहिर्व्रतवेष ! त्वंककार्षीः ॥९०॥

बाह्य मुनि का भेष लोक का रंजन करनेवाला है, इसलिये यह उपदेश है; लोकरंजन से कुछ परमार्थ सिद्धि नहीं है, इसलिये इन्द्रिय और मन को वश में करने के लिये बाह्य यत्न करे तो श्रेष्ठ है । इन्द्रिय और मन को वश में किये बिना केवल लोकरंजन मात्र भेष धारण करने से कुछ परमार्थ सिद्धि नहीं है ॥९०॥

+ फिर उपदेश कहते हैं -

**णवणोकसायवग्गं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धीए
चेइयपवयणगुरुणं करेहि भन्ते जिणाणाए ॥९१॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू नव जो हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद -- ये नौ कषायवर्ग तथा मिथ्यात्व इनको भाव-शुद्धि द्वारा छोड़ और जिनआज्ञा से चैत्य, प्रवचन, गुरु इनकी भक्ति कर ।

छाबडा :

नवनोकषायवर्ग मिथ्यात्वं त्यज भावशुद्ध्या; चैत्यप्रवचनगुरूणां कुरु भक्तिं जिनाज्ञया ॥९१॥

+ फिर कहते हैं -

**तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंधियं सम्मं
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥९२॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू जिस श्रुतज्ञान को तीर्थंकर भगवान ने कहा और गणधर देवों ने गूँथा अर्थात् शास्त्र-रूप रचना की उसकी सम्यक् प्रकार भाव शुद्ध कर निरन्तर भावना कर । कैसा है वह श्रुतज्ञान ? अतुल है, इसके बराबर अन्य मत का कहा हुआ श्रुत-ज्ञान नहीं है ।

छाबडा :

तीर्थंकरभाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रथितं सम्यक्; भावय अनुदिनं अतुलं विशुद्धभावेन श्रुतज्ञानम् ॥९२॥

+ ऐसा करने से क्या होता है ? -

पीऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥९३॥

अन्वयार्थ : पूर्वोक्त प्रकार भाव शुद्ध करने पर ज्ञानरूप जल को पीकर सिद्ध होते हैं । कैसे हैं सिद्ध ? निर्मथ्य अर्थात् मथा न जावे ऐसे तृषादाह शोष से रहित हैं, इस प्रकार सिद्ध होते हैं; ज्ञानरूप जल पीने का यह फल है । सिद्धशिवालय अर्थात् मुक्तिरूप महल में रहनेवाले हैं, लोक के शिखरपर जिनका वास है । इसीलिये कैसे हैं ? तीन भुवन के चूडामणि है, मुकुटमणि हैं तथा तीन भुवन में ऐसा सुख नहीं है, ऐसे परमानंद अविनाशी सुख को वे भोगते हैं । इसप्रकार वे तीन भुवन के मुकुटमणि हैं ।

छाबडा :

पीत्वा ज्ञानसलिलं निर्मथ्यतृषादाहशोषोन्मुक्ताः; भवन्ति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥९३॥

शुद्ध भाव करके ज्ञानरूप जल पीने पर तृषादाह शोष मिट जाता है, इसलिये ऐसे कहा है कि परमानन्दरूप सिद्ध होते हैं ॥ ९३ ॥

+ भावशुद्धि के लिए फिर उपदेश -

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणी सयलकाल काएण सुत्तेण अप्पमत्तो संजमघादं पमोत्तूण ॥९४॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू दस दस दो अर्थात् बाईस जो सुपरीषह अर्थात् अतिशयकर सहने योग्य को सूत्रेण अर्थात् जैसे जिनवचन में कहे हैं उसी रीति से निःप्रमादी होकर संयम का घात दूरकर और अपनी काय से सदाकाल निरंतर सहन कर ।

छाबडा :

दश दश द्वौ सुपरीषहान् सहस्व मुने ! सकलकालं कायेन; सूत्रेण अप्रमत्तः संयमघातं प्रमुच्य ॥९४॥

जैसे संयम न बिगड़े और प्रमाद का निवारण हो वैसे निरन्तर मुनि क्षुधा, तृषा आदिक बाईस परिषह सहन करे । इनको सहन करने का प्रयोजन सूत्र में ऐसा कहा है कि -- इनके सहन करने से कर्म की निर्जरा होती है और संयम के मार्ग छूटना नहीं होता है, परिणाम दृढ़ होते हैं ॥९४॥

+ परीषह जय की प्रेरणा -

जह पत्थरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुदएण तह साहु वि म भिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो ॥९५॥

अन्वयार्थ : जैसे पाषाण जल में बहुत काल तक रहने पर भी भेद को प्राप्त नहीं होता है वैसे ही साधु उपसर्ग-परीषहों से नहीं भिदता है ।

छाबडा :

यथा प्रस्तरः न भिद्यते परिस्थितिः दीर्घकालमुदकेन; तथा साधुरपि न भिद्यते उपसर्गपरीषहेभ्यः ॥९५॥

पाषाण ऐसा कठोर होता है कि यदि वह जल में बहुत समय तक रहे तो भी उसमें जल प्रवेश नहीं करता है, वैसे ही साधु के

परिणाम भी ऐसे दृढ़ होते हैं कि-उपसर्ग-परीषह आने पर भी संयमके परिणाम से च्युत नहीं होता है और पहिले कहा जो संयम का घात जैसे न हो वैसे परीषह सहे । यदि कदाचित् संयम का घात होता जाने तो जैसे घात न हो वैसे करे ॥९५॥

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि भावरहिण किं पुण बाहिरलिंगेण कायव्वं ॥९६॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू अनुप्रेक्षा अर्थात् अनित्य आदि बारह अनुप्रेक्षा हैं उनकी भावना कर और अपर अर्थात् अन्य पाँच महाव्रतों की पच्चीस भावना कही हैं उनकी भावना कर, भावरहित जो बाह्यलिंग है उससे क्या कर्त्तव्य है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ।

छाबडा :

भावय अनुप्रेक्षा: अपरा: पंचविंशतिभावना: भावय:;भावरहितेन किं पुन: बाह्यलिंगेन कर्त्तव्यम् ॥९६॥

कष्ट आने पर बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना योग्य है । इनके नाम ये हैं -- १ अनित्य, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचित्व, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ बोधिदुर्लभ, १२ धर्म-इनका और पच्चीस भावनाओं का भाना बड़ा उपाय है । इनका बारम्बार चिन्तन करने से कष्ट में परिणाम बिगड़ते नहीं हैं, इसलिये यह उपदेश है ॥९६॥

+ भाव-शुद्ध रखने के लिए ज्ञान का अभ्यास -

सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं ॥९७॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू सब परिग्रहादिक से विरक्त हो गया है, महाव्रत सहित है तो भी भाव विशुद्धि के लिये नव पदार्थ, सप्त तत्त्व, चौदह जीवसमास, चौदह गुणस्थान इनके नाम लक्षण भेद इत्यादिकों की भावना कर ।

छाबडा :

सर्व विरत: अपि भावय नव पदार्थान् सप्त तत्त्वानि:;जीवसमासान् मुने ! चतुर्दशगुणस्थाननामानि ॥९७॥

पदार्थों के स्वरूप का चिन्तन करना भावशुद्धि का बड़ा उपाय है इसलिये यह उपदेश है । इनका नाम स्वरप अन्य ग्रंथों से जानना ॥९७॥

+ भाव-शुद्धि के लिए अन्य उपाय -

णवविहबंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण मेहुणसण्णासत्तो भमिओ सि भवण्णवे भीमे ॥९८॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू पहिले दस प्रकार का अब्रह्म है उसको छोड़कर नव प्रकार का ब्रह्मचर्य है उसको प्रगट कर, भावों में प्रत्यक्ष कर । यह उपदेश इसलिए दिया है कि तू मैथुनसंज्ञा जो कामसेवन की अभिलाषा उसमें आसक्त होकर अशुद्ध भावों से इस भीम (भयानक) संसाररूपी समुद्र में भ्रमण करता रहा ।

छाबडा :

नवविधब्रह्मचर्यं प्रकट्य अब्रह्म दशविधं प्रमुच्य:;मैथुनसंज्ञासक्त: भ्रमितोऽपि भवार्णवे भीमे ॥९८॥

यह प्राणी मैथुन-संज्ञा में आसक्त होकर गृहस्थपना आदिक अनेक उपायों से स्त्री-सेवनादिक अशुद्ध-भावों से अशुभ-कार्यों

में प्रवर्तता है, उससे इस भयानक संसारसमुद्र में भ्रमण करता है, इसलिये यह उपदेश है कि-दस प्रकार के अब्रह्म को छोड़कर नव प्रकार के ब्रह्मचर्य को अंगीकार करो । दस प्रकार का अब्रह्म ये है -- १ पहिले तो स्त्री का चिन्तन होना, २ पीछे देखने की चिन्ता होना, ३ पीछे निःश्वास डालना, ४-पीछे ज्वर होना, ५ पीछे दाह होना, ६ पीछे काकी रुचि होना, ७ पीछे मूर्च्छा होना, ८ पीछे उन्माद होना, ९ पीछे जीने का संदेह होना, १० पीछे मरण होना ऐसे दस प्रकार का अब्रह्म है ।

नव प्रकार का ब्रह्मचर्य इसप्रकार है -- नव कारणों से ब्रह्मचर्य बिगड़ता है, उनके नाम ये हैं -- १ स्त्री को सेवन करने की अभिलाषा, २ स्त्री के अंग का स्पर्शन, ३ पुष्ट रस का सेवन, ४ स्त्री से संयुक्त वस्तु शय्या आदिक का सेवन, ५ स्त्री के मुख, नेत्र आदिक को देखना, ६ स्त्री का सत्कार-पुरस्कार करना, ७ पहिले किये हुए स्त्री-सेवन को याद करना, ८ आगामी स्त्रीसेवन की अभिलाषा, ९ मनवांछित इष्ट विषयों का सेवन करना ऐसे नव प्रकार हैं । इनका त्याग करना सो नव-भेदरूप ब्रह्मचर्य है अथाव मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से ब्रह्मचर्य का पालन करना ऐसे भी नव प्रकार हैं । ऐसे करना सो भी भाव शुद्ध होने का उपाय है ॥९८॥

+ भावसहित आराधना के चतुष्क को पाता है, भाव बिना संसार में भ्रमण -

**भावसहिदो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च
भावरहिदो य मुणिवर भमइ चिरं दीहसंसारे ॥९९॥**

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! जो भाव सहित है सो दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप ऐसी आराधना के चतुष्क को पाता है, वह मुनियों में प्रधान है और जो भावरहित मुनि है सो बहुत काल तक दीर्घसंसार में भ्रमण करता है ।

छाबडा :

भावसहितश्च मुनिनः प्राप्नोति आराधनाचतुष्कं च;;भावरहितश्च मुनिवर ! भ्रमति चिरं दीर्घसंसारे ॥९९॥

निश्चय सम्यक्त्व का शुद्ध आत्मा का अनुभूतिरूप श्रद्धान है सो भाव है, ऐसे भाव-रहित हो उसके चार आराधना होती है उसका फल अरहन्त सिद्ध पद है, और ऐसे भाव से रहित हो उसके आराधना नहीं होती हैं, उसका फल संसार का भ्रमण है । ऐसा जानकर भाव शुद्ध करना यह उपदेश है ॥९९॥

+ आगे भाव ही के फल का विशेषरूप से कथन -

**पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइं सोक्खाइं
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजोणीए ॥१००॥**

अन्वयार्थ : जो भावश्रमण हैं, भावमुनि हैं, वे जिनमें कल्याण की परंपरा है ऐसे सुखों को पाते हैं और जो द्रव्य-श्रमण हैं वे तिर्यच मनुष्य कुदेव योनि में दुःखों को पाते हैं ।

छाबडा :

प्राप्नुवंति भावभ्रमणाः कल्याणपरंपराः सौख्यानि;;दुःखानि द्रव्यश्रमणाः नरतिर्यक्कुदेवयोनी ॥१००॥

भाव-मुनि सम्यग्दर्शन सहित हैं वे तो सोलहकारण भावना भाकर गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण-पंचकल्याणक सहित तीर्थकर पद पाकर मोक्ष पाते हैं और जो सम्यग्दर्शन रहित द्रव्य-मुनि हैं वे तिर्यच, कुदेव योनि पाते हैं । यह भाव के विशेष से फल का विशेष है ॥१००॥

+ अशुद्ध-भाव से अशुद्ध ही आहार किया, इसलिये दुर्गति ही पाई -

छायालदोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण पत्तो सि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥१०१॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने अशुद्ध भावसे छियालीस दोषों से दूषित अशुद्ध अशन (आहार) ग्रस्या (खाया) इस कारण से तिर्य्यचगति में पराधीन होकर महान (बड़े) व्यसन (कष्ट) को प्राप्त किया ।

छाबडा :

षट्चत्वारिंशदोषदूषितमशनं ग्रसितं अशुद्धभावेन;;प्राप्तः असि महाव्यसनं तिर्य्यगतौ अनात्मवशः ॥१०१॥

मुनि छियालीस-दोष रहित शुद्ध आहार करता है, बत्तीस अंतराय टालता है, चौदह मल-दोष रहित करता है, सो जो मुनि होकर सदोष आहार करे तो ज्ञात होता है कि इसके भाव भी शुद्ध नहीं हैं । उसको यह उपदेश है कि -- हे मुने ! तूने दोष-सहित अशुद्ध आहार किया, इसलिये तिर्य्यच-गति में पहिले भ्रमण किया और कष्ट सहा, इसलिये भाव शुद्ध करके आहार कर जिसमें फिर भ्रमण न करे । छियालीस दोषों से सोलह तो उद्गम दोष हैं, वे आहार के बनने के हैं, ये श्रावक के आश्रित हैं । सोलह उत्पादन दोष हैं, ये मुनि के आश्रित हैं । दस दोष एषणा के हैं, ये आहार के आश्रित हैं । चार प्रमाणादिक हैं । इनके नाम तथा स्वरूप मूलाचार, आचारसार ग्रंथ से जानिये ॥१०१॥

+ सचित्त भोजन पान -- अशुद्ध-भाव -

सच्चित्तभत्तपाणं गिद्धी दप्पेणडधी पभूत्तूण पत्तो सि तिक्खदुक्खं अणाइकालेण तं चिंत ॥१०२॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू दुर्बुद्धि (अज्ञानी) होकर अतिचार सहित तथा अतिगर्व (उद्धतपने) से सचित्त भोजन तथा पान, जीवसहित आहार-पानी लेकर अनादिकाल से तीव्र दुःख को पाया, उसका चिन्तन कर - विचार कर ।

छाबडा :

सचित्तभक्तपानं गृह्या दर्पेण अधीः प्रभुज्य;;प्राप्तोडसि तीव्रदुःखं अनादिकालेन त्वं चिन्तय ॥१०२॥

मुनि को उपदेश करते हैं कि -- अनादिकाल से जब तक अज्ञानी रहा जीव का स्वरूप नहीं जाना, तब तक सचित्त (जीवसहित) आहार-पानी करते हुए संसार में तीव्र नरकादिक के दुःख को पाया । तब मुनि होकर भाव शुद्ध करके सचित्त आहार-पानी मत करे, नहीं तो फिर पूर्ववत् दुःख भोगेगा ॥१०२॥

+ कंद-मूल-पुष्प आदि सचित्त भोजन -- अशुद्ध-भाव -

कंदं मूलं बीयं पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं असिऊण माणगव्वं भमिओ सि अणंतसंसारे ॥१०३॥

अन्वयार्थ : कंद-जमीकंद आदिक, बीज-चना आदि अन्नादिक, मूल-अदरक मूली गाजर आदिक, पुष्प-फूल, पत्र नागरवेल आदिक, इनको आदि लेकर जो भी कोई सचित्त वस्तुथी उसे मान (गर्व) करके भक्षण की । उससे हे जीव ! तूने अनंत-संसार में भ्रमण किया ।

छाबडा :

कंदं मूलं बीजं पुष्पं पत्रादि किंचित् सचित्तम्;;अशित्वा मानगर्वे भ्रमितः असि अनंतसंसारे ॥१०३॥

कन्दमूलादिक सचित्त अनन्त जीवों की काय है तथा अन्य वनस्पति बीजादिक सचित्त हैं इनको भक्षण किया । प्रथम तो

मान करके कि -- हम तपस्वी हैं, हमारे घरबार नहीं है, बनके पुष्प-फलादिक खाकर तपस्या करते हैं, ऐसे मिथ्यादृष्टि तपस्वी होकर मान करके खाये तथा गर्व से उद्धत होकर दोष समजा नहीं, स्वच्छंद होकर सर्वभक्षी हुआ । ऐसे इन कंदादिक को खाकर इस जीव ने संसार में भ्रमण किया । अब मुनि होकर इनका भक्षण मत करे, ऐसा उपदेश है । अन्यमत के तपस्वी कंदमूलादिक फल-फूल खाकर अपने को महंत मानते हैं, उनका निषेध है ॥१०३॥

+ विनय का वर्णन -

विणयं पचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्तिं न पावन्ति ॥१०४॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! जिस कारणसे अविनयी मनुष्य भले प्रकार विहित जो मुक्ति उसको नहीं पाते हैं अर्थात् अभ्युदय तीर्थकरादि सहित मुक्ति नहीं पाते हैं, इसलिये हम उपदेश करते हैं कि -- हाथ जोड़ना, चरणों में गिरना, आने पर उठना, सामने जाना और अनुकूल वचन कहना यह पाँच प्रकार का विनय है अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और इनके धारक पुरुष इनका विनय करना, ऐसे पाँच प्रकार के विनय को तू मन-वचन-काय तीनों योगों से पालन कर ।

छाबडा :

विनयः पंचप्रकारं पालय मनोवचनकाययोगेन;;अविनतनराः सुविहितां ततो मुक्तिं न प्राप्नुवन्ति ॥१०४॥

विनय बिना मुक्ति नहीं है, इसलिये विनय का उपदेश है । विनयमें बड़े गुण हैं, ज्ञान की प्राप्ती होती है, मान कषाय का नाश होता है, शिष्टाचार का पालना है और कलह का निवारण है, उत्पादि विनय के गुण जानने । इसलिये जो सम्यग्दर्शनादि से महान् हैं उनका विनय करो यह उपदेश है और जो विनय बिना जिनमार्ग से भ्रष्ट भये, वस्त्रादिक सहित जो मोक्ष-मार्ग मानने लगे उनका निषेध है ॥१०४॥

+ वैयावृत्य का उपदेश -

णियसत्तीए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ॥१०५॥

अन्वयार्थ : हे महायश ! हे मुने ! जिनभक्ति में तत्पर होकर, भक्ति के रागपूर्वक उस दस भेदरूप वैयावृत्य को सदाकाल तू अपनी शक्तिके अनुसार कर । वैयावृत्य के दूसरे दुःख (कष्ट) आने पर उसकी सेवा-चाकरी करने को कहते हैं । इसके दस भेद हैं— 1 आचार्य, 2 उपाध्याय, 3 तपस्वी, 4 शैक्ष्य, 5 ग्लान, 6 गण, 7 कुल, 8 संघ, 9 साधु, 10 मनोज्ञ -- ये दस मुनि के हैं । इनका वैयावृत्य करते हैं इसलिये दस भेद कहे हैं ।

छाबडा :

निजशक्त्या महायशः ! भक्तिरागेण नित्यकाले;;त्वं कुरु जिनभक्तिपरं वैयावृत्यं दशविकल्पम् ॥१०५॥

+ गर्हा का उपदेश -

जं किंचि कयं दोसं मणवयकाएहिं असुहभावेणं तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मोत्तूण ॥१०६॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! जो कुछ मन-वचन-काय के द्वारा अशुभ भावों से प्रतिज्ञा में दोष लगा हो उसको गुरु के पास अपना गौरव (महंतपनेका गर्व) छोड़कर और माया (कपट) छोड़कर मन-वचन-काय को सरल करके गर्हा कर अर्थात् वचन द्वारा प्रकाशित कर ।

छाबडा :

यः कश्चित् कृतः दोषः मनोवचः कायैः अशुभभावेनः, तं गृहं गुरुसकाशे गारवं मायां च मुक्त्वा ॥१०६॥

अपने कोई दोष लगा हो और निष्कपट होकर गुरु को कहे तो वह दोष निवृत्त हो जावे । यदि आप शल्यवान रहे तो मुनिपद में यह बड़ा दोष है, इसलिये अपना दोष छिपाना नहीं, जैसा हो वैसा सरलबुद्धि से गुरुओंके पास कहे तब दोष मिटे यह उपदेश है । काल के निमित्त से मुनिपद से भ्रष्ट भये, पीछे गुरुओं के पास प्रायश्चित्त नहीं लिया, तब विपरीत होकर अग सम्प्रदाय बना लिए, ऐसे विपर्यय हुआ ॥१०६॥

+ क्षमा का उपदेश -

**दुज्जणवयणचडक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा
कम्ममलणासणट्ठं भावेण य णिम्ममा सवणा ॥१०७॥**

अन्वयार्थ : सत्पुरुष मुनि हैं वे दुर्जन के वचनरूप चपेट जो निष्ठुर (कठोर) दयारहित और कटुक (सुनते ही कानों को कड़े शूल समान लगे) ऐसी चपेट है उसको सहते हैं । वे किसलिये सहते हैं ? कर्मों का नाश होने के लिये सहते हैं । पहिले अशुभ-कर्म बाँधे थे उसके निमित्त से दुर्जन ने कटुक वचन कहे, आपने सुने, उसको उपशम परिणाम से आप सहे तब अशुभ-कर्म उदय होय खिर गये । ऐसे कटुक-वचन सहने से कर्म का नाश होता है ।

छाबडा :

दुर्जनवचनपेटां निष्ठुरकटुकं सहन्ते सत्पुरुषाः, कर्ममलनाशनार्थं भावेन च निर्ममाः श्रमणाः ॥१०७॥

वे मुनि सत्पुरुष कैसे हैं ? अपने भाव से वचनादिक से निर्ममत्व हैं, वचन से तथा मानकषाय से और देहादिक से ममत्व नहीं है । ममत्व हो तो दुर्वचन सहे न जावें, यह न जाने कि इसने मुझे दुर्वचन कहे, इसलिये ममत्व के अभाव से दुर्वचन कहते हैं । अतः मुनि होकर किसी पर क्रोध नहीं करना यह उपदेश है । लौकिक में भी जो बड़े पुरुष हैं वे दुर्वचन सुनकर क्रोध नहीं करते हैं, तब मुनि को सहना उचित ही है । जो क्रोध करते हैं वे कहने के तपस्वी हैं, सच्चे तपस्वी नहीं हैं ॥१०७॥

+ क्षमा का फल -

**पावं खवइ असेस खमाए पडिमंडिओ य मुणपवरो
खेयरअमरणराणं पसंसणीओ धुवं होइ ॥१०८॥**

अन्वयार्थ : जो मुनिप्रवर (मुनियों में श्रेष्ठ, प्रधान) क्रोध से अभावरूप क्षमा से मंडित है वह मुनि समस्त पापों का क्षय करता है और विद्याधर-देव-मनुष्यों द्वारा प्रशंसा करने योग्य निश्चय से होता है ।

छाबडा :

पापं क्षिपति अशेषं क्षमया परिमंडितः च मुनिप्रवरः, खेचरामरणराणां प्रशंसनीयः ध्रुवं भवति ॥१०८॥

क्षमा गुण बड़ा प्रधान है, इससे सबके स्तुति करने योग्य पुरुष होता है । जो मुनि हैं उनके उत्तम क्षमा होती है, वे तो सब मनुष्य--देव--विद्याधरों के स्तुति-योग्य होते ही हैं और उनके सब पापों का क्षय होता ही है, इसलिये क्षमा करना योग्य है -- ऐसा उपदेश है । क्रोध सबके निंदा करने योग्य होता है, इसलिये क्रोध का छोड़ना श्रेष्ठ है ॥१०८॥

+ क्षमा करना और क्रोध छोड़ना -

**इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयल जीवाणं
चिरसंचियकोहसिहिं वरखमसलिलेण सिंचेह ॥१०९॥**

अन्वयार्थ : हे क्षमागुण मुने ! (जिसके क्षमागुण हैं ऐसे मुनि का संबोधन है) इति अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार क्षमागुण को जान और सब जीवों पर मन-वचन-काय से क्षमा कर तथा बहुत काल से संचित क्रोधरूपी अग्नि को क्षमारूप जल से सींच अर्थात् शमन कर ।

छाबडा :

इति ज्ञात्वा क्षमागुण ! क्षमस्व त्रिविधेन सकलजीवान्;;चिरसंचितक्रोधशिखिनं वरक्षमासलिलेन सिंच ॥१०९॥

क्रोधरूपी अग्नि पुरुष के भले गुणों को दग्ध करने वाली है और परजीवों का घात करनेवाली है, इसलिये इसको क्षमारूप जलसे बुझाना, अन्य प्रकार यह बुझती नहीं है और क्षमा गुण सब गुणों में प्रधान है । इसलिये यह उपदेश है कि क्रोध को छोड़कर क्षमा ग्रहण करना ॥१०९॥

+ दीक्षाकालादिक की भावना का उपदेश -

**दिक्खाकालाईयं भावहि अवियारदंसणविसुद्धो
उत्तमबोहिणिमित्तं असारसाराणि मुणिऊण ॥११०॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू संसार को असार जानकर उत्तमबोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की प्राप्ति के निमित्त अविकार अर्थात् अतिचार-रहित निर्मल सम्यग्दर्शन सहित होकर दीक्षाकाल आदिक की भावना कर ।

छाबडा :

दीक्षाकालादिकं भव्य अविकारदर्शनविशुद्धः;;उत्तमबोधिनिमित्त असारसाराणि ज्ञात्वा ॥११०॥

दीक्षा लेते हैं तब संसार, (शरीर) भोगको (विशेषतया) असार जानकर अत्यंत वैराग्य उत्पन्न होता है, वैसे ही उसके आदि शब्द से रोगोत्पत्ति, मरणकालादिक जानना । उस समय में जैसे भाव हों वैसे ही संसार को असार जानकर, विशुद्ध सम्यग्दर्शन सहित होकर, उत्तमबोधि जिससे केवलज्ञान उत्पन्न होता है, उसके लिये दीक्षाकालादिक की निरन्तर भावना करना योग्य है, ऐसा उपदेश है ॥११०॥

+ भावलिंग शुद्ध करके द्रव्यलिंग सेवन का उपदेश -

**सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो
बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं ॥१११॥**

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू अभ्यंतरलिंग की शुद्धि अर्थात् शुद्धता को प्राप्त होकर चार प्रकार के बाह्यलिंग का सेवन कर, क्योंकि जो भाव-रहित होते हैं उनके प्रगटपने बाह्य-लिंग अकार्य है अर्थात् कार्यकारी नहीं है ।

छाबडा :

सेवस्व चतुर्विधलिंगं अभ्यंतरलिंगशुद्धिमापन्नः;;बाह्यलिंगमकार्यं भवति स्फुटं भावरहितानाम ॥१११॥

जो भाव की शुद्धता से रहित हैं, जिनके अपनी आत्मा का यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान, आचरण नहीं है, उनके बाह्य-लिंग कुछ कार्यकारी नहीं है, कारण पाकर तत्काल बिगड़ जाते हैं, इसलिये यह उपदेश है-पहिले भाव की शुद्धता करके द्रव्य-लिंग धारण करो । यह द्रव्य-लिंग चार प्रकार का कहा है, उसकी सूचना इसप्रकार है -- १-मस्तक के, २-डाढ़ी के और ३-मूछों के केशों का लोच करना, तीन चिह्न तो ये और चौथा नीचे के केश रखना; अथवा १. वस्त्र का त्याग, २. केशों का लोच करना, ३. शरीर का स्नानादि से संस्कार न करना, ४. प्रतिलेखन मयूरपिच्छि का रखना, ऐसे भी चार प्रकार का बाह्य-लिंग कहा है । ऐसे सब बाह्य वस्त्रादिक से रहित नग्न रहना, ऐसा नग्नरूप भाव-विशुद्धि बिना हँसी का स्थान है और कुछ उत्तम फल भी नहीं है ॥१११॥

+ चार संज्ञा का फल संसार-भ्रमण -

आहारभयपरिग्रहमेहुणसण्णाहि मोहिओ सि तुमं भमिओ संसारवणे अणाइकालं अणप्पवसो ॥११२॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, इन चार संज्ञाओं से मोहित होकर अनादिकाल से पराधीन होकर संसाररूप वन में भ्रमण किया ।

छाबडा :

आहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाभिः मोहितः असि त्वम्; भ्रमितः संसारवने अनादिकालं अनात्मवशः ॥११२॥

संज्ञा नाम वांछा के जागते रहने (अर्थात् बने रहने) का है, सो आहार की वांछा होना, भय होना, मैथुन की वांछा होना और परिग्रह की वांछा प्राणी के निरन्तर बनी रहती है, यह जन्मान्तर में चली जाती है, जन्म लेते ही तत्काल प्रगट होती है । इसी के निमित्त से कर्मों का बंध कर संसारवन में भ्रमण करता है, इसलिये मुनियों को यह उपदेश है कि अब इन संज्ञाओं का अभाव करो ॥११२॥

+ बाह्य उत्तरगुण की प्रेरणा -

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि पालहि भावविशुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो ॥११३॥

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू भाव से विशुद्ध होकर पूजा-लाभादिक को नहीं चाहते हुए बाह्यशयन, आतापन, वृक्षमूलयोग धारण करना, इत्यादि उत्तर-गुणों का पालन कर ।

छाबडा :

बहिः शयनातापनतरुमूलादीन उत्तरगुणान्; पालय भावविशुद्धः पूजालाभ न ईहमानः ॥११३॥

शीतकाल में बाहर खुले मैदान में सोना-बैठना, ग्रीष्मकालमें पर्वत के शिखर पर सूर्यसन्मुख आतापनयोग धरना, वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे योग धरना, जहाँ बूँदे वृक्ष पर गिरने के बाद एकत्र होकर शरीर पर गिरें । इसमें कुछ प्रासुक का भी संकल्प है और बाधा बहुत है, इनको आदि लेकर यह उत्तरगुण हैं, इनका पालन भी भाव शुद्ध करके करना । भावशुद्धि बना करे तो तत्काल बिगड़े और फल कुछ नहीं है, इसलिये भाव शुद्ध करके करने का उपदेश है । ऐसा न जानना कि इनको बाह्य में करने का निषेध करते हैं । इनको भी करना और भाव भी शुद्ध करना यह आशय है । केवल पूजा-लाभादि के लिए, अपना बड़प्पन दिखाने के लिये करे तो कुछ फल (लाभ) की प्राप्ति नहीं है ॥११३॥

+ तत्त्व की भावना का उपदेश -

भावहि पढमं तच्चं बिदियं तदियं चउत्थ पंचमयं तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं ॥११४॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू प्रथम जो जीव-तत्त्व उसका चिन्तन कर, द्वितीय अजीव-तत्त्व का चिन्तन कर, तृतीय आस्रव-तत्त्व का चिन्तन कर, चतुर्थ बन्ध-तत्त्व का चिन्तन कर, पंचम संवर-तत्त्व का चिन्तन कर, और त्रिकरण अर्थात् मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से शुद्ध होकर आत्म-स्वरूप का चिन्तन कर; जो आत्मा अनादिनिधन है और त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम इनको हरनेवाला है ।

छाबडा :

प्रथम जीव-तत्त्व की भावना तो सामान्य जीव दर्शन-ज्ञानमयी चेतना-स्वरूप है, उसकी भावना करना । पीछे ऐसा मैं हूँ इसप्रकार आत्म-तत्त्व की भावना करना । दूसरा अजीव-तत्त्व है सो सामान्य अचेतन जड़ है, यह पाँच भेदरूप पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल हैं इनका विचार करना । पीछे भावना करना कि -- ये हैं, वह मैं नहीं हूँ । तीसरा आस्रव-तत्त्व है वह जीव-पुद्गल के संयोग-जनित भाव है, इनमें अनादि कर्म-सन्ध से जीव के भाव (भाव-आस्रव) तो राग-द्वेष-मोह हैं और अजीव पुद्गल के भाव-कर्म के उदयरूप मिथ्यात्व, अविरत, कषाय और योग द्रव्यास्रव है । इनकी भावना करना कि ये (-- असद्भूत व्यवहारनय अपेक्षा) मुझे होते हैं, (अशुद्ध निश्चयनय से) राग-द्वेष-मोह भाव मेरे हैं, इनसे कर्मों का बन्ध होता है, उससे संसार होता है इसलिये इनका कर्त्ता न होना (स्व में अपने ज्ञाता रहना) ।

चौथा बन्ध-तत्त्व है वह मैं राग-द्वेष-मोहरूप परिणमन करता हूँ वह तो मेरी चेतना का विभाव है, इससे जो बंधते हैं वे पुद्गल हैं, कर्म पुद्गल है, कर्म पुद्गल ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार होकर बंधता है, वे स्वभाव-प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप चार प्रकार होकर बंधते हैं, वे मेरे विभाव तथा पुद्गल कर्म सब हेय हैं, संसार के कारण हैं, मुझे रागद्वेष मोहरूप नहीं होना है, इसप्रकार भावना करना ।

पाँचवाँ संवर-तत्त्व है वह राग-द्वेष-मोहरूप जीव के विभाव हैं, उनका न होना और दर्शन-ज्ञानरूप चेतनाभाव स्थिर होना यह संवर है, वह अपना भाव है और इसीसे पुद्गल-कर्म-जनित भ्रमण मिटता है ।

इसप्रकार इन पाँच तत्त्वों की भावना करने में आत्म-तत्त्व की भावना प्रधान है, उससे कर्म की निर्जरा होकर मोक्ष होता है । आत्मा का भाव अनुक्रम से शुद्ध होना यह तो निर्जरा-तत्त्व हुआ और सब कर्मों का अभाव होना वह मोक्ष-तत्त्व हुआ । इसप्रकार सात तत्त्वों की भावना करना । इसलिये आत्म-तत्त्व का विशेषण किया कि आत्म-तत्त्व कैसा है -- धर्म, अर्थ, काम, इस त्रिवर्ग का अभाव करता है । इसकी भावना से त्रिवर्ग से भिन्न चौथा पुरुषार्थ मोक्ष है वह होता है । यह आत्मा ज्ञान-दर्शनमयी चेतना-स्वरूप अनादिनिधन है, इसका आदि भी नहीं और निधन (नाश) भी नहीं है । भावना नाम बारबार अभ्यास करने, चिन्तन करने का है वह मन-वचन-काय से आप करना तथा दूसरे को कराना और करानेवाले को भला जानना -- ऐसे त्रिकरण शुद्ध करके भावना करना । माया-निदान शल्य नहीं रखना, ख्याति, लाभ, पूजाका आशय न रखना । इसप्रकार से तत्त्व की भावना करने से भाव शुद्ध होते हैं ।

स्त्री आदि पदार्थों पर से भेद-ज्ञानी का विचार ।

इसका उदाहरण इसप्रकार है कि -- जब स्त्री आदि इन्द्रियगोचर हों (दिखाई दें) तब उनके विषय में तत्त्व-विचार करना कि यह स्त्री है वह क्या है ? जीव नामक तत्त्व की एक पर्याय है, इसका शरीर है वह तो पुद्गल-तत्त्व की पर्याय है, यह हाव-भाव चेष्टा करती है, वह इस जीव के विकार हुआ है यह आस्रव-तत्त्व है और बाह्य चेष्टा पुद्गल की है, इस विकार से इस स्त्री की आत्मा के कर्म का बन्ध होता है । यह विकार इसके न हो तो आस्रव बन्ध इसके न हों । कदाचित् मैं भी इसको देखकर विकाररूप परिणमन करूँ तो मेरे भी आस्रव बन्ध हों । इसलिये मुझे विकाररूप न होना यह संवर-तत्त्व है । बन सके तो कुछ उपदेश देकर इसका विकार दूर करूँ (ऐसा विकल्प राग है,) वह राग भी करने योग्य नहीं है -- स्व-सन्मुख ज्ञातापने में धैर्य रखना योग्य है । इसप्रकार तत्त्व की भावना से अपना भाव अशुद्ध नहीं होता है, इसलिये जो दृष्टिगोचर पदार्थ हों उनमें इसप्रकार तत्त्व की भावना रखना, यह तत्त्व की भावना का उपदेश है ॥११४॥

+ तत्त्व की भावना बिना मोक्ष नहीं -

**जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ॥११५॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! जबतक वह जीवादि तत्त्वों को नहीं भाता है और चिन्तन करने योग्य का चिन्तन नहीं करता है तब तक जरा और मरण से रहित मोक्ष-स्थान को नहीं पाता है ।

छाबडा :

यावन्न भावयति तत्त्वं यावन्न चिंतयति चिंतनीयानि; तावन्न प्राप्नोति जीवः जरामरणविवर्जितं स्थानम् ॥११५॥

तत्त्व की भावना तो पहिले कही वह चिन्तन करनेयोग्य धर्म-शुक्ल-ध्यान का विषयभूत जो ध्येय वस्तु अपना शुद्ध दर्शन-ज्ञानमयी चेतनाभाव और ऐसा ही अरहंत-सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप, उसका चिन्तन जब तक इस आत्मा के न हो तब तक संसार से निवृत्त होना नहीं है, इसलिये तत्त्व की भावना और शुद्ध-स्वरूप के ध्यान का उपाय निरन्तर रखना यह उपदेश है ॥११५॥

+ पाप-पुण्य का और बन्ध-मोक्ष का कारण जीव के परिणाम -

पावं हवइ असेसं पुण्णमसेसं च हवइ परिणामा परिणामादो बंधो मुक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥११६॥

अन्वयार्थ : पाप-पुण्य, बंध-मोक्ष का कारण परिणाम ही को कहा है । जीव के मिथ्यात्व, विषय-कषाय, अशुभ-लेश्यारूप तीव्र परिणाम होते हैं, उनसे तो पापास्रव का बंध होता है । परमेष्ठी की भक्ति, जीवों पर दया इत्यादिक मंद-कषाय शुभ-लेश्यारूप परिणाम होते हैं, इससे पुण्यास्रव का बंध होता है । शुद्ध-परिणाम-रहित विभावरूप परिणाम से बंध होता है । शुद्धभाव के सन्मुख रहना, उसके अनुकूल शुभ परिणाम रखना, अशुभ परिणाम सर्वथा दूर करना, यह उपदेश है ।

छाबडा :

पापं भवति अशेषं पुण्यमशेषं च भवति परिणामात्; परिणामाद्बन्धः मोक्षः जिनशासने दृष्टः ॥११६॥

+ पाप-बंध के परिणाम -

मिच्छत्त तह कसायासंजमजोगेहिं असुहलेसेहिं बंधइ असुहं कम्मं जिणवयणपरम्मुहो जीवो ॥११७॥

अन्वयार्थ : मिथ्यात्व, कषाय, असंयम और योग जिनमें अशुभ-लेश्या पाई जाती है इसप्रकार के भावों से यह जीव जिनवचन से पराङ्मुख होता है -- अशुभकर्म को बाँधता है वह पाप ही बाँधता है ।

छाबडा :

मिथ्यात्वं तथा कषायासंयमयोगैः अशुभलैश्यैः; बध्नाति अशुभं कर्म जिनवचनपराङ्मुखः जीवः ॥११७॥

मिथ्यात्व-भाव तत्त्वार्थ का श्रद्धान-रहित परिणाम है । कषाय क्रोधादिक हैं । असंयम परद्रव्य के ग्रहणरूप है त्यागरूप भाव नहीं, इसप्रकार इन्द्रियों के विषयों से प्रीति और जीवों की विराधना सहित भाव है । योग मन-वचन-काय के निमित्त से आत्म-प्रदेशों का चलना है । ये भाव जब तीव्र कषाय सहित कृष्ण, नील, कापोत अशुभ लेश्यारूप हों तब इस जीव के पाप-कर्म का बंध होता है । पाप-बंध करनेवाला जीव कैसा है ? उसके जिन-वचन की श्रद्धा नहीं है । इस विशेषण का आशय यह है कि अन्यमत के श्रद्धानी के जो कदाचित् शुभ-लेश्या के निमित्त से पुण्य का बंध हो तो उसको पाप ही में गिनते हैं । जो जिन-आज्ञा में प्रवर्तता है उसके कदाचित् पाप भी बाँधे तो वह पुण्य-जीवों की ही पंक्ति में गिना जाता है, मिथ्यादृष्टि को पापी जीवों में माना है और सम्यग्दृष्टि को पुण्यवान् जीवों में माना है । इसप्रकार पाप-बंध के कारण कहे ॥११७॥

+ इससे उलटा जीव है वह पुण्य बाँधता है -

तव्विवरीओ बंधइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो दुविहपयारं बंधइ संखेवेणेव वज्जरियं ॥११८॥

अन्वयार्थ : उस पूर्वोक्त जिनवचन का श्रद्धानी मिथ्यात्व-रहित सम्यग्दृष्टि जीव शुभ-कर्म को बाँधता है जिसने कि -- भावों में विशुद्धि प्राप्त की है । ऐसे दोनों प्रकार के जीव शुभाशुभ कर्म को बाँधते हैं, यह संक्षेप से जिन-भगवान ने कहा है ।

छाबडा :

तद्विपरीतः बध्नाति शुभकर्म भावशुद्धिमापन्नः; द्विविधप्रकारं बध्नाति संक्षेपेणैव कथितम् ॥११८॥

पहिले कहा था कि जिन-वचन से पराङ्मुख मिथ्यात्व सहित जीव है, उससे विपरीत जिन-आज्ञा का श्रद्धानी सम्यग्दृष्टि जीव विशुद्ध-भाव को प्राप्त होकर शुभ-कर्म को बाँधता है, क्योंकि इसके सम्यक्त्व के माहात्म्य से ऐसे उज्ज्वल भाव हैं जिनसे मिथ्यात्व के साथ बँधनेवाली पाप-प्रकृतियों का अभाव है । कदाचित् किंचित् कोई पाप-प्रकृति बँधती है तो उसका अनुभाग मंद होता है, कुछ तीव्र पाप फल का दाता नहीं होता । इसलिये सम्यग्दृष्टि शुभ-कर्म ही को बाँधनेवाला है -- इसप्रकार शुभ-अशुभ कर्म के बंध का संक्षेप से विधान सर्वज्ञ-देव ने कहा है, वह जानना चाहिये ॥११८॥

+ आठों कर्मों से मुक्त होने की भावना -

**णाणावरणादीहिं य अट्टहिं कम्मेहिं वेढिओ य अहं
डहिऊण इण्हिं पयडमि अणंतणाणाइगुणचित्तां ॥११९॥**

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू ऐसी भावना कर कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से वेष्टित हूँ, इसलिये इनको भस्म करके अनन्तज्ञानादि गुण जिनस्वरूप चेतना को प्रगट करूँ ।

छाबडा :

ज्ञानावरणादिभिः च अष्टभिः कर्मभिः वेष्टितश्च अहं; दग्ध्वा इदानीं प्रकटयामि अनन्तज्ञानादिगुणचेतनां ॥११९॥

अपने को कर्मों से वेष्टित माने और उनसे अनन्त-ज्ञानादि गुण आच्छादित माने तब उन कर्मों के नाश करने का विचार करे, इसलिये कर्मों के बंध की और उनके अभाव की भावना करने का उपदेश है । कर्मों का अभाव शुद्ध-स्वरूप के ध्यान से होता है, उसीके करने का उपदेश है ।

कर्म आठ हैं -- १-ज्ञानावरण, २-दर्शनावरण, ३-मोहनीय, ४-अंतराय ये चार घातिया कर्म हैं, इनकी प्रकृति सैंतालीस हैं, केवल-ज्ञानावरण से अनन्तज्ञान आच्छादित है, केवल-दर्शनावरण से अनन्त-दर्शन आच्छादित है, मोहनीय से अनन्त-सुख प्रगट नहीं होता है और अंतराय से अनन्त-वीर्य प्रगट नहीं होता है, इसलिये इनका नाश करो । चार अघाति-कर्म हैं इनसे अव्याबाध, अगुरुलघु, सूक्ष्मता और अवगाहना ये गुण (-की निर्मल पर्याय) प्रगट नहीं होते हैं, इन अघाति-कर्मों की प्रकृति एक सौ एक हैं । घाति-कर्मों का नाश होने पर अघाति-कर्मों का स्वयमेव अभाव हो जाता है, इसप्रकार जानना चाहिये ॥ ११६॥

+ कर्मों का नाश के लिये उपदेश -

**शीलसहस्सट्ठारस चउरासीगुणगणाण लक्खाइं
भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा ॥१२०॥**

अन्वयार्थ : शील अठारह हजार भेदरूप है और उत्तरगुण चौरासी लाख हैं । आचार्य कहते हैं कि हे मुने ! बहुत झूठे प्रलापरूप निरर्थक वचनों से क्या ? इन शीलों को और उत्तरगुणों को सबको तू निरन्तर भा, इनकी भावना-चिन्तन-अभ्यास निरन्तर रख, जैसे इनकी प्राप्ति हो वैसे ही कर ।

छाबडा :

शीलसहस्राष्टादश चतुरशीतिगुणगणानां लक्षाणि; भावय अनुदिनं निखिलं असत्प्रलापेन किं बहुना ॥१२०॥

आत्मा-जीव नामक वस्तु अनन्त धर्म-स्वरूप है । संक्षेप से इसकी दो परिणति हैं, एक स्वाभावाकि एक विभावरूप । इनमें स्वाभाविक तो शुद्ध दर्शन-ज्ञानमयी चेतना परिणाम है और विभाव परिणाम कर्म के निमित्त से हैं । ये प्रधानरूप से तो मोह-कर्म के निमित्त से हुए हैं । संक्षेप से मिथ्यात्व राग-द्वेष हैं, इनके विस्तार से अनेक भेद हैं । अन्य कर्मों के उदय से विभाव

होते हैं उनमें पौरुष प्रधान नहीं है, इसलिये उपदेश-अपेक्षा वे गौण हैं; इसप्रकार ये शील और उत्तरगुण स्वभाव-विभाव परिणति के भेद से भेदरूप करके कहे हैं ।

शील की प्ररूपणा दो प्रकार की है -- एक स्वद्रव्य-परद्रव्य के विभाग की अपेक्षा है और दूसरे स्त्री के संसर्ग की अपेक्षा है । पर-द्रव्य का संसर्ग मन, वचन, काय से कृत, कारित, अनुमोदना से न करना । इनको आपस में गुणा करने से नौ भेद होते हैं । आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञा हैं, इनसे पर-द्रव्य का संसर्ग होता है उसका न होना, ऐसे नौ भेदों को चार संज्ञाओं से गुणा करने पर छत्तीस होते हैं । पाँच इन्द्रियों के निमित्त से विषयों का संसर्ग होता है, उनकी प्रवृत्ति के अभावरूप पाँच इन्द्रियों से छत्तीस को गुणा करने पर एक सौ अस्सी होते हैं । पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, प्रत्येक, साधारण ये तो एकेन्द्रिय और दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ऐसे दश भेदरूप जीवों का संसर्ग, इनकी हिंसारूप प्रवर्तन से परिणाम विभावरूप होते हैं सो न करना, ऐसे एक सौ अस्सी भेदों को दससे गुणा करने पर अठारह सौ होते हैं । क्रोधादिक कषाय और असंयम परिणाम से पर-द्रव्य संबंधी विभाव-परिणाम होते हैं उनके अभावरूप दस-लक्षण धर्म है, उनसे गुणा करने से अठारह हजार होते हैं । ऐसे पर-द्रव्य के संसर्गरूप कुशील के अभावरूप शील के अठारह हजार भेद हैं । इनके पालने से परम ब्रह्मचर्य होता है, ब्रह्म (आत्मा) में प्रवर्तने और रमने को ब्रह्मचर्य कहते हैं ।

स्त्री के संसर्ग की अपेक्षा इसप्रकार है -- स्त्री दो प्रकार की है, अचेतन स्त्री काष्ठ पाषाण लेप (चित्राम) ये तीन, इसका मन और काय दो से संसर्ग होता है, यहाँ वचन नहीं है इसलिये दो से गुणा करने पर छह होते हैं । कृत, कारित, अनुमोदना से गुणा करने पर अठारह होते हैं । पाँच इन्द्रियों से गुणा करने पर नब्बे होते हैं । द्रव्य-भाव से गुणा करने पर एक सौ अस्सी होते हैं । क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों से गुणा करने पर सात सौ बीस होते हैं । चेतन स्त्री देवी, मनुष्यिणी, ऐसे तीन, इन तीनों को मन, वचन, काय से गुणा करने पर नौ होते हैं । इनको कृत, कारित, अनुमोदना से गुणा करने पर सत्ताईस होते हैं । इनको पांच इन्द्रियों से गुणा करने पर एक सौ पैंतीस होते हैं । इनको द्रव्य और भाव इन दो से गुणा करने पर दो सौ सत्तर होते हैं । इनको चार संज्ञा से गुणा करने पर एक हजार अस्सी होती हैं । इनको अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन क्रोध मान माया लोभ इन सोलह कषायों से गुणा करने पर सत्रह हजार दो सौ अस्सी होते हैं । ऐसे अचेतन-स्त्री के सात सौ बीस मिलाने पर अठारह हजार होते हैं । ऐसे स्त्री के संसर्ग से विकार परिणाम होते हैं सौ कुशील है, इनके अभावरूप परिणाम शील है इसकी भी ब्रह्मचर्य संज्ञा है ।

* अचेतन : स्त्री काष्ठ, पाषाण चित्राम मन काय कृत कारित अनुमोदना

इन्द्रियाँ ५ द्रव्यभाव क्रोध, मान, माया, लोभ

$$३ \times २ \times ३ \times ५ \times २ \times ४ = ७२०$$

चेतन : देवी स्त्री मनुष्याणी तिर्यचिणी

मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना इन्द्रियाँ ५ द्रव्य भाव

अनंतानुबन्धी आहार परिग्रह भय, मैथुन प्रत्याख्यानावरण संज्वलन मान, माया, लोभ

$$३ \times ३ \times ३ \times ५ \times २ \times ४ \times ४ \times ४ = १७२८० / १८०००$$

चौरासी लाख उत्तरगुण ऐसे हैं जो आत्मा के विभावपरिणाम के बाह्यकारणों की अपेक्षा भेद होते हैं । उनके अभावरूप ये गुणों के भेद हैं । उन विभावों के भेदों की गणना संक्षेप से ऐसे है -- १-हिंसा २-अनृत ३-स्तेय ४-मैथुन ५-परिग्रह ६-क्रोध ७-मान ८-माया ९-लोभ १०-भय, ११-जुगुप्सा १२-अरति १३-शोक १४-मनोदुष्टत्व १५-वचनदुष्टत्व १६-कायदुष्टत्व १७-मिथ्यात्व १८-प्रमाद १९-पैशून्य २०-अज्ञान २१-इन्द्रियका अनुग्रह ऐसे इक्कीस दोष हैं । इनको अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार इन चारों से गुणा करने पर चौरासी होते हैं । पृथ्वी-अप्-तेज-वायु प्रत्येक साधारण ये स्थावर एकेन्द्रिय जीव छह और विकल तीन, पंचेन्द्रिय एक ऐसे जीवों के दस भेद, इनका परस्पर आरंभ से घात होता है इनको परस्पर गुणा करने पर भी सौ (१००) होते हैं । इनसे चौरासी को गुणा करने पर चौरासी सौ होते हैं, इनको दस शील-विराधने से गुणा करने पर चौरासी हजार होते हैं । इन दस के नाम ये हैं १ स्त्री-संसर्ग, २ पुष्ट-रस-भोजन, ३ गंध-माल्य का ग्रहण, ४ सुन्दर शयनासन का ग्रहण, ५ भूषण का मंडन, ६ गीतवादित्र का प्रसंग, ७ धन का संप्रयोजन, ८ कुशील का संसर्ग, ९ राज-सेवा, १० रात्रि-संचरण ये शील-विराधना हैं । इनके आलोचना के दस दोष हैं -- गुरुओं के पास लगे हुए दोषों की आलोचना करे सो सरल होकर न करे कुछ शल्य रखे, उसके दस भेद किये हैं, इनसे गुणा करने पर आठ लाख चालीस हजार होते हैं । आलोचना को आदि देकर प्रायश्चित्त के दस भेद हैं इनसे गुणा करने पर चौरासी लाख होते हैं । सो सब दोषों के भेद हैं, इनके अभाव से गुण होते हैं । इनकी भावना रखे, चिन्तवन और अभ्यास रखे, इनकी संपूर्ण प्राप्ति होने का उपाय रखे; इसप्रकार इनकी भावना का उपदेश है ।

आचार्य कहते हैं कि बारबार बहुत वचन के प्रलाप से तो कुछ साध्य नहीं हैं, जो कुछ आत्मा के भाव की प्रवृत्ति के व्यवहार

के भेद हैं इनकी गुण संज्ञा है, उनकी भावना रखना । यहाँ इतना और जानना कि गुणस्थान चौदह कहे हैं, उस परिपाटी से गुण-दोषों का विचार है । मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र इन तीनों में तो विभाव परिणति ही है, इनमें तो गुण का विचार ही नहीं है । अविरत, देशविरत आदि में शीलगुण का एकदेश आता है । अविरत में मिथ्यात्व / अनन्तानुबन्धी कषाय के अभावरूप गुण का एकदेश सम्यक्त्व और तीव्र राग-द्वेष का अभावरूप गुण आता है और देशविरत में कुछ व्रत का एकदेश आता है । प्रमत्त में महाव्रत रूप सामायिक चारित्र का एकदेश आता है क्योंकि पाप संबंधी राग-द्वेष तो वहाँ नहीं है, परन्तु धर्म-सम्बन्धी राग है और सामायिक राग-द्वेष के अभाव का नाम है, इसीलिये सामायिक का एकदेश ही कहा है । यहाँ स्वरूप के सन्मुख होने में क्रियाकांड के सम्बंध से प्रमाद है, इसलिये प्रमत्त नाम दिया है । अप्रमत्त में स्वरूप साधन में तो प्रमाद नहीं है, परन्तु कुछ स्वरूप के साधने का राग व्यक्त है, इसलिये यहाँ भी सामायिक का एकदेश ही कहा है । अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरण में राग व्यक्त नहीं है, अव्यक्त-कषाय का सद्भाव है, इसलिये सामायिक चारित्र की पूर्णता कही । सूक्ष्मसंपराय में अव्यक्त कषाय भी सूक्ष्म रह गई, इसलिये इसका नाम सूक्ष्मसंपराय रखा । उपशान्तामोह क्षीणमोह में कषाय का अभाव ही है, इसलिये जैसा आत्मा का मोह-विकार-रहित शुद्ध स्वरूप था उसका अनुभव हुआ, इसलिये यथाख्यात-चारित्र नाम रखा । ऐसे मोह-कर्म के अभाव की अपेक्षा तो यहाँ ही उत्तर-गुणों की पूर्णता कही जाती है, परन्तु आत्मा का स्वरूप अनन्त-ज्ञानादि स्वरूप है सो घाति-कर्म के नाश होनेपर अनन्त-ज्ञानादि प्रगट होते हैं तब सयोग-केवली कहते हैं । इसमें भी कुछ योगों की प्रवृत्ति है, इसलिये अयोग-केवली चौदहवाँ गुणस्थान है । इसमें योगों की प्रवृत्ति मिट कर आत्मा अवस्थित हो जाती है तब चौरासी लाख उत्तरगुणों की पूर्णता कही जाती है । ऐसे गुणस्थानों की अपेक्षा उत्तर-गुणों की प्रवृत्ति विचारने योग्य है । ये बाह्य अपेक्षा भेद हैं, अंतरंग अपेक्षा विचार करें तो संख्यात, असंख्यात, अनन्त भेद होते हैं, इसप्रकार जानना चाहिये ॥१२०॥

+ भेदों के विकल्प से रहित होकर ध्यान का उपदेश -

झायहि धम्मं सुक्कं अट्ट रउद्धं च झाण मुत्तूण रुद्धं झाइयाइं झमेण जीवेण चिरकालं ॥१२१॥

अन्वयार्थ : हे मुनि ! तू आर्त्त-रौद्र ध्यान को छोड़ और धर्म-शुक्लध्यान हैं उन्हें ही कर, क्योंकि रौद्र और आर्त्तध्यान तो इस जीव ने अनादिकाल से बहुत समय तक किये हैं ।

छाबडा :

ध्याय धर्म्यं शुक्लं आर्त्तं रौद्रं च ध्यानं मुक्त्वा;;रौद्रार्त्तं ध्याते अनेन जीवेन चिरकालम् ॥१२१॥

आर्त्त-रौद्र ध्यान अशुभ हैं, संसार के कारण हैं । ये दोनों ध्यान तो जीव के बिना उपदेश ही अनादि से पाये जाते हैं, इसलिये इनको छोड़ने का उपदेश है । धर्म-शुक्ल ध्यान स्वर्ग-मोक्ष के कारण हैं । इनको कभी नहीं ध्याया, इसलिये इनका ध्यान करने का उपदेश है । ध्यान का स्वरूप एकाग्र-चिन्ता-निरोध कहा है; धर्म-ध्यान में तो धर्मानुराग का सद्भाव है सो धर्म के / मोक्ष-मार्ग के कारण में राग-सहित एकाग्र-चिन्ता-निरोध होता है, इसलिये शुभराग के निमित्त से पुण्य-बन्ध भी होता है और विशुद्ध-भाव के निमित्त से पाप-कर्म की निर्जरा भी होती है । शुक्ल-ध्यान में आठवें नौवें दसवें गुणस्थान में तो अव्यक्त-राग है । वहाँ अनुभव अपेक्षा उपयोग उज्ज्वल है, इसलिये शुक्ल नाम रखा है और इससे ऊपर के गुणस्थानों में राग-कषाय का अभाव ही है, इसलिये सर्वथा ही उपयोग उज्ज्वल है, वहाँ शुक्ल-ध्यान युक्त ही है । इतनी और विशेषता है कि उपयोग के एकाग्रपना रूप ध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की कही है । उस अपेक्षा से तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में ध्यान का उपचार है और योग-क्रिया के स्थंभन की अपेक्षा ध्यान कहा है । यह शुक्ल-ध्यान कर्म की निर्जरा करके जीव को मोक्ष प्राप्त कराता है, ऐसे ध्यान का उपदेश जानना ॥१२१॥

+ यह ध्यान भावलिङ्गी मुनियों का मोक्ष करता है -

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति छिंदंति भावसवणा झाणकुढारेहिं भवरुक्खं ॥१२२॥

अन्वयार्थ : कई द्रव्य-लिङ्गी श्रमण हैं, वे तो इन्द्रिय-सुख में व्याकुल हैं, उनके यह धर्म-शुक्ल-ध्यान नहीं होता है । वे तो संसाररूपी वृक्ष को काटने में समर्थ नहीं हैं, और जो भाव-लिङ्गी श्रमण हैं, वे ध्यानरूपी कुल्हाड़े से संसाररूपी वृक्ष को काटते हैं ।

छाबडा :

ये केडपि द्रव्यश्रमणा इन्द्रियसुखाकुलाः न छिन्दन्ति; छिन्दन्ति भावश्रमणाः ध्यानकुठारैः भववृक्षम् ॥१२२॥

जो मुनि द्रव्य-लिंग तो धारण करते हैं, परन्तु उसको परमार्थ-सुख का अनुभव नहीं हुआ है, इसलिये इहलोक-परलोक में इन्द्रियों के सुख ही को चाहते हैं, तपश्चरणादिक भी इसी अभिलाषा से करते हैं उनके धर्म-शुक्ल ध्यान कैसे हो ? अर्थात् नहीं होता है । जिनने परमार्थ सुख का आस्वाद लिया उनको इन्द्रिय-सुख दुःख ही है ऐसा स्पष्ट भासित हुआ है, अतः परमार्थ-सुख का उपाय धर्म-शुक्ल ध्यान है उसको करके वे संसार का अभाव करते हैं, इसलिए भाव-लिंगी होकर ध्यान का अभ्यास करना चाहिये ॥१२२॥

+ दृष्टांत -

**जह दीवो गम्भहरे मारुयबाहाविवज्जिओ जलइ
तह रायाणिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलइ ॥१२३॥**

अन्वयार्थ : जैसे दीपक गर्भगृह अर्थात् जहाँ पवन का संचार नहीं है ऐसे मध्य के घर में पवन की बाधा-रहित निश्चल होकर जलता है (प्रकाश करता है), वैसे ही अंतरंग मन में रागरूपी पवन से रहित ध्यानरूपी दीपक भी जलता है, एकाग्र होकर ठहरता है, आत्मरूप को प्रकाशित करता है ।

छाबडा :

यथा दीपः गर्भगृहे मारुतबाधाविवर्जितः ज्वलति; तथा रागानिलरहितः ध्यानप्रदीपः अपि प्रज्वलति ॥१२३॥

पहिले कहा था कि जो इन्द्रियसुख से व्याकुल हैं उनके शुभ-ध्यान नहीं होता है, उसका यह दीपक का दृष्टांत है -- जहाँ इन्द्रियों के सुख में जो राग वह ही हुआ पवन वह विद्यमान है, उनके ध्यानरूपी दीपक कैसे निर्बाध उद्योत करे ? अर्थात् न करे, और जिनके यह रागरूपी पवन बाधा न करे उनके ध्यानरूपी दीपक निश्चल ठहरता है ॥१२३॥

+ पंच परमेष्ठी का ध्यान करने का उपदेश -

**झायहि पंच वि गुरुवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए
णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ॥१२४॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू पंच गुरु अर्थात् पंचपरमेष्ठी का ध्यान कर । यहाँ 'अपि' शब्द शुद्धात्म स्वरूप के ध्यान को सूचित करता है । पंच परमेष्ठी कैसे हैं ? मंगल अर्थात् पापके नाशक अथवा सुखदायक और चउसरण अर्थात् चार शरण तथा 'लोक' अर्थात् लोक के प्राणियों से अरहंत, सिद्ध, साधु, केवलीप्रणीत धर्म, ये परिकरित अर्थात् परिवारित हैं -- युक्त (सहित) हैं । नर-सुर-विद्याधर सहित हैं, पूज्य हैं, इसलिये वे 'लोकोत्तम' कहे जाते हैं, आराधना के नायक है, वीर हैं, कर्मों के जीतने को सुभट हैं और विशिष्ट लक्ष्मी को प्राप्त हैं तथा देते हैं । इसप्रकार पंच परम गुरु का ध्यान कर ।

छाबडा :

ध्याय पंच अपि गुरून् मंगलचतुः शरणलोकपरिकरितान्; नरसुरखेचरमहितान् आराधनानायकान् वीरान् ॥
१२४॥

यहाँ पंच परमेष्ठी का ध्यान करने के लिए कहा । उस ध्यान में विघ्न को दूर करनेवाले 'चार मंगलस्वरूप' कहे वे यही हैं, चार शरण और 'लोकोत्तम' कहे हैं वे भी इन्हीं को कहे हैं । इनके सिवाय प्राणी को अन्य शरण या रक्षा करनेवाला कोई भी नहीं है और लोक में उत्तम भी ये ही हैं । आराधना दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप ये चार हैं, इनके नायक (स्वामी) भी ये ही हैं, कर्मों को

जीतनेवाले भी ये ही हैं। इसलिये ध्यान करनेवाले के लिए इनका ध्यान श्रेष्ठ है। शुद्धस्वरूप की प्राप्ति इन ही के ध्यान से होती है, इसलिये यह उपदेश है ॥१२४॥

+ ज्ञान के अनुभवन का उपदेश -

**णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण
बाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥१२५॥**

अन्वयार्थ : भव्य-जीव ज्ञानमयी निर्मल शीतल जल को सम्यक्त्वभाव सहित पीकर और व्याधि-स्वरूप जरा-मरण की वेदना (पीड़ा) को भस्म करके मुक्त अर्थात् संसार से रहित 'शिव' अर्थात् परमानंद सुखरूप होते हैं।

छाबडा :

ज्ञानमयविमलशीतलसलिलं प्राप्य भव्याः भावेन;;व्याधिजरामरणवेदनादाह विमुक्ताः शिवाः भवन्ति ॥१२५॥

जैसे निर्मल और शीतल जलके पीने से पीत की दाहरूप व्याधि मिटकर साता होती है, वैसे ही यह ज्ञान है वह जब रागादिक मल से रहित निर्मल और आकुलता रहित शांत-भाव स्वरूप होता है, उसकी भावना कर रुचि, श्रद्धा, प्रतीति से पीवे, इससे तन्मय हो तो जरा-मरणरूप दाह-वेदना मिट जाती है और संसार से निर्वृत्त होकर सुखरूप होता है, इसलिये भव्य जीवों को यह उपदेश है कि ज्ञान में लीन होओ ॥१२५॥

+ ध्यानरूप अग्नि से आठों कर्म नष्ट होते हैं -

**यह बीयम्मि य दड्ढे ण वि रोहइ अंकुरो य महिवीढे
तह कम्मबीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं ॥१२६॥**

अन्वयार्थ : जैसे पृथ्वी-तल पर बीज के जल जाने पर उसका अंकुर फिर नहीं उगता है, वैसे ही भाव-लिंगी श्रमण के संसार का कर्मरूपी बीज दग्ध होता है इसलिये संसाररूप अंकुर फिर नहीं होता है।

छाबडा :

यथा बीजे च दग्धे नापि रोहति अंकुरश्च महीपीठे;;तथा कर्मबीजदग्धे भवांकुरः भावश्रमणानाम् ॥१२६॥

संसार के बीज 'ज्ञानावरणादि' कर्म हैं। ये कर्म भाव-श्रमण के ध्यानरूप अग्नि से भस्म हो जाते हैं, इसलिये फिर संसाररूप अंकुर किससे हो ? इसलिये भाव-श्रमण होकर धर्म-शुक्ल-ध्यान से कर्मों का नाश करना योग्य है, यह उपदेश है। कोई सर्वथा एकांती अन्यथा कहे कि -- कर्म अनादि है, उसका अंत भी नहीं है, उसका भी यह निषेध है। बीज अनादि है वह एक बार दग्ध हो जाने पर पीछे फिर नहीं उगता है, उसी तरह इसे जानना ॥१२६॥

+ उपसंहार - भाव श्रमण हो -

**भावसवणो वि पावइ सुक्खाइं दुहाइं जव्वसवणो य
इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होह ॥१२७॥**

अन्वयार्थ : भावश्रमण तो सुखों को पाता है और द्रव्यश्रमण दुःखों को पाता है, इस प्रकार गुण-दोषों को जानकर हे जीव ! तू भाव सहित संयमी बन।

छाबडा :

भावश्रमणः अपि प्राप्नोति सुखानि दुःखानि द्रव्यश्रमणश्च;;इति ज्ञात्वा गुणदोषान् भावेन च संयुतः भव ॥१२७॥

सम्यग्दर्शन-सहित भाव-श्रमण होता है, वह संसार का अभाव करके सुखों को पाता है और मिथ्यात्व-सहित द्रव्य-श्रवण भेष-मात्र होता है, यह संसार का अभाव नहीं कर सकता है, इसलिये दुःखों को पाता है । अतः उपदेश करते हैं कि दोनों के गुण-दोष जानकर भाव-संयमी होना योग्य है, यह सब उपदेश का सार है ॥१२७॥

+ भाव-श्रमण का फल प्राप्त कर -

**तिथ्यरगणहराइं अभ्युदयपरंपराइं सोक्खाइं
पावंति भावसहिया संखेवि जिणेहिं बज्जरियं ॥१२८॥**

अन्वयार्थ : जो भावसहित मुनि हैं वे अभ्युदय-सहित तीर्थकर-गणधर आदि पदवी के सुखों को पाते हैं, यह संक्षेप में कहा है ।

छाबडा :

तीर्थकरगणधरादीनि अभ्युदयपरंपराणि सौख्यानि; प्राप्नुवन्ति भावश्रमणाः संक्षेपेण जिनैः भणितम् ॥१२८॥

तीर्थकर गणधर चक्रवर्ती आदि पदों के सुख बड़े अभ्युदय सहित हैं, उनको भाव-सहित सम्यग्दृष्टि मुनि पाते हैं । यह सब उपदेश का संक्षेप से उपदेश कहा है इसलिये भाव-सहित मुनि होना योग्य है ॥१२८॥

+ भावश्रमण धन्य है, उनको हमारा नमस्कार -

**ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं
भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्टमायाणं ॥१२९॥**

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि जो मुनि सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ (विशिष्ट) ज्ञान और निर्दोष चारित्र इनसे शुद्ध हैं इसीलिये भाव सहित हैं और प्रणष्ट हो गई है माया अर्थात् कपट परिणाम जिनके ऐसे हैं वे धन्य हैं । उनके लिये हमारा मन-वचन-कायसे सदा नमस्कार हो ।

छाबडा :

ते धन्याः तेभ्यः नमः दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धेभ्यः; भावसहितेभ्यः नित्यं त्रिविधेन प्रणष्टमायेभ्यः ॥१२९॥

भावलिङ्गियों में जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र से शुद्ध हैं उनके प्रति आचार्य को भक्ति उत्पन्न हुई है, इसलिये उनको धन्य कहकर नमस्कार किया है वह युक्त है, जिनके मोक्ष-मार्ग में अनुराग है, उनमें मोक्ष-मार्ग की प्रवृत्ति में प्रधानता दिखती है, उनको नमस्कार करे ॥१२९॥

+ भावश्रमण देवादिक की ऋद्धि देखकर मोह को प्राप्त नहीं होते -

**इड्ढिमतुलं विउव्विय किण्णरकिंपुरिसअमरखयरेहिं
तेहिं वि ण जाइ मोहं जिणभावणभाविओ धीरो ॥१३०॥**

अन्वयार्थ : जिनभावना (सम्यक्त्व भावना) से वासित जीव किंनर, किंपुरुष देव, कल्पवासी देव और विद्याधर, इनसे विक्रियारूप विस्तार की गई अतुल-ऋद्धियों में मोह को प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव कैसा है ? धीर है, दृढ़बुद्धि है अर्थात् निःशंकित अंग का धारक है ।

छाबडा :

ऋद्धिमतुलां विकुर्बद्धिः किं नरकिंपुरुषामरखचरैः; तैरपि न याति मोहं जिनभावनाभावितः धीरः ॥१३०॥

जिसके जिन-सम्यक्त्व दृढ़ है उसके संसार की ऋद्धि तृणवत् है, परमार्थ-सुख ही की भावना है, विनाशीक ऋद्धि की वांछा क्यों हो ? ॥१३०॥

+ भाव-श्रमण को सांसारिक सुख की कामना नहीं -

**किं पुण गच्छइ मोहं णरसुरसुक्खाण अप्पसाराणं
जाणंतो पस्संतो चिंतंतो मोक्ख मुणिधवलो ॥१३१॥**

अन्वयार्थ : सम्यग्दृष्टि जीव पूर्वोक्त प्रकार की भी ऋद्धि को नहीं चाहता है तो मुनिधवल अर्थात् मुनि-प्रधान है वह अन्य जो मनुष्य देवों के सुख-भोगादिक जिनमें अल्प सार है उनमें क्या मोह को प्राप्त हो ? कैसा है मुनिधवल ? मोक्ष को जानता है, उसही की तरफ दृष्टि है, उसहीका चिन्तन करता है ।

छाबडा :

किं पुनः गच्छति मोहं नरसुरसुखानां अल्पसाराणाम्; जानन् पश्यन् चिंतयन् मोक्षं मुनिधवलः ॥१३१॥

जो मुनि-प्रधान हैं उनकी भावना मोक्ष के सुखों में है । वे बड़ी-बड़ी देव-विद्याधरों की फैलाई हुई विक्रिया-ऋद्धि में भी लालसा नहीं करते हैं तो किंचित्मात्र विनाशीक जो मनुष्य, देवों के भोगादिक का सुख उनमें वांछा कैसे करे ? अर्थात् नहीं करे ॥१३१॥

+ बुढ़ापा आए उससे पहले अपना हित कर लो -

**उत्थरइ जा ण जरओ रोयगी जा ण डहइ देहउडिं
इन्द्रियबलं ण वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥१३२॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! जब तक तेरे जरा (बुढ़ापा) न आवे तथा जब तक रोगरूपी अग्नि तेरी देहरूपी कुटीको भस्म न करे और जब तक इन्द्रियों का बल न घटे तब तक अपना हित कर लो ।

छाबडा :

आक्रमते यावन्न जरा रोगाग्निर्यावन्न दहति देहकुटीम्; इन्द्रियबलं न विगलति तावत् त्वं कुरु आत्महितम् ॥१३२॥

वृद्ध अवस्था में देह रोगों से जर्जरित हो जाता है, इन्द्रियाँ क्षीण हो जाती हैं तब असमर्थ होकर इस लोक के कार्य उठना-बैठना भी नहीं कर सकता है तब परलोक सम्बन्धी तपश्चरणादिक तथा ज्ञानाभ्यास और स्वरूप का अनुभवादि कार्य कैसे करे? इसलिये यह उपदेश है कि जब तक सामर्थ्य है तब तक अपना हितरूप कार्य कर लो ॥१३२॥

+ अहिंसाधर्म के उपदेश का वर्णन -

**छज्जीव छडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहिं
कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्तं ॥१३३॥**

अन्वयार्थ : हे मुनिवर ! तू छहकाय के जीवों पर दया कर और छह अनायतनों को मन, वचन, काय के योगों से छोड़ तथा अपूर्व जो पहिले न हुआ ऐसा महासत्त्व अर्थात् सब जीवों में व्यापक (ज्ञायक) महासत्त्व चेतना भाव को भा ।

छाबडा :

षट्जीवान् षडायतनानां नित्यं मनोवचनकाययोगैः, कुरु दयां परिहर मुनिवर भावय अपूर्व महासत्त्वम् ॥१३३॥

अनादिकाल से जीव का स्वरूप चेतना-स्वरूप न जाना इसलिये जीवों की हिंसा की, अतः यह उपदेश है कि -- अब जीवात्मा का स्वरूप जानकर, छहकाय के जीवों पर दया कर । अनादि ही से आप्त, आगम, पदार्थ का और इनकी सेवा करनेवालों का स्वरूप जाना नहीं, इसलिये अनाप्त आदि छह अनायतन जो मोक्षमार्ग के स्थान नहीं हैं उनको अच्छे समझकर सेवन किया, अतः यह उपदेश है कि अनायतन का परिहार कर । जीव के स्वरूप के उपदेशक ये दोनों ही तूने पहिले जाने नहीं, न भावना की, इसलिये अब भावना कर, इसप्रकार उपदेश है ॥१३३॥

+ अज्ञान-पूर्वक भूत-काल में त्रस-स्थावर जीवों का भक्षण -

**दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भमंतेण
भोयसुहकारणट्ठं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं ॥१३४॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! तूने अनंतभवसागर में भ्रमण करते हुए, सकल त्रस, स्थावर, जीवोंके दश प्रकार के प्राणों का आहार, भोग-सुख के कारण के लिये मन, वचन, काय से किया ।

छाबडा :

दशविधप्राणाहारः अनन्तभवसायरे भ्रमताः, भोगसुखकारणार्थं कृतश्च त्रिविधेन सकलजीवानां ॥१३४॥

अनादिकाल से जिनमत के उपदेश के बिना अज्ञानी होकर तूने त्रस, स्थावर जीवों के प्राणों का आहार किया इसलिये अब जीवोंका स्वरूप जानकर जीवों की दया पाल, भोग-विलास छोड़, यह उपदेश है ॥१३४॥

+ प्राणि-हिंसा से संसार में भ्रमण कर दुःख पाया -

**पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झमि
उप्पजंत मरंतो पत्तो सि णिरंतरं दुक्खं ॥१३५॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! हे महायश ! तूने प्राणियों के घातसे चौरासी लाख योनियों के मध्यमें उत्पन्न होते हुए और मरते हुए निरंतर दुःख पाया ।

छाबडा :

पाणिवधैः महायशः चतुरशीतिलक्षयोनिमध्ये, उत्पद्यमानः म्रियमाणः प्राप्तोऽसि निरंतरं दुःखम् ॥१३५॥

जिनमत के उपदेश के बिना, जीवों की हिंसा से यह जीव चौरासी लाख योनियों में उत्पन्न होता है और मरता है । हिंसा से कर्म-बंध होता है, कर्म-बन्ध के उदय से उत्पत्ति--मरणरूप संसार होता है । इसप्रकार जन्म-मरण के दुःख सहता है, इसलिये जीवों की दया का उपदेश है ॥१३५॥

+ दया का उपदेश -

**जीवाणमभयदाणं देहि मुणी पाणिभूयसत्ताणं
कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए ॥१३६॥**

अन्वयार्थ : हे मुने ! जीवों को और प्राणीभूत सत्त्वों को अपना परंपरा से कल्याण और सुख होने के लिये मन, वचन, काय की शुद्धता से अभयदान दे ।

छाबडा :

जीवानामभयदानं देहि मुने प्राणिभूतसत्त्वानाम्;;कल्याणसुखनिमित्तं परंपरया त्रिविधशुद्ध्या ॥१३६॥

जीव पंचेन्द्रियों को कहते हैं, 'प्राणी' विकलत्रय को कहते हैं, 'भूत' वनस्पति को कहते हैं और 'सत्त्व' पृथ्वी अप् तेज वायु को कहते हैं । इन सब जीवों को अपने समान जानकर अभयदान देने का उपदेश है । इससे शुभ प्रकृतियों का बंध होने से अभ्युदय का सुख होता है, परम्परासे तीर्थकर-पद पाकर मोक्ष पाता है, यह उपदेश है ॥१३६॥

+ मिथ्यात्व से संसार में भ्रमण । मिथ्यात्व के भेद -

**असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी
सत्तट्ठी अण्णाणी वेणईया होंति बत्तीसा ॥१३७॥**

अन्वयार्थ : एकसौ अस्सी क्रियावादी हैं, चौरासी अक्रियावादियों के भेद हैं, अज्ञानी सड़सठ भेदरूप हैं और विनयवादी बत्तीस हैं ।

छाबडा :

अशीतिशतं क्रियावादिनामक्रियमाणं च भवति चतुरशीतिः;;सप्तषष्टिरज्ञानिनां वैनयिकानां भवति द्वात्रिंशत् ॥
१३७॥

वस्तु का स्वरूप अनन्त-धर्म-स्वरूप सर्वज्ञ ने कहा है, वह प्रमाण और नय से सत्यार्थ सिद्ध होता है । जिनके मत में सर्वज्ञ नहीं है तथा सर्वज्ञ के स्वरूप का यथार्थ रूप से निश्चय करके उसका श्रद्धान नहीं किया है -- ऐसे अन्यवादियों ने वस्तु का एकधर्म ग्रहण करके उसका पक्षपात किया कि हमने इसप्रकार माना है, वह 'ऐसे ही है, अन्य प्रकार नहीं है ।' इसप्रकार विधि-निषेध करके एक-एक धर्म के पक्षपाती हो गये, उनके ये संक्षेप से तीन सौ त्रेसठ भेद हो गये ।

क्रियावादी :- कई तो गमन करना, बैठना, खड़े रहना, खाना, पीना, सोना, उत्पन्न होना, नष्ट होना, देखना, जानना, करना, भोगना, भूलना, याद करना, प्रीति करना, हर्ष करना, विषाद करना, द्वेष करना, जीना, मरना इत्यादिक क्रियायें हैं; इनको जीवादिक पदार्थों के देखकर किसी ने किसी क्रियाका पक्ष किया है और किसी ने किसी क्रिया का पक्ष किया है । ऐसे परस्पर क्रिया-विवाद से भेद हुए हैं, इनके संक्षेप से एक सौ अस्सी भेद निरूपण किये हैं, विस्तार करने पर बहुत हो जाते हैं ।

कई अक्रियावादी हैं, ये जीवादिक पदार्थों में क्रिया का अभाव मानकर आपस में विवाद करते हैं । कई कहते हैं जीव जानता नहीं है, कई कहते हैं कुछ करता नहीं है, कई कहते हैं भोगता नहीं है, कई कहते हैं उत्पन्न नहीं होता है, कई कहते हैं नष्ट नहीं होता है, कई कहते हैं गमन नहीं करता है और कई कहते हैं ठहरता नहीं है-इत्यादि क्रिया के अभाव के पक्षपात से सर्वथा एकान्ती होते हैं । इनके संक्षेप से चौरासी भेद हैं ।

कई अज्ञानवादी हैं, इनमें कई तो सर्वज्ञ का अभाव मानते हैं, कई कहते हैं जीव अस्ति है यह कौन जाने ? कई कहते हैं जीव नास्ति है यह कौन जाने ? कई कहते हैं, जीव नित्य है यह कौन जाने ? कई कहते हैं जीव अनित्य है यह कौन जाने ? इत्यादि संशय-विपर्यय-अनध्यवसायरूप होकर विवाद करते हैं । इनके संक्षेप से सड़सठ भेद हैं । कई विनयवादी हैं, उनमें से कई कहते हैं देवादिक के विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं गुरु के विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं कि माता के विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं कि पिता के विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं कि राजा के विनय से सिद्धि है, कई कहते हैं कि सब के विनय से सिद्धि है, इत्यादि विवाद करते हैं । इनके संक्षेप से बत्तीस भेद हैं । इसप्रकार सर्वथा एकान्तियों के तीन सौ त्रेसठ भेद संक्षेप से हैं, विस्तार करने पर बहुत हो जाते हैं, इनमें कई ईश्वर-वादी हैं, कई काल-वादी हैं, कई स्वभाव-वादी हैं, कई विनय-वादी हैं, कई आत्म-वादी हैं । इनका स्वरूप गोम्मटसारादि ग्रन्थों से जानना, ऐसे मिथ्यात्व के भेद हैं ॥
१३७॥

+ अभव्यजीव अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता, उसका मिथ्यात्व नहीं मिटता -

**ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होन्ति ॥१३८॥**

अन्वयार्थ : अभव्य-जीव भले प्रकार जिन-धर्म को सुनकर भी अपनी प्रकृतिको नहीं छोड़ता है । यहाँ दृष्टांत है कि सर्प गुड़सहित दूध को पीते रहने पर भी विष-रहित नहीं होता है ।

छाबडा :

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठु अपि आकर्ण्य जिनधर्मम्; गुडदुग्धमपि पिबंतः न पन्नगाः निर्विषाः भवंति ॥१३८॥

जो कारण पाकर भी नहीं छूटता है उसे 'प्रकृति' या 'स्वभाव' कहते हैं । अभव्य का यह स्वभाव है कि जिसमें अनेकान्त तत्त्व-स्वरूप है ऐसा वीतराग-विज्ञान-स्वरूप जिन-धर्म मिथ्यात्व को मिटानेवाला है, उसका भलेप्रकार स्वरूप सुनकर भी जिसका मिथ्यात्व-स्वरूप भाव नहीं बदलता है यह वस्तु का स्वरूप है, किसी का नहीं किया हुआ है । यहाँ, उपदेश-अपेक्षा इसप्रकार जानना कि जो अभव्यरूप प्रकृति तो सर्वज्ञ-गम्य है, तो भी अभव्य की प्रकृति के समान अपनी प्रकृति न रखना, मिथ्यात्व को छोड़ना यह उपदेश है ॥१३८॥

+ एकान्त मिथ्यात्व के त्याग की प्रेरणा -

**मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुब्धीए दुम्मएहिं दोसेहिं
धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्यजीवो ण रोचेदि ॥१३९॥**

अन्वयार्थ : दुर्मत जो सर्वथा एकान्त मत, उनसे प्ररूपित अन्यमत, वे ही हुए दोष उनके द्वारा अपनी दुर्बुद्धि से (मिथ्यात्वसे) आच्छादित है बुद्धि जिसकी, ऐसा अभव्य-जीव है उसे जिनप्रणीत धर्म नहीं रुचता है, वह उसकी श्रद्धा नहीं करता है, उसमें रुचि नहीं करता है ।

छाबडा :

मिथ्यात्वछन्नदृष्टिः दुर्धिया दुर्मतैः दोषैः; धर्मं जिनप्रज्ञप्तं अभव्यजीवः न रोचयति ॥१३९॥

मिथ्यात्व के उपदेश से अपनी दुर्बुद्धि द्वारा जिसके मिथ्यादृष्टि है उसको जिन-धर्म नहीं रुचता है, तब ज्ञात होता है कि ये अभव्य-जीव के भाव हैं । यथार्थ अभव्य-जीव को तो सर्वज्ञ जानते हैं, परन्तु ये अभव्य जीव के चिह्न हैं, इनसे परीक्षा द्वारा जाना जाता है ॥१३९॥

+ कुगुरु के त्याग की प्रेरणा -

**कुच्छियधम्ममि रओ कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो
कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणो होइ ॥१४०॥**

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि जो कुत्सित (निंघ) मिथ्या-धर्म में रत (लीन) है जो पाखंडी निंघभेषियों की भक्ति-संयुक्त है, जो निंघ मिथ्यात्व-धर्म पालता है, मिथ्यादृष्टियों की भक्ति करता है और मिथ्या अज्ञानतप करता है, वह दुर्गति ही पाता है, इसलिये मिथ्यात्व छोड़ना, यह उपदेश है ।

छाबडा :

कुत्सितधर्मे रतः कुत्सितपाषंडिभक्तिसंयुक्तः; कुत्सिततपः कुर्वन् कुत्सितगतिभाजनं भवति ॥१४०॥

+ अनायातन त्याग की प्रेरणा -

इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहिं मोहिओ जीवो भमिओ अणाइकालं संसारे धीर चिंतेहि ॥१४१॥

अन्वयार्थ : इति अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार मिथ्यात्व का आवास (स्थान) यह मिथ्यादृष्टियों का संसार में कुनय -- सर्वथा एकान्त उन सहित कुशास्त्र, उनसे मोहित (बेहोश) हुआ यह जीव अनादिकाल से लगाकर संसार में भ्रमण कर रहा है, ऐसे हे धीर मुने ! तू विचार कर ।

छाबडा :

इति मिथ्यात्वावासे कुनयकुशास्त्रैः मोहितः जीवः;;भ्रमितः अनादिकालं संसारे धीर ! चिन्तय ॥१४१॥

आचार्य कहते हैं कि पूर्वोक्त तीन सौ त्रेसठ कुवादियों से सर्वथा एकांत पक्षरूप कुनय द्वारा रचे हुए शास्त्रों से मोहित होकर यह जीव संसार में अनादिकाल से भ्रमण करता है, सो हे धीर मुनि ! अब ऐसे कुवादियों की संगति भी मत कर, यह उपदेश है ॥१४१॥

+ सर्व मिथ्या मत को छोड़ने की प्रेरणा -

पासंडी तिण्णि सया तिसट्ठि भेया उमग्ग मुत्तूण रुंभहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण किं बहुणा ॥१४२॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तीन सौ त्रेसठ पाखण्डियों के मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में अपने मन को रोक (लगा) यह संक्षेप है और निरर्थक प्रलापरूप कहने से क्या ?

छाबडा :

पाखण्डिनः त्रीणि शतानि त्रिषष्टिभेदाः उन्मार्ग मुक्त्वा;;रुद्धि मनः जिनमार्गे असत्प्रलापेन किं बहुना ॥१४२॥

इसप्रकार मिथ्यात्व का वर्णन किया । आचार्य कहते हैं कि बहुत निरर्थक वचनालाप से क्या ? इतना ही संक्षेप से कहते हैं कि तीन सौ त्रेसठ कुवादि पाखण्डी कहे उनका मार्ग छोड़कर जिनमार्ग में मन को रोक, अन्यत्र न जाने दो । यहाँ इतना और विशेष जानना कि -- कालदोष से इस पंचमकाल में अनेक पक्षपात से मत-मतांतर हो गये हैं, उनको भी मिथ्या जानकर उनका प्रसंग न करो । सर्वथा एकान्तका पक्षपात छोड़कर अनेकान्तरूप जिनवचन का शरण लो ॥१४२॥

+ सम्यग्दर्शन-रहित प्राणी चलता हुआ मृतक है -

जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥१४३॥

अन्वयार्थ : लोकमें जीवरहित शरीरको 'शव' कहते हैं, 'मृतक' या मुरदा कहते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शनरहित पुरुष 'चलता हुआ' मृतक है । मृतक तो लोक में अपूज्य है, अग्नि से जलाया जाता है या पृथ्वी में गाड़ दिया जाता है और 'दर्शनरहित चलता हुआ मुरदा' लोकोत्तर जो मुनि-सम्यग्दृष्टि उनमें अपूज्य है, वे उसको वंदनादि नहीं करते हैं । मुनिभेष धारण करता है तो भी उसे संघ के बाहर रखते हैं अथवा परलोक में निंद्यगति पाकर अपूज्य होता है ।

छाबडा :

जीवविमुक्तः शवः दर्शनमुक्तश्च भवति चलशवः;;शवः लोके अपूज्यः लोकोत्तरे चलशवः ॥१४३॥

सम्यग्दर्शन बिना पुरुष मृतकतुल्य है ॥१४३॥

+ सम्यक्त्व का महानपना -

**जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ॥१४४॥**

अन्वयार्थ : जैसे तारकाओं के समूह में चंद्रमा अधिक है और मृगकुल अर्थात् पशुओं के समूहमें मृगराज (सिंह) अधिक है, वैसे ही ऋषि (मुनि) और श्रावक इन दो प्रकार के धर्मों में सम्यक्त्व है वह अधिक है ।

छाबडा :

यथा तारकाणां चन्द्रः मृगराजः मृगकुलानां सर्वेषाम्;;अधिकः तथा सम्यक्त्वं ऋषिश्रावकद्विविधधर्माणाम् ॥१४४॥

व्यवहार-धर्म की जितनी प्रवृत्तियाँ हैं उनमें सम्यक्त्व अधिक है, इसके बिना सब संसार-मार्ग बंध का कारण है ॥१४४॥

+ सम्यक्त्व ही जीव को विशिष्ट बनाता है -

**जह फणिराओ *सोहइ फणमणिमाणिक्यकिकिरणविप्फुरिओ
तह विमलदंसणधरो +जिणभत्ती पवयणे जीवो ॥१४५॥**

अन्वयार्थ : जैसे फणिराज (धरणेन्द्र) है सो फण जो सहस्र फण उनमें लगे हुए मणियों के बीच जो लाल-माणिक्य उनकी किरणों से विस्फुरित (दैदीप्यमान) शोभा पाता है, वैसे ही जिनभक्ति-सहित निर्मल सम्यग्दर्शन का धारक जीव प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग के प्ररूपण में शोभा पाता है ।

छाबडा :

यथा फणिराजः शोभते फणमणिमाणिक्यकिरणविस्फुरितः;;तथा विमलदर्शनधरः जिनभक्तिः प्रवचने जीवः ॥
१४५॥

सम्यक्त्व-सहित जीव की जिन-प्रवचन में बड़ी अधिकता है । जहाँ-तहाँ (सब जगह) शास्त्रों में सम्यक्त्व की ही प्रधानता कही है ॥१४५॥

+ सम्यग्दर्शन-सहित लिंग की महिमा -

**जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले
भाविय तववयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥१४६॥**

अन्वयार्थ : जैसे निर्मल आकाशमंडल में ताराओं के समूहसहित चन्द्रमा का बिंब शोभा पाता है, वैसे ही जिनशासन में दर्शन से विशुद्ध और भावित किये हुए तप तथा व्रतों में निर्मल जिनलिंग है सो शोभा पाता है ।

छाबडा :

यथा तारागणसहितं शशधरबिंबं खमंडले विमले;;भावतं तपोव्रतविमलं जिनलिंगं दर्शनविशुद्धम् ॥१४६॥

जिनलिंग अर्थात् 'निर्ग्रन्थ मुनिभेष' यद्यपि तप--व्रतसहित निर्मल है, तो भी सम्यग्दर्शनके बिना शोभा नहीं पाता है । इसके होने पर ही अत्यन्त शोभायमान होता है ॥१४६॥

+ ऐसा जानकर दर्शनरत्न को धारण करो -

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं धरेह भावेण सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥१४७॥

अन्वयार्थ : हे मुने ! तू 'इति' अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार सम्यक्त्व के गुण मिथ्यात्व के दोषों को जानकर सम्यक्त्वरूपी रत्न को भावपूर्वक धारण कर । वह गुणरूपी रत्नों में सार है और मोक्षरूपी मंदिर का प्रथम सोपान है अर्थात् चढ़ने के लिए पहिली सीढ़ी है ।

छाबडा :

इति ज्ञात्वा गुणदोषं दर्शनरत्नं धरतभावेन;;सारं गुणरत्नानां सोपानं प्रथमं मोक्षस्य ॥१४७॥

जितने भी व्यवहार मोक्षमार्ग के अंग हैं; (गृहस्थके दान--पूजादिक और मुनि के महाव्रत--शीलसंयमादिक) उन सब में सार सम्यग्दर्शन है, इससे सब सफल हैं, इसलिये मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यग्दर्शन अंगीकार करो, यह प्रधान उपदेश है ॥ १४७॥

+ जीवपदार्थ का स्वरूप -

कर्त्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य दंसणणाणुवओगो णिद्धिट्ठो जिणवरिन्देहिं ॥१४८॥

अन्वयार्थ : जीव नामक पदार्थ है, सो कैसा है -- कर्त्ता है, भोक्ता है, अमूर्तिक है, शरीरप्रमाण है, अनादिनिधन है, दर्शन-ज्ञान-उपयोगवाला है, इसप्रकार जिनवरेन्द्र सर्वज्ञदेव वीतराग ने कहा है ।

छाबडा :

कर्त्ता भोक्ता अमूर्तः शरीरमात्रः अनादिनिधनः च;;दर्शनज्ञानोपयोगः निर्दिष्टः जिनवरेन्द्रैः ॥१४८॥

यहाँ जीव नामक पदार्थ के छह विशेषण कहे । इनका आशय ऐसा है कि-

१-'कर्त्ता' कहा, वह निश्चयनय में तो अपने अशुद्ध भावों का अज्ञान अवस्था में आप ही कर्त्ता है तथा व्यवहार-नय से ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है और शुद्धनय से अपने शुद्धभावों का कर्त्ता है ।

२-'भोक्ता' कहा, वह निश्चयनय से तो अपने ज्ञान--दर्शनमयी चेतनाभाव का भोक्ता है और व्यवहार नयसे पुद्गल-कर्म के फल जो सुख--दुःख आदि का भोक्ता है ।

३-'अमूर्तिक' कहा, वह निश्चय से तो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द ये पुद्गल के गुण--पर्याय हैं, इनसे रहित अमूर्तिक है और व्यवहार से जबतक पुद्गल-कर्म से बँधा है तब तक 'मूर्तिक' भी कहते हैं ।

४-'शरीरपरिमाण' कहा, यह निश्चय से तो असंख्यात-प्रदेशी लोक-परिणाम हैं, परन्तु संकोच-विस्तार शक्ति से शरीर से कुछ-कम प्रदेशप्रमाण आकार में रहता है ।

५-'अनादिनिधन' कहा, वह पर्याय-दृष्टि से देखने पर तो उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, तो भी द्रव्य-दृष्टि से देखा जाय तो अनादि-निधन सदा नित्य अविनाशी है ।

६-'दर्शन-ज्ञान-उपयोग सहित' कहा, वह देखने-जाननरूप उपयोग-स्वरूप चेतनारूप है ।

इन विशेषणों से अन्यमती अन्य प्रकार सर्वथा एकान्तरूप मानते हैं उनका निषेध भी जानना चाहिये । 'कर्त्ता' विशेषण से तो सांख्यमती सर्वथा अकर्त्ता मानता है उसका निषेध है । 'भोक्ता' विशेषण से बौद्धमती क्षणिक मानकर कहता है कि कर्म को करनेवाला तो और है तथा भोगनेवाला और है इसका निषेध है । जो जीव कर्म करता है उसका फल वही जीव भोगता है, इस कथन से बौद्धमती के कहने का निषेध है । 'अमूर्तिक' कहने से मीमांसक आदि इस शरीर-सहित मूर्तिक ही मानते हैं, उनका निषेध है । 'शरीर-प्रमाण' कहने से नैयायिक, वैशेषिक, वेदान्ती आदि सर्वथा, सर्वव्यापक, मानते हैं उनका निषेध है । 'अनादि-निधन' कहने से बौद्धमती सर्वथा क्षण-स्थायी मानता है, उसका निषेध है । 'दर्शन-ज्ञान-उपयोगमयी' कहने से सांख्यमती तो ज्ञान-रहित चेतनामात्र मानता है, नैयायिक, वैशेषिक, गुणगुणी के सर्वथा भेद मानकर ज्ञान और जीव के सर्वथा भेद मानते हैं, बौद्धमत का विशेष विज्ञान-द्वैतवादी ज्ञान-मात्र ही मानता है और वेदांती ज्ञान का कुछ निरूपण ही नहीं करता है, इन सबका निषेध है ।

इसप्रकार सर्वज्ञ का कहा हुआ जीव का स्वरूप जानकर अपने को ऐसा मानकर श्रद्धा, रुचि, प्रतीति करना चाहिये । जीव कहने से अजीव पदार्थ भी जाना जाता है, अजीव न हो तो जीव नाम कैसे होता ? इसलिये अजीव का स्वरूप कहा है, वैसाही उसका श्रद्धान आगम-अनुसार करना । इसप्रकार अजीव पदार्थ का स्वरूप जानकर और इन दोनों के संयोग से अन्य आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन भावोंकी प्रवृत्ति होती है । इनका आगम के अनुसार स्वरूप जानकर श्रद्धान करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, इसप्रकार जानना चाहिये ॥१४८॥

+ सम्यक्त्व सहित भावना से घातिया कर्मों का क्षय -

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं णिट्ठवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो ॥१४९॥

अन्वयार्थ : सम्यक् प्रकार जिनभावना से युक्त भव्यजीव है वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, इन चार घातिया कर्मोंका निष्ठापन करता है अर्थात् सम्पूर्ण अभाव करता है ।

छाबडा :

दर्शनज्ञानावरणं मोहनीयं अन्तरायकं कर्म; निष्ठापयति भव्यजीवाः सम्यक् जिनभावनायुक्तः ॥१४९॥

दर्शन का घातक दर्शनावरण कर्म है, ज्ञान का घातक ज्ञानावरण कर्म है, सुख का घातक मोहनीय कर्म है, वीर्य का घातक अन्तराय कर्म है । इनका नाश कौन करता है ? सम्यक्प्रकार जिन-भावना भाकर अर्थात् जिन आज्ञा मानकर जीव-अजीव आदि तत्त्व का यथार्थ निश्चय कर श्रद्धावान हुआ हो वह जीव करता है । इसलिये जिन आज्ञा मान कर यथार्थ श्रद्धान करो यह उपदेश है ॥१४९॥

+ घातिया कर्मों के नाश से अनन्त-चतुष्टय -

बलसोक्खणाणदंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होंति णट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥१५०॥

अन्वयार्थ : पूर्वोक्त चार घातिया कर्मों का नाश होने पर अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और बल (वीर्य) ये चार गुण प्रगट होते हैं । जब जीव के ये गुण की पूर्ण निर्मल दशा प्रकट होती है तब लोकालोक को प्रकाशित करता है ।

छाबडा :

बलसौख्यज्ञानदर्शनानि चत्वारोऽपि प्रकटागुणाभवन्ति; नष्टे घातिचतुष्के लोकालोकं प्रकाशयति ॥१५०॥

घातिया कर्मों का नाश होने पर अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ये 'अनन्त-चतुष्टय' प्रकट होते हैं । अनन्त दर्शन-ज्ञान से छह द्रव्योंसे भरे हुए इस लोक में अनन्तानन्त जीवों को, इनमें भी अनन्तानन्त-गुणे पुद्गलों को तथा

धर्म-अधर्म-आकाश ये तीन द्रव्य और असंख्यात कालाणु इन सब द्रव्योंकी अतीत अनागत और वर्तमान-काल संबंधी अनन्त-पर्यायों को भिन्न-भिन्न एक समय में स्पष्ट देखता है और जानता है । अनन्त-सुख से अत्यंत-तृप्तिरूप है और अनन्त-शक्ति द्वारा अब किसी भी निमित्त से अवस्था पलटती (बदलती) नहीं है । ऐसे अनन्त-चतुष्टयरूप जीव का निज-स्वभाव प्रकट होता है, इसलिये जीव के स्वरूप का ऐसा परमार्थ से श्रद्धान करना वह ही सम्यग्दर्शन है ॥१५०॥

+ अनन्तचतुष्टय धारी परमात्मा के अनेक नाम -

णाणी सिव परमेष्ठी सव्वण्हू विण्हु चउमुहो बुद्धो अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ॥१५१॥

अन्वयार्थ : परमात्मा ज्ञानी है, शिव है, परमेष्ठी है, सर्वज्ञ है, विष्णु है, चतुर्मुख ब्रह्मा है, बुद्ध है, आत्मा है, परमात्मा है और कर्मरहित है, यह स्पष्ट जानो ।

छाबडा :

ज्ञानी शिवः परमेष्ठी सर्वज्ञः विष्णुः चतुर्मुखः बुद्धः, आत्मा अपि च परमात्मा कर्मविमुक्तः च भवति स्फुटम् ॥१५१॥

'ज्ञानी' कहने से सांख्यमती ज्ञानरहित उदासीन चैतन्यमात्र मानता है उसका निषेध है । 'शिव' है अर्थात् सब कल्याणों से परिपूर्ण है, जैसा सांख्य-मती नैयायिक वैशेषिक मानते हैं वैसा नहीं है । परमेष्ठी है सो परम (उत्कृष्ट) पदमें स्थित है अथवा उत्कृष्ट इष्टत्व स्वभाव है । जैसे अन्यमती कई अपना इष्ट कुछ मान करके उसको परमेष्ठी कहते हैं वैसे नहीं है । 'सर्वज्ञ' है अर्थात् सब लोकालोक को जानता है, अन्य कितने ही किसी एक प्रकरण संबंधी सब बात जानता है उसको भी सर्वज्ञ कहते हैं वैसे नहीं है । 'विष्णु' है अर्थात् जिसका ज्ञान सब ज्ञेयों में व्यापक है-अन्यमती वेदांती आदि कहते हैं कि पदार्थों में आप है तो ऐसा नहीं है ।

'चतुर्मुख' कहने से केवली अरहंत के समवसरण में चार मुख चारों दिशाओं में दिखते हैं ऐसा अतिशय है, इसलिये चतुर्मुख कहते हैं -- अन्यमती ब्रह्मा को चतुर्मुख कहते हैं ऐसा ब्रह्मा कोई नहीं है । 'बुद्ध' है अर्थात् सबका ज्ञाता है -- बौद्धमती क्षणिक को बुद्ध कहते हैं वैसा ही नहीं है । 'आत्मा' है अपने स्वभाव ही में निरन्तर प्रवर्तता है -- अन्यमती वेदान्ती सब में प्रवर्तते हुए आत्मा को मानते हैं वैसा नहीं है । 'परमात्मा' है अर्थात् आत्मा को पूर्णरूप 'अनन्त-चतुष्टय' उसके प्रगट हो गये हैं, इसलिये परमात्मा है । कर्म जो आत्मा के स्वभाव के घातक घातिया कर्मों से रहित हो गये हैं इसलिये 'कर्म विमुक्त' हैं, अथवा कुछ करने योग्य काम न रहा इसलिये भी कर्म-विमुक्त है । सांख्यमती, नैयायिक सदा ही कर्म रहित मानते हैं वैसे नहीं है । ऐसे परमात्मा के सार्थक नाम हैं । अन्यमती अपने इष्ट का नाम एकही कहते हैं, उनका सर्वथा एकान्त के अभिप्राय के द्वारा अर्थ बिगड़ता है इसलिये यथार्थ नहीं है । अरहन्त के ये नाम नय विवक्षासे सत्यार्थ हैं, ऐसा जानो ॥१५१॥

+ अरिहंत भगवान मुझे उत्तम बोधि देवे -

इय घाइकम्ममुक्को अट्टारहदोसवज्जिओ सयलो तिहुवणभवणपदीवो देउ ममं उत्तमं बोहिं ॥१५२॥

अन्वयार्थ : इसप्रकार घातिया कर्मों से रहित, क्षुधा, तृषा आदि पूर्वोक्त अठारह दोषों से रहित, सकल (शरीरसहित) और तीन भुवनरूपी भवन को प्रकाशित करनेके लिए प्रकृष्ट दीपकतुल्य देव हैं, वह मुझे उत्तम बोधि (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य) की प्राप्ति देवे, इस प्रकार आचार्य ने प्रार्थना की है ।

छाबडा :

इति घातिकर्ममुक्तः अष्टादशदोषवर्जितः सकलः, त्रिभुवनभवनप्रदीपः ददातु मह्यं उत्तमां बोधिम् ॥१५२॥

यहाँ और तो पूर्वोक्त प्रकार जानना, परन्तु 'सकल' विशेषण का यह आशय है कि -- मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करने के जो उपदेश हैं वह वचन के प्रवर्ते बिना नहीं होते हैं और वचनकी प्रवृत्ति शरीर बिना नहीं होती है, इसलिये अरहंत का आयु-

कर्म के उदय से शरीर सहित अवस्थान रहता है और सुस्वर आदि नाम-कर्म के उदय से वचन की प्रवृत्ति होती है । इस तरह अनेक जीवों का कल्याण करनेवाला उपदेश होता रहता है । अन्यमतियों के ऐसा अवस्थान (ऐसी स्थिति) परमात्मा के संभव नहीं है, इसलिये उपदेश की प्रवृत्ति नहीं बनती है, तब मोक्ष-मार्ग का उपदेश भी नहीं बनता है, इसप्रकार जानना चाहिये ॥१५२॥

+ अरहंत जिनेश्वर को नमस्कार से संसार की जन्मरूप बेल का नाश -

**जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभक्तिराएण
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५३॥**

अन्वयार्थ : जो पुरुष परम भक्ति अनुराग से जिनवर के चरणकमलों को नमस्कार करते हैं वे श्रेष्ठभावरूप 'शस्त' से जन्म अर्थात् संसाररूपी बेल के मूल जो मिथ्यात्व आदि कर्म, उनको नष्ट कर डालते हैं (खोद डालते हैं) ।

छाबडा :

जिनवरचरणंबुरुहं नमंतिये परमभक्तिरागेण;;ते जन्मवल्लीमूलं खनंति वरभावशस्त्रेण ॥१५३॥

अपनी श्रद्धा-रुचि-प्रतीति से जो जिनेश्वर-देव को नमस्कार करता है, उनके सत्यार्थ-स्वरूप सर्वज्ञ-वीतरागपने को जानकर भक्ति के अनुराग से नमस्कार करता है तब ज्ञात होता है कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का यह चिह्न है, इसलिये मालूम होता है कि इसके मिथ्यात्व का नाश हो गया, अब आगामी संसार की बुद्धि इसके नहीं होगी, इसप्रकार बताया है ॥१५३॥

+ जिनसम्यक्त्व को प्राप्त पुरुष आगामी कर्म से लिप्त नहीं होता -

**जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहिं सप्पुरिसो ॥१५४॥**

अन्वयार्थ : जैसे कमलिनी का पत्र अपने स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि सत्पुरुष है, वह अपने भाव से ही क्रोधादिक कषाय और इन्द्रियों के विषयों से लिप्त नहीं होता है ।

छाबडा :

यथा सलिलेन न लिप्यते कमलिनीपत्रं स्वभावप्रकृत्या;;तथा भावेन न लिप्यते कषायविषयैः सत्पुरुषः ॥१५४॥

सम्यग्दृष्टि पुरुष के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का तो सर्वथा अभाव ही है, अन्य कषायों का यथासंभव अभाव है । मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी के अभाव से ऐसा भाव होता है । यद्यपि पर-द्रव्यमात्र के कर्तृत्व की बुद्धि तो नहीं है, परन्तु शेष कषायों के उदय से कुछ राग-द्वेष होता है, उसको कर्म के उदय के निमित्त से हुए जानता है, इसलिये उसमें भी कर्तृत्व-बुद्धि नहीं है, तो भी उन भावों को रोग के समान हुए जानकर अच्छा नहीं समझता है । इसप्रकार अपने भावों से ही कषाय-विषयों से प्रीति-बुद्धि नहीं है, इसलिये उनसे लिप्त नहीं होता है, जल कमलवत् निर्लेप रहता है । इसमें आगामी कर्म का बन्ध नहीं होता है, संसार की वृद्धि नहीं होती है, ऐसा आशय है ॥१५४॥

+ भाव सहित सम्यग्दृष्टि हैं वे ही सकल शील संयमादि गुणों से संयुक्त हैं, अन्य नहीं -

**ते च्विय भणामि हं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥१५५॥**

अन्वयार्थ : पूर्वोक्त भावसहित सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और शील संयम गुणों से सकल कला अर्थात् संपूर्ण कलावान होते हैं, उनही को हम मुनि कहते हैं । जो सम्यग्दृष्टि नहीं है, मलिनचित्तसहित मिथ्यादृष्टि है और बहुत दोषों का आवास (स्थान) है वह तो भेष धारण करता है तो भी श्रावक के समान भी नहीं है ।

छाबडा :

तानेव च भणामि ये सकलकलाशीलसंयमगुणैः, बहुदोषाणामावासः सुमलिनचित्तः न श्रावकसमः सः ॥१५५॥

जो सम्यग्दृष्टि है और शील (--उत्तरगुण) तथा संयम (--मूलगुण) सहित है वह मुनि है । जो मिथ्यादृष्टि है अर्थात् जिसका चित्त मिथ्यात्व से मलिन है और जिसमें क्रोधादि विकाररूप बहुत दोष पाये जाते हैं, वह तो मुनि का भेष धारण करता है तो भी श्रावकके समान भी नहीं है, श्रावक सम्यग्दृष्टि हो और गृहस्थाचार के पाप सहित हो तो भी उसके बराबर वह--केवल भेषमात्र को धारण करनेवाला मुनि-नहीं है, ऐसा आचार्यने कहा है ॥१५५॥

+ सम्यग्दृष्टि होकर जिनने कषायरूप सुभट जीते वे ही धीरवीर -

**ते धीरवीरपुरिसा खमदखग्गेण विष्फुरंतेण
दुज्जयपबलबलुद्धरकसायभट्ट णिज्जिया जेहिं ॥१५६॥**

अन्वयार्थ : जिन पुरुषों ने क्षमा और इन्द्रियों का दमन वह ही हुआ विस्फुरता अर्थात् सजाया हुआ मलिनतारहित उज्ज्वल तीक्ष्ण खड्ग, उससे जिनको जीतना कठिन है ऐसे दुर्जय, प्रबल तथा बलसे उद्धत कषायरूप सुभटों को जीते, वे ही धीरवीर सुभट हैं, अन्य संग्रामादिक में जीतनेवाले तो 'कहने के सुभट' हैं ।

छाबडा :

ते धीरवीरपुरुषाः क्षमादमखड्गेण विस्फुरताः, दुर्जयप्रबलबलोद्धतकषायभटाः निर्जिता यैः ॥१५६॥

युद्ध में जीतनेवाले शूरवीर तो लोक में बहुत है, परन्तु कषायों को जीतनेवाले विरले हैं, वे मुनिप्रधान हैं और वे ही शूरवीरों में प्रधान हैं । जो सम्यग्दृष्टि होकर कषायों को जीतकर चारित्रवान् होते हैं वे मोक्ष पाते हैं, ऐसा आशय है ॥१५६॥

+ आप दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होकर अन्य को भी उन सहित करते हैं, उनको धन्य है -

**धण्णा ते भयवंता दंसणणाणगपवरहत्थेहिं
विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहिं ॥१५७॥**

अन्वयार्थ : जिन सत्पुरुषों ने विषयरूप मकरधर (समुद्र) में पड़े हुए भव्यजीवों को -- दर्शन और ज्ञानरूपी मुख्य दोनों हाथों से-पार उतार दिये, वे मुनिप्रधान भगवान् इन्द्रादिकसे पूज्य ज्ञानी धन्य हैं ।

छाबडा :

ते धन्याः भगवंतः दर्शनज्ञानाग्रप्रवरहस्तैः, विषयमकरधरपतिताः भव्याः उत्तारिताः यैः ॥१५७॥

इस संसार-समुद्र से आप तिरें और दूसरों को तिरा दें उन मुनियों को धन्य है । धनादिक सामग्री-सहित को 'धन्य' कहते हैं, वह तो 'कहने के धन्य' हैं ॥१५७॥

+ ऐसे मुनियों की महिमा करते हैं -

**मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा
विसयविसपुप्फुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥१५८॥**

अन्वयार्थ : माया (कपट) रूपी वेल जो मोहरूपी वृक्ष पर चढ़ी हुई है तथा विषयरूपी विष के फूलों से फूल रही है उसको मुनि ज्ञानरूपी शस्त्र से समस्ततया काट डालते हैं अर्थात् निःशेष कर देते हैं ।

छाबडा :

मायावल्लीं अशेषां मोहमहातरुवरे आरूढाम्;;विषयविषपुष्पपुष्पितां लुनन्ति मुनयः ज्ञानशस्त्रैः ॥१५८॥

यह माया-कषाय मूढ़ है, इसका विस्तार भी बहुत है, मुनियों तक फैलती है, इसलिये जो मुनि ज्ञान से इसको काट डालते हैं वे ही सच्चे मुनि हैं, वे ही मोक्ष पाते हैं ॥१५८॥

+ उन मुनियों के सामर्थ्य कहते हैं -

**मोहमयगारवेहिं य मुक्ता ये करुणभावसंजुता
ते सव्वदुरियखंभं हणन्ति चारित्तखग्गेण ॥१५९॥**

अन्वयार्थ : जो मुनि मोह-मद-गौरव से रहित हैं और करुणाभाव सहित हैं, वे ही चारित्ररूपी खड्ग से पापरूपी स्तंभ को हनते हैं अर्थात् मूल से काट डालते हैं ।

छाबडा :

मोहमदगारवैः च मुक्ताः ये करुणभावसंयुक्ताः;;ते सर्वदुरितस्तंभं घ्नन्ति चारित्रखड्गेन ॥१५९॥

पर-द्रव्य से ममत्वभाव को 'मोह' कहते हैं । 'मद' - जाति आदि पर-द्रव्य के संबंध से गर्व होने को 'मद' कहते हैं । गौरव तीन प्रकार का है -- ऋद्धि-गौरव, सात-गौरव और रस-गौरव । जो कुछ तपोबल से अपनी महंता लोक में हो उसका अपने को मद आवे, उसमें हर्ष माने वह 'ऋद्धि-गौरव' है । यदि अपने शरीर में रोगादिक उत्पन्न न हों तो सुख माने तथा प्रमाद-युक्त होकर अपना महंतपना माने सात-गौरव है । यदि मिष्ट-पुष्ट रसीला आहारादिक मिले तो उसके निमित्त से प्रमत्त होकर शयनादिक करे 'रस-गौरव' है । मुनि इसप्रकार गौरव से तो रहित हैं और पर-जीवों की करुणा से सहित हैं; ऐसा नहीं है कि पर-जीवों से मोह-ममत्व नहीं है इसलिये निर्दय होकर उनको मारते हैं, परन्तु जब तक राग-अंश रहता है तब तक पर जीवों की करुणा ही करते हैं, उपकार-बुद्धि रहती है । इसप्रकार ज्ञानी मुनि पाप जो अशुभ-कर्म उसका चारित्र के बल से नाश करते हैं ॥१५९॥

+ इसप्रकार मूलगुण और उत्तरगुणों से मंडित मुनि हैं वे जिनमत में शोभा पाते हैं -

**गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणपहे ॥१६०॥**

अन्वयार्थ : जैसे पवनपथ (आकाश) में ताराओं की पंक्ति के परिवार से वेष्टित पूर्णिमा का चन्द्रमा शोभा पाता है, वैसे ही जिनमतरूप आकाश में गुणों के समूहरूपी मणियों की माला से मुनीन्द्ररूप चंद्रमा शोभा पाता है ।

छाबडा :

गुणगणमणिमालया जिनमतगगने निशाकरमुनीन्द्रः;;तारावलीपरिकरितः पूर्णिमेन्दुरिव पवनपथे ॥१६०॥

अट्ठाईस मूल-गुण, दशलक्षण धर्म, तीन गुप्ति और चौरासी लाख उत्तर-गुणों की माला सहित मुनि जिनमत में चन्द्रमा के समान शोभा पाता है, ऐसे मुनि अन्यमत में नहीं हैं ॥१६०॥

+ इसप्रकार विशुद्ध-भाव द्वारा तीर्थकर आदि पद के सुखों पाते हैं -

चक्रहररामकेसवसुखरजिणगणहराइसोक्खाइं चारणमुणिरिद्धीओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥१६१॥

अन्वयार्थ : विशुद्ध भाववाले ऐसे नर मुनि हैं वह चक्रधर (चक्रवर्ती, छह खंडका राजेन्द्र) राम (बलभद्र) केशव (नारायण, अर्द्धचक्री) सुरवर (देवों का इन्द्र) जिन (तीर्थकर पंचकल्याणक सहित, तीन-लोक से पूज्य पद) गणधर (चार ज्ञान और सप्तऋद्धि के धारक मुनि) इनके सुखों को तथा चारणमुनि (जिनके आकाशगामिनी आदि ऋद्धियाँ पाई जाती हैं) की ऋद्धियों को प्राप्त हुए ।

छाबडा :

चक्रधररामकेशवसुरवरजिनगणधरादिसौख्यानि; चारणमुन्यर्द्धीः विसुद्धभावा नराः प्राप्ताः ॥१६१॥

पहिले इसप्रकार निर्मल भावों के धारक पुरुष हुए वे इस प्रकार के पदों के सुखों को प्राप्त हुए, अब जो ऐसे होंगे वे पावेंगे, ऐसा जानो ॥१६१॥

+ मोक्ष का सुख भी ऐसे ही पाते हैं -

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलमतुलं पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया-जीवा ॥१६२॥

अन्वयार्थ : [जिणभावणभाविया जीवा] जिन-भावना को भाने वाला जीव [पत्ता वरसिद्धिसुहं] मोक्ष को वर कर सुख को प्राप्त करता है जो [सिवम्] 'शिव' (कल्याणरूप), [अजरामरलिंगम्] वृद्ध होना और मरना इन दोनों चिन्हों से रहित, [अणोवम] अनुपम, [उत्तमं] सर्वोत्तम, [परम] सर्वोत्कृष्ट [विमलम्] विमल, [अतुलम्] अतुलनीय है ।

छाबडा :

शिवमजरामरलिंगं अनुपममुत्तमं परमविमलमतुलम्; प्राप्तो वरसिद्धिसुखं जिणभावनाभाविता जीवाः ॥१६२॥

जो जिन-भावना से भावित जीव हैं वे ही सिद्धि अर्थात् मोक्ष के सुख को पाते हैं । कैसा है सिद्धि-सुख ? 'शिव' है, कल्याणरूप है, किसी प्रकार उपद्रव सहित नहीं है, 'अजरामरलिंग' है अर्थात् जिसका चिह्न वृद्ध होना और मरना इन दोनों से रहित है, 'अनुपम' है, जिसको संसार के सुख की उपमा नहीं लगती है, 'उत्तम' (सर्वोत्तम) है, 'परम' (सर्वोत्कृष्ट) है, महार्घ्य है अर्थात् महान् अर्घ्य-पूज्य प्रशंसा के योग्य है, 'विमल' है कर्म के मल तथा रागादिकमल से रहित है । 'अतुल' है, इसके बराबर संसार का सुख नहीं है, ऐसे सुख को जिन-भक्त पाता है, अन्य का भक्त नहीं पाता है ॥१६२॥

+ सिद्ध-सुख को प्राप्त सिद्ध-भगवान मुझे भावों की शुद्धता देवें -

ते मे तिहुवणमहिमा सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा दितु वरभावसुद्धिं दंसण णाणे चरित्ते य ॥१६३॥

अन्वयार्थ : सिद्ध भगवान मुझे दर्शन, ज्ञानमें और चारित्र में श्रेष्ठ उत्तमभाव की शुद्धता देवें । कैसे हैं सिद्ध भगवान् ? तीन भुवन से पूज्य हैं, शुद्ध हैं, अर्थात् द्रव्य-कर्म और नोकर्मरूप मल से रहित हैं, निरंजन हैं अर्थात् रागादि कर्म से रहित हैं, जिनके कर्म की उत्पत्ति नहीं है, नित्य हैं -- प्राप्त स्वभाव का फिर नाश नहीं है ।

छाबडा :

ते मे त्रिभुवनमहिताः सिद्धाः सुद्धाः निरंजनाः नित्याः; वदतु वरभावशुद्धिं दर्शने ज्ञाने चारित्रे य ॥१६३॥

आचार्य ने शुद्ध-भाव का फल सिद्ध अवस्था और जो निश्चय से इस फल को प्राप्त हुए सिद्ध, इनसे यही प्रार्थना की है कि शुद्ध-भाव की पूर्णता हमारे होवे ॥१६३॥

+ भाव के कथन का संकोच -

**किं जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो यकाममोक्खो य
अण्णे वि य वावारा भावम्मि परिट्टिया सव्वे ॥१६४॥**

अन्वयार्थ : आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या ? धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और अन्य जो कुछ व्यापार है वह सब ही शुद्धभाव में समस्तरूप से स्थित है ।

छाबडा :

किं जल्पितेन बहुना अर्थः धर्मः च काममोक्षः च; अन्ये अपि च व्यापाराः भावे परिस्थिताः सर्वे ॥१६४॥

पुरुष के चार प्रयोजन प्रधान हैं -- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष । अन्य भी जो कुछ मंत्र-साधनादिक व्यापार हैं, वे आत्मा के शुद्ध चैतन्य-परिणाम-स्वरूप भाव में स्थित हैं । शुद्ध-भाव से सब सिद्धि है, इसप्रकार संक्षेप से कहना जानो, अधिक क्या कहें ? ॥१६४॥

+ भावपाहुड को पढ़ने-सुनने व भावना करने का उपदेश -

**इय भावपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहि देसियं सम्मं
जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥१६५॥**

अन्वयार्थ : इसप्रकार इस भावपाहुड का सर्वबुद्ध-सर्वज्ञदेव ने उपदेश दिया है, इसको जो भव्यजीव सम्यक्प्रकार पढ़ते हैं, सुनते हैं और इसका चिन्तन करते हैं वे शाश्वत सुख के स्थान मोक्ष को पाते हैं ।

छाबडा :

इति भावप्राभृतमिदं सर्वबुद्धैः देशितं सम्यक्; यः पठति शृणोति भावयति सः प्राप्नोति अविचलं स्थानम् ॥१६५॥

यह भाव-पाहुड ग्रंथ सर्वज्ञ की परंपरा से अर्थ लेकर आचार्य ने कहा है, इसलिये सर्वज्ञ का ही उपदेश है, केवल छद्मस्थ का ही कहा हुआ नहीं है, इसलिये आचार्य ने अपना कर्त्तव्य प्रधानकर नहीं कहा है । इसके पढ़ने-सुनने का फल मोक्ष कहा, वह युक्त ही है । शुद्ध-भाव से मोक्ष होता है और इसके पढ़ने से शुद्ध-भाव होते हैं । इसप्रकार इसका पढ़ना, सुनना, धारण और भावना करना परंपरा मोक्ष का कारण है । इसलिये हे भव्य-जीवों ! इस भावपाहुड को पढ़ो, सुनो, सुनाओ, भावो और निरन्तर अभ्यास करो जिससे भाव शुद्ध हों और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता को पाकर मोक्ष को प्राप्त करो तथा वहाँ परमानंदरूप शाश्वत सुख को भोगो ।

इसप्रकार श्री कुन्दकुन्द नामक आचार्य ने भाव-पाहुड ग्रंथ पूर्ण किया ।

इसका संक्षेप ऐसे हैं -- जीव नामक वस्तु का एक असाधारण शुद्ध अविनाशी चेतना स्वभाव है । इसकी शुद्ध, अशुद्ध दो परिणति हैं । शुद्ध दर्शन-ज्ञानोपयोगरूप परिणमना 'शुद्ध परिणति' है, इसको शुद्ध-भाव कहते हैं । कर्म के निमित्त से राग-द्वेष-मोहादिक विभावरूप परिणमना 'अशुद्ध परिणति' है, इसको अशुद्ध-भाव कहते हैं । कर्म का निमित्त अनादि से है इसलिये अशुद्ध-भावरूप अनादि ही में परिणमन कर रहा है । इस भाव से शुभ-अशुभ कर्म का बंध होता है, इस बंध के उदय से फिर शुभ या अशुभ भावरूप (अशुद्ध भावरूप) परिणमन करता है, इसप्रकार अनादि संतान चला आता है । जब इष्ट देवतादिक की भक्ति, जीवों की दया, उपकार, मंद-कषायरूप परिणमन करता है तब तो शुभ-कर्म का बंध करता है;

इसके निमित्त से देवादिक पर्याय पाकर कुछ सुखी होता है । जब विषय-कषाय तीव्र परिणामरूप परिणमन करता है तब पाप का बंध करता है, इसके उदयमें नरकादिक पर्याय पाकर दुःखी होता है ।

इसप्रकार संसार में अशुद्ध-भाव से अनादिकाल से यह जीव भ्रमण करता है । जब कोई काल ऐसा आवे जिसमें जिनेश्वरदेव-सर्वज्ञ वीतराग के उपदेश को प्राप्ति हो और उसका श्रद्धान रुचि प्रतीति आचरण करे तब स्व और पर का भेद-ज्ञान करके शुद्ध-अशुद्ध भाव का स्वरूप जानकर अपने हित-अहित का श्रद्धान रुचि प्रतीति आचरण हो तब शुद्ध-दर्शन-ज्ञानमयी शुद्ध चेतना परिणमन को तो 'हित' जाने, इसका फल संसार की निवृत्ति है इसको जाने, और अशुद्ध-भाव का फल संसार है इसको जाने, तब शुद्ध-भाव के ग्रहण का और अशुद्ध-भाव के त्याग का उपाय करे । उपाय का स्वरूप जैसे सर्वज्ञ-वीतराग के आगम में कहा है, वैसे करे ।

इसका स्वरूप निश्चय-व्यवहारात्मक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप मोक्ष-मार्ग कहा है । शुद्ध-स्वरूप के श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र को 'निश्चय' कहा है और जिनदेव सर्वज्ञ-वीतराग तथा उनके वचन और उन वचनों के अनुसार प्रवर्तने वाले मुनि श्रावक उनकी भक्ति वन्दना विनय वैयावृत्य करना 'व्यवहार' है, क्योंकि यह मोक्ष-मार्ग में प्रवर्तने को उपकारी है । उपकारी का उपकार मानना न्याय है, उपकार लोपना अन्याय है । स्वरूप के साधक अहिंसा आदि महाव्रत तथा रत्नत्रय रूप प्रवृत्ति, समिति, गुप्तिरूप प्रवर्तना और इनमें दोष लगने पर अपनी निंदा गर्हादिक करना, गुरुओं का दिया हुआ प्रायश्चित्त लेना, शक्ति के अनुसार तप करना, परिग्रह सहना, दसलक्षण-धर्म में प्रवर्तना इत्यादि शुद्धात्मा के अनुकूल क्रियारूप प्रवर्तना, इनमें कुछ राग का अंश रहता है तबतक शुभ-कर्म का बंध होता है, तो भी वह प्रधान नहीं है, क्योंकि इनमें प्रवर्तनेवाले के शुभ-कर्म के फल की इच्छा नहीं हैं, इसलिये अबंध तुल्य है, इत्यादि प्रवृत्ति आगमोक्त 'व्यवहार-मोक्षमार्ग' है । इसमें प्रवृत्तिरूप परिणाम हैं तो भी निवृत्ति प्रधान है, इसलिये निश्चय-मोक्षमार्ग में विरोध नहीं है ।

इसप्रकार निश्चय-व्यवहार स्वरूप मोक्ष-मार्ग का संक्षेप है । इसी को 'शुद्धभाव' कहा है । इसमें भी सम्यग्दर्शन को प्रधान कहा है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना सब व्यवहार मोक्ष का कारण नहीं है और सम्यग्दर्शन के व्यवहार में जिनदेव की भक्ति प्रधान है, यह सम्यग्दर्शन को बताने के लिए मुख्य चिह्न है, इसलिये जिन-भक्ति निरंतर करना और जिन-आज्ञा मानकर आगमोक्त मार्ग में प्रवर्तना यह श्रीगुरु का उपदेश है । अन्य जिन-आज्ञा सिवाय सब कुमार्ग हैं, उनका प्रसंग छोड़ना; इसप्रकार करनेसे आत्म-कल्याण होता है ।

(छप्पय);;जीव सदा चिदभाव एक अविनाशी धारै;;कर्म निमित्तकू पाप अशुद्धभावनि विस्तारै ॥;;कर्म शुभाशुभ बांधि उदै भरमै संसारै;;पावै दुःख अनंत च्यारि गतिमैं डुलि सारै ॥;;सर्वज्ञदेशना पापके तजै भाव मिथ्यात्व जब;;निजशुद्धभाव धरि कर्महरि लहै मोक्ष भरमै न तब ॥

(दोहा);;मंगलमय परमात्मा, शुद्धभाव अविकार;;नमूँ पाय पाऊँ स्वपद, जाचूँ यहै करार ॥

इति श्री कुन्दकुन्द-स्वामि-विरचित भाव-प्राभृत की जयपुर निवासी पं० जयचन्द्रजी छावड़ा कृत देश-भाषामय वचनिका समाप्त ॥५॥

मोक्ष-पाहुड

+ मंगलाचरण और ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा -

**णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण
चइऊण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥१॥**

अन्वयार्थ : [जेण] जिनने [परदव्वं] परद्रव्य को [चइऊण] छोड़कर, [झडियकम्मेण] द्रव्यकर्म, भावकर्म [य] और नोकर्म खिर गये हैं ऐसे होकर, निर्मल [णाणमयं] ज्ञानमयी [अप्पाणं] आत्मा को [उवलद्धं] प्राप्त कर लिया है [तस्स] इस

प्रकार के [देवस्स] देव को हमारा [णमो णमो] नमस्कार हो-नमस्कार हो ।

छाबडा :

यह 'मोक्षपाहुड' का प्रारंभ है । यहाँ जिनने समस्त पर-द्रव्य को छोड़कर कर्म का अभाव करके केवल-ज्ञानानंद-स्वरूप मोक्ष-पद को प्राप्त कर लिया है, उन देव को मंगल के लिये नमस्कार किया यह युक्त है । जहाँ जैसा प्रकरण वहाँ वैसी योग्यता । यहाँ भावमोक्ष तो अरहंत के है और द्रव्य--भाव दोनों प्रकार के मोक्ष सिद्ध परमेष्ठी के हैं, इसलिये दोनों को नमस्कार जानो ॥१॥

+ मंगलाचरण कर ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा -

**णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्धं
वोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥२॥**

अन्वयार्थ : जिनके [अणंतवर] अनन्त और श्रेष्ठ [णाणदंसणं] ज्ञान-दर्शन पाया जाता है, [सुद्धं] विशुद्ध है / कर्म-मल से रहित है, जिनका [परमपयं] पद परम-उत्कृष्ट है, [तं य] उन [देवं] देव को [णमिऊण] नमस्कार कर, [परमप्पाणं] परमात्मा (उत्कृष्ट शुद्धात्मा) को, परम योगीश्वर जो [परमजोईणं] उत्कृष्ट-योग्य ध्यान के करनेवाले मुनिराजों के लिये [वोच्छं] कहूँगा ।

छाबडा :

इस ग्रंथ में मोक्ष को जिस कारण से पावे और जैसा मोक्षपद है वैसा वर्णन करेंगे, इसलिये उस रीति उसी की प्रतिज्ञा की है । योगीश्वरों के लिए कहेंगे, इसका आशय यह है कि ऐसे मोक्षपद को शुद्ध परमात्मा के ध्यान के द्वारा प्राप्त करते हैं, उस ध्यान की योग्यता योगीश्वरों के ही प्रधानरूप से पाई जाती है, गृहस्थों के यह ध्यान प्रधान नहीं है ॥२॥

+ ध्यानी उस परमात्मा का ध्यान कर परम पद को प्राप्त करते हैं -

**जं जाणिऊण जोई जोअत्थो जोइऊण अणवरयं
अव्वाबाहमणंतं अणोवमं लहइ णिव्वाणं ॥३॥**

अन्वयार्थ : [जं] उसे (परमात्मा को) [जाणिऊण] जानकर [जोई] योगी (मुनि) [जोअत्थो] योग (ध्यान) में स्थित होकर [अणवरयं] निरन्तर उस परमात्मा को [जोइऊण] अनुभवगोचर करके [अव्वाबाहमणंतं] अव्याबाध (जहाँ किसी प्रकारकी बाधा नहीं है) अनंत (जिसका नाश नहीं है) [अणोवमं] अनुपम (जिसको किसी की उपमा नहीं लगती है) [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहइ] प्राप्त होता है ।

छाबडा :

यत् ज्ञात्वा योगी योगस्थः दृष्ट्वा अनतवरतम्; अव्याबाधमनंतं अनुपमं लभते निर्वाणम् ॥३॥

आचार्य कहते हैं कि ऐसे परमात्मा को आगे कहेंगे जिसके ध्यान में मुनि निरन्तर अनुभव करके केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त करते हैं । यहाँ यह तात्पर्य है कि परमात्मा के ध्यान से मोक्ष होता है ॥३॥

+ आत्मा के तीन प्रकार -

**तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥४॥**

अन्वयार्थ : [देहीणं] देह में [हु] स्फुट [सो] वह [अप्पा] आत्मा [तिपयारो] तीन प्रकार का है -- [परमंतरबाहिरो] अंतरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा, [तत्थ] वहां [अंतोवाएण] अंतरात्मा के उपाय द्वारा [बहिरप्पा] बहिरात्मपन को [चयहि] छोड़कर [परो] परमात्मा का [झाइज्जइ] ध्यान करना चाहिये ।

छाबडा :

बहिरात्मपन को छोड़कर अंतरात्मा रूप होकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिये, इससे मोक्ष होता है ॥४॥

+ तीन प्रकार के आत्मा का स्वरूप -

अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥५॥

अन्वयार्थ : [अक्खाणि] अक्ष (स्पर्शन आदि इन्द्रियों में लीन उपयोग) वह तो [बाहिरप्पा] बहिरात्मा है, [हु] स्पष्ट-प्रकट [अप्पसंकप्पो] आत्मा का अनुभवगोचर संकल्प [अंतरअप्पा] अंतरात्मा है तथा [कम्मकलंकविमुक्को] कर्म-मल से रहित [परमप्पा] परमात्मा है, वही [देवो] देव [भण्णए] है ।

छाबडा :

बाह्य आत्मा तो इन्द्रियों को कहा तथा अंतरात्मा देह में स्थित देखना--जानना जिसके पाया जाता है ऐसा मन के द्वारा संकल्प है और परमात्मा कर्म-कलंक से रहित कहा । यहाँ ऐसा बताया है कि यह जीव ही जब तक बाह्य शरीरादिक को ही आत्मा जानता है तब तक तो बहिरात्मा है, संसारी है, जब यही जीव अंतरंग में आत्मा को जानता है तब यह सम्यग्दृष्टि होता है, तब अन्तरात्मा है और यह जीव जब परमात्मा के ध्यान से कर्म-कलंक से रहित होता है तब पहिले तो केवलज्ञान प्राप्त कर अरहंत होता है, पीछे सिद्धपद को प्राप्त करता है, इन दोनों ही को परमात्मा कहते हैं । अरहंत तो भाव--कलंक रहित हैं और सिद्ध द्रव्य-भावरूप दोनों ही प्रकार के कलंक से रहित हैं, इसप्रकार जानो ॥५॥

+ परमात्मा का विशेषण द्वारा स्वरूप -

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा परमेट्ठी परमजिणो सिंवकरो सासओ सिद्धो ॥६॥

अन्वयार्थ : [मलरहिओ] मल-रहित (द्रव्य-कर्म, भाव-कर्मरूप मल से रहित), [कलचत्तो] शरीर-रहित, [अणिंदिओ] इन्द्रिय-रहित / अनिंदित, [केवलो] असहाय / केवलज्ञानमयी, [विसुद्धप्पा] विशुद्धात्मा, [परमेट्ठी] परम-पद (मोक्ष-पद) में स्थित, [परमजिणो] सब कर्मों को जीतने वाले, [सिवंकरो] भव्य-जीवों को परम मंगल तथा मोक्ष का कारण, [सासओ] अविनाशी, [सिद्धो] सिद्ध है (परमात्मा ऐसा है) ।

छाबडा :

ऐसा परमात्मा है, जो इस प्रकार के परमात्मा का ध्यान करता है वह ऐसा ही हो जाता है ॥६॥

+ अंतरात्मपन द्वारा बहिरात्मपन को छोड़कर परमात्मा बनो -

आरुहवि अन्तरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥७॥

अन्वयार्थ : [अन्तरप्पा] अन्तरात्मा का [आरुहवि] आश्रय लेकर [बहिरप्पा] बहिरात्मपन को [तिविहेण] मन वचन काय से [छंडिऊण] छोड़कर [परमप्पा] परमात्मा का [झाइज्जइ] ध्यान करो, ऐसा [जिणवरिंदेहिं] जिनवरेन्द्र तीर्थकर परमदेव ने [उवइट्ठं] उपदेश दिया है ।

छाबडा :

परमात्मा के ध्यान करने का उपदेश प्रधान करके कहा है, इसी से मोक्ष पाते हैं ॥७॥

+ बहिरात्मा की प्रवृत्ति -

बहिरत्ये फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूववचुओ णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥८॥

अन्वयार्थ : [बहिरत्ये] बाह्य पदार्थ (धन, धान्य, कुटुम्ब आदि) [फुरियमणो] स्फुरित (तत्पर) मनवाला, [इंदियदारेण] इन्द्रियों के द्वार से [णियसरूववचुओ] अपने स्वरूप से च्युत, [णियदेहं] अपने देह को ही [अप्पाणं] आत्मा [अज्झवसदि] जानता है / निश्चय करता है, वह [मूढदिट्ठीओ] मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है ।

छाबडा :

बहिरर्थे स्फुरितमनाः इन्द्रियद्वारेण निजस्वरूपच्युतः; निजदेहं आत्मानं अध्यवस्यति मूढदृष्टिस्तु ॥८॥

ऐसा बहिरात्मा का भाव है उसको छोड़ना ॥८॥

+ मिथ्यादृष्टि का लक्षण -

णियदेहसरिच्छं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण अच्चेयणं पि गहिय झाइज्जइ परमभावेण ॥९॥

अन्वयार्थ : मिथ्यादृष्टि पुरुष [णियदेहसरिच्छं] अपनी देह के समान [परविग्गहं] दूसरे की देह को [पिच्छिऊण] देख करके यह देह [अच्चेयणं] अचेतन है तो [पि] भी मिथ्याभाव से [परमभावेण] आत्मभाव द्वारा [पयत्तेण] बड़ा यत्न करके पर की आत्मा [गहिय] मानता, [झाइज्जइ] ध्याता है अर्थात् समझता है ।

छाबडा :

बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व-कर्म के उदय से (--उदय के वश होनेसे) मिथ्याभाव है इसलिये वह अपनी देह को आत्मा जानता है, वैसे ही पर की देह अचेतन है तो भी उसको पर की आत्मा मानता है (अर्थात् पर को भी देहात्म-बुद्धि से मान रहा है और ऐसे मिथ्याभाव सहित ध्यान करता है) और उसमें बड़ा यत्न करता है, इसलिये ऐसे भाव को छोड़ना यह तात्पर्य है ॥ ९॥

+ मिथ्यादृष्टि पर में मोह करता है -

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्डए मोहो ॥१०॥

अन्वयार्थ : [य] इस प्रकार [देहेसु] देह में [सपरज्झवसाएणं] स्व-पर के अध्यवसाय (मिथ्या-निश्चय) के द्वारा जिनने [अविदिदत्थमप्पाणं] पदार्थ (आत्मा) का स्वरूप नहीं जाना है ऐसे [मणुयाणं] मनुष्यों के [सुयदाराईविसए] पुत्र, स्त्री आदि विषयों में [मोहो] मोह [वड्डए] प्रवर्तता है ।

छाबडा :

जिन मनुष्योंने जीव--अजीव पदार्थका स्वरूप यथार्थ नहीं जाना उनके देहमें स्वपराध्यवसाय है । अपनी देहको अपनी आत्मा जानते हैं और परकी देहको परकी आत्मा जानते हैं, उनके पुत्र स्त्री आदि कुटुम्बियोंमें मोह (ममत्व) होता है । जब वे जीव--अजीव के स्वरूप को जानें तब देह को अजीव मानें, आत्मा को अमूर्तिक चैतन्य जानें, अपनी आत्मा को अपनी मानें, और पर की आत्मा को पर जानें, तब पर में ममत्व नहीं होता है । इसलिये जीवादिक पदार्थों का स्वरूप अच्छी तरह जानकर मोह नहीं करना यह बतलाया है ॥१०॥

+ मिथ्याज्ञान और मिथ्याभाव से आगामी भव में भी यह मनुष्य देह को चाहता है -

मिच्छाणाणेषु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो मोहोदएण पुणरवि अंगं सं मण्णए मणुओ ॥११॥

अन्वयार्थ : [मणुओ] मनुष्य [मोहोदएण] मोहकर्म के उदय से (उदय के वश होकर) [मिच्छाणाणेषु] मिथ्याज्ञान में [रओ] लीन (मिथ्याचारित्र) [मिच्छाभावेण] मिथ्याभाव से [भाविओ संतो] भाता हुआ [पुणरवि] फिर-फिर (आगामी जन्म में) इस [अंगं सं] देह को अच्छा समझकर [मण्णए] चाहता है ।

छाबडा :

मोहकर्म की प्रकृति मिथ्यात्व के उदय से ज्ञान भी मिथ्या होता है; परद्रव्य को अपना जानता है और उस मिथ्यात्व ही के द्वारा मिथ्या श्रद्धान होता है, उससे निरन्तर परद्रव्य में यह भावना रहती है कि यह मुझे सदा प्राप्त होवे, इससे यह प्राणी आगामी देह को भला जानकर चाहता है ॥११॥

+ देह में निर्मम निर्वाण को पाता है -

जो देहे णिरवेक्खो णिद्धंदो णिम्ममो णिरारंभो आदासहावे सुरतो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥१२॥

अन्वयार्थ : जो [देहे] देह में [णिरवेक्खो] निरपेक्ष (उदासीन) है, [णिद्धंदो] निर्द्वन्द्व (राग-द्वेषरूप इष्ट-अनिष्ट मान्यता से रहित) है, [णिम्ममो] निर्ममत्व (देहादिक में 'यह मेरा' ऐसी बुद्धि से रहित) है, [णिरारंभो] आरंभ (पाप-कार्यों) से रहित है और [आदासहावे] आत्म-स्वभाव में [सुरतः] भली-प्रकार से लीन है, [जोई सो] वह मुनि [लहइ णिव्वाणं] निर्वाण को प्राप्त करता है ।

छाबडा :

यः देहः निरपेक्षः निर्द्वन्द्वः निर्ममः निरारंभः, आत्मस्वभावे सुरतः योगी स लभते निर्वाणम् ॥१२॥

जो बहिरात्मा के भाव को छोड़कर अन्तरात्मा बनकर परमात्मा में लीन होता है वह मोक्ष प्राप्त करता है । यह उपदेश बताया है ॥१२॥

+ बंध और मोक्ष के कारण का संक्षेप -

परदव्वरओ बज्झदि विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं एसो जिणउवदेसो समासदो बंधमुक्खस्स ॥१३॥

अन्वयार्थ : [परदव्वरओ] पर-द्रव्य में रत [विविहकम्मेहिं] अनेक प्रकार के कर्मों से [बज्झदि] बँधता है, और [विरओ] विरत [मुच्चेइ] छूटता है, [एसो] यह [बंधमुक्खस्स] बन्ध और मोक्ष का [समासदो] संक्षेप में [जिणउवदेसो] जिन-देव का उपदेश है ।

छाबडा :

परद्रव्यरतः बध्यते विरतः मुच्यते विविधकर्मभिः, एषः जिनोपदेशः समासतः बंधमोक्षस्य ॥१३॥

बंध-मोक्ष के कारण की कथनी अनेक प्रकार से है उसका यह संक्षेप है :- पर-द्रव्य से लीनता तो बंध का कारण और विरत-भाव मोक्ष का कारण है, इस प्रकार संक्षेप से जिनेन्द्र का उपदेश है ॥१३॥

+ स्वद्रव्य में रत सम्यग्दृष्टि कर्मों का नाश करता है -

सद्ब्वरओ सवणो सम्माइट्टी हवेइ णियमेण सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठकम्माइं ॥१४॥

अन्वयार्थ : [सद्ब्वरओ] स्व-द्रव्य (अपनी आत्मा में) लीन [सवणो] श्रमण (मुनि) [णियमेण] नियम से [सम्माइट्टी] सम्यग्दृष्टि [हवेइ] होता है और [उण] फिर [सम्मत्तपरिणदो] सम्यक्त्वभावरूप परिणमन से [दुट्ठकम्माइं] दुष्ट आठ कर्मों का [खवेइ] क्षय / नाश करता है ।

छाबडा :

स्वद्रव्यरतः श्रमणः सम्यग्दृष्टि भवति नियमेन;;सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षपयति दुष्टाष्टकर्माणि ॥१४॥

यह भी कर्म के नाश करने के कारण का संक्षेप कथन है । जो अपने स्वरूप की श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, आचरण से युक्त है वह नियम से सम्यग्दृष्टि है, इस सम्यक्त्व-भाव से परिणमन करता हुआ मुनि आठ कर्मों का नाश करके निर्वाण को प्राप्त करता है ॥१४॥

+ परद्रव्य में रत मिथ्यादृष्टि कर्मों को बाँधता है -

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्टी हवेइ सो साहू मिच्छत्तपरिणदो पुण बज्झदि दुट्ठकम्मेहिं ॥१५॥

अन्वयार्थ : [पुण] पुनः जो [परदव्वरओ] पर-द्रव्य में लीन है, [सो साहू] वह साधु [मिच्छादिट्टी] मिथ्यादृष्टि [हवेइ] होता है और वह [मिच्छत्तपरिणदो] मिथ्यात्व-भावरूप परिणमन करता हुआ [दुट्ठकम्मेहिं] दुष्ट अष्ट कर्मों से [पुण] फिर से [बज्झदि] बाँधता है ।

छाबडा :

यः पुनः परद्रव्यरतः मिथ्यादृष्टिः भवति सः साधु;;मिथ्यात्वपरिणतः पुनः बध्यते दुष्टाष्टकर्मभिः ॥१५॥

यह बंध के कारण का संक्षेप है । यहाँ साधु कहने से ऐसा बताया है कि जो बाह्य परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ हो जावे तो भी मिथ्यादृष्टि होता हुआ संसार के दुःख देनेवाले अष्ट कर्मों से बाँधता है ॥१५॥

+ पर-द्रव्य से दुर्गति और स्व-द्रव्य से ही सुगति होती है -

परदव्वादो दुग्गई सदव्वादो हु सुग्गई होइ इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरह इयरम्मि ॥१६॥

अन्वयार्थ : [परदव्वादो] पर-द्रव्य से [दुग्गई] दुर्गति [हु] ही [होइ] होती है और [सदव्वादो] स्व-द्रव्य से [सुग्गई] सुगति ही होती है [इय] ऐसा [णाऊण] जानकर [सदव्वे] स्व-द्रव्य में [रई] रति / लीनता [कुणह] करो और [इयरम्मि] अन्य जो पर-द्रव्य उनसे [विरह] विरति करो ।

छाबडा :

लोक में भी यह रीति है कि अपने द्रव्य से रति करके अपना ही भोगता है वह तो सुख पाता है, उस पर कुछ आपत्ति नहीं आती है और पर-द्रव्य से प्रीति करके चाहे जैसे लेकर भोगता है उसको दुःख होता है, आपत्ति उठानी पड़ती है । इसलिये आचार्य ने संक्षेप में उपदेश दिया है कि अपने आत्म-स्वभाव में रति करो इससे सुगति है, स्वर्गादिक भी इसी से होते हैं और मोक्ष भी इसी से होता है और पर-द्रव्य से प्रीति मत करो इससे दुर्गति होती है, संसार में भ्रमण होता है ।

यहाँ कोई कहता है कि स्व-द्रव्य में लीन होने से मोक्ष होता है और सुगति--दुर्गति तो पर-द्रव्य की प्रीति से होती है ? उसको

कहते हैं कि-यह सत्य है परन्तु यहाँ इस आशय से कहा है कि पर-द्रव्य से विरक्त होकर स्व-द्रव्य में लीन होवे तब विशुद्धता बहुत होती है, उस विशुद्धता के निमित्त से शुभ-कर्म भी बँधते हैं और जब अत्यंत विशुद्धता होती है तब कर्मों की निर्जरा होकर मोक्ष होता है, इसलिये सुगति--दुर्गति का होना कहा वह युक्त है, इसप्रकार जानना चाहिये ॥१६॥

+ पर-द्रव्य का स्वरूप -

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरिसीहिं ॥१७॥

अन्वयार्थ : [आदसहावादण्णं] आत्म-स्वभाव से अन्य [सच्चित्ताचित्तमिस्सियं] सचित्त (स्त्री, पुत्रादिक), अचित्त (धन, धान्य, सुवर्णादिक) और मिश्र (आभूषणादि सहित मनुष्य तथा कुटुम्ब सहित गृहादिक) [हवदि] होते हैं, [तं] ये सब [परदव्वं] परद्रव्य [भणियं] जानो, ऐसा [सव्वदरिसीहिं] सर्वदर्शी सर्वज्ञ भगवान ने [अवितत्थं] सत्यार्थ कहा है ।

छाबडा :

आत्मस्वभावादन्यत् सच्चित्ताचित्तमिश्रितं भवति;;तत् परद्रव्यं भणितं अवितत्थं सर्वदर्शिभिः ॥१७॥

अपने ज्ञान-स्वरूप आत्मा सिवाय अन्य चेतन, अचेतन, मिश्र वस्तु हैं वे सब ही पर-द्रव्य हैं, इसप्रकार अज्ञानी को समझाने के लिये सर्वज्ञ-देव ने कहा है ॥१७॥

+ स्व-द्रव्य (आत्म-स्वभाव) ऐसा होता है -

दुट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणां हवदि सद्व्वं ॥१८॥

अन्वयार्थ : [दुट्ठकम्मरहियं] ज्ञानावरणादिक दुष्ट अष्ट-कर्मों से रहित, [अणोवमं] जिसको किसी की अपेक्षा नहीं ऐसा अनुपम, [णाणविग्गहं] जिसको ज्ञान ही शरीर है और [णिच्चं] जिसका नाश नहीं है ऐसा अविनाशी नित्य है और [सुद्धं] विकार-रहित केवलज्ञानमयी [अप्पाणां] आत्मा [जिणेहिं] जिन भगवान् सर्वज्ञ ने [कहियं] कहा है, वह ही [सद्व्वं] स्व-द्रव्य [हवदि] होता है ।

छाबडा :

दुष्टाष्टकर्मरहितं अनुपमं ज्ञानविग्रहं नित्यम्;;शुद्धं जिनैः भणितं आत्मा भवति स्वद्रव्यम् ॥१८॥

ज्ञानानन्दमय, अमूर्तिक, ज्ञानमूर्ति अपनी आत्मा है वही एक स्व-द्रव्य है, अन्य सब चेतन, अचेतन, मिश्र परद्रव्य हैं ॥१८॥

+ ऐसे निज-द्रव्य के ध्यान से निर्वाण -

जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरिता जे जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहहिं णिव्वाणं ॥१९॥

अन्वयार्थ : [जे] जो (मुनि) [परदव्वपरम्मुहा] पर-द्रव्य में पराङ्मुख होकर [सदव्वं] स्व-द्रव्य (निज आत्म-द्रव्य) का [झायंति] ध्यान करते हैं वे [दु] प्रगट [सुचरिता] सुचरित्रा अर्थात् निर्दोष चारित्र-युक्त होते हुए [जिणवराण] जिनवर तीर्थकरों के [मग्गे] मार्ग का [अणुलग्गा] अनुलग्न (अनुसंधान / अनुसरण) करते हुए [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहहिं] प्राप्त करते हैं ।

छाबडा :

ये ध्यायन्ति स्वद्रव्यं परद्रव्यं पराङ्मुखास्तु सुचरित्राः; ते जिनवराणां मार्गे अनुलग्नाः लभते निर्वाणम् ॥१९॥

पर-द्रव्य का त्याग कर जो अपने स्वरूप का ध्यान करते हैं वे निश्चय-चारित्ररूप होकर जिनमार्ग में लगते हैं, वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥१९॥

+ शुद्धात्मा के ध्यान से स्वर्ग की भी प्राप्ति -

**जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं ॥२०॥**

अन्वयार्थ : जो [जोई] योगी [जिणवरमएण] जिनेन्द्र-भगवान के मत से [सुद्धमप्पाणं] शुद्ध आत्मा को [झाणे] ध्यान में [झाएइ] ध्याता है [जेण] उससे [णिव्वाणं] निर्वाण को [लहइ] प्राप्त करता है, तो [तेण] वे [किं] क्या [सुरलोयं] स्वर्ग-लोक [ण] नहीं [लहइ] प्राप्त कर सकते हैं ? ॥२०॥

छाबडा :

जिनवरमतेन योगी ध्याने ध्यायति शुद्धमात्मानम्;; येन लभते निर्वाणं न लभते किं तेन सुरलोकम् ॥२०॥

कोई जानता होगा कि जो जिनमार्ग में लगकर आत्मा का ध्यान करता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है और स्वर्ग तो इससे होता नहीं है, उसको कहा है कि जिनमार्ग में प्रवर्तनेवाला शुद्ध आत्मा का ध्यान कर मोक्ष प्राप्त करता ही है, तो उसमें स्वर्गलोक क्या कठिन है ? यह तो उसके मार्ग में ही है ॥२०॥

+ दृष्टान्त -

**जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं
सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाउ भुवणयले ॥२१॥**

अन्वयार्थ : जो (पुरुष) [गुरुभारं] बड़ा भार [लेवि] लेकर [दियहेणेक्केण] एक दिन में [जोयणसयं] सौ योजन चला [जाइ] जावे [सो किं] तब क्या वह [भुवणयले] पृथ्वी-तल पर [कोसद्धं] आधा कोश [पि हु] भी [ण] नहीं [जाउ] चल [सक्कए] सकता ?

छाबडा :

यः याति योजनशतं दिवसेनैकेन लात्वा गुरुभारम्;; स किं क्रोशार्द्धमपि स्फुटं न शक्नोति यातुं भुवनतले ॥२१॥

जो पुरुष बड़ा भार लेकर एक दिन में सौ योजन चले उसके आधा कोश चलना तो अत्यंत सुगम हुआ, ऐसे ही जिनमार्ग में मोक्ष पावे तो स्वर्ग पाना तो अत्यंत सुगम है ॥२१॥

+ अन्य दृष्टान्त -

**जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहिं
सो किं जिप्पइ इक्किं णरेण संगामए सुहडो ॥२२॥**

अन्वयार्थ : जो कोई [सुहडो] सुभट [सव्वेहिं] सब ही [संगामएहिं] संग्राम में [कोडिए] करोड़ मनुष्यों से भी [ण] न [जिप्पइ] जीता जाय [सो] वह [सुहडो] सुभट [इक्किं णरेण] एक मनुष्य को [संगामए] संग्राम में [किं] क्या न [जिप्पइ] जीते ?

छाबडा :

यः कोट्या न जीयते सुभटः संग्रामकैः सर्वैः; स किं जीयते एकेन नरेण संग्रामे सुभटः ॥२२॥

जो जिनमार्ग में प्रवर्ते वह कर्म का नाश करे ही, तो क्या स्वर्ग के रोकने वाले एक पाप-कर्म का नाश न करे ? अवश्य ही करे ॥२२॥

+ ध्यान के योग से स्वर्ग / मोक्ष की प्राप्ति -

**सगं तवेण सव्वो वि पावए तहिं वि ज्ञाणजोएण
जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं ॥२३॥**

अन्वयार्थ : [तवेण] तप द्वारा [सगं] स्वर्ग तो [सव्वो वि] सब ही [पावए] पाते हैं [तहिं वि] तथापि जो [ज्ञाणजोएण] ध्यान के योग से [जो पावइ] जो (स्वर्ग) पाते हैं [सो] वे ही [परलोए] परलोक में [सासयं] शाश्वत [सोक्खं] सुख को भी [पावइ] प्राप्त करते हैं ।

छाबडा :

स्वर्ग तपसा सर्वः अपि प्राप्नोति किन्तु ध्यानयोगेन; यः प्राप्नोति सः प्राप्नोति परलोके शाश्वतं सौख्यम् ॥२३॥

कायक्लेशादिक तप तो सब ही मत के धारक करते हैं, वे तपस्वी मंद-कषाय के निमित्त से सब ही स्वर्ग को प्राप्त करते हैं, परन्तु जो ध्यान के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करते हैं वे जिन-मार्ग में कहे हुए ध्यान के योग से परलोक में, जिसमें शाश्वत सुख है ऐसे, निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥२३॥

+ दृष्टान्त / दार्ष्टान्त -

**अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥२४॥**

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [अइसोहणजोएणं] शुद्ध-सामग्री के संबंध से [सुद्धं हेमं] सुवर्ण शुद्ध [हवेइ] हो जाता है [तह य] वैसे ही [कालाईलद्धीए] काल-लब्धि आदि सामग्री की प्राप्ति से यह [अप्पा] आत्मा [परमप्पओ] परमात्मा [हवदि] हो जाता है ।

छाबडा :

अतिशोभनयोगेन शुद्धं हेमं भवति यथा तथा च; कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति ॥२४॥

+ अव्रतादिक श्रेष्ठ नहीं है -

**वर वयतवेहि सगो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥२५॥**

अन्वयार्थ : [वयतवेहि] व्रत और तप से [सगो] स्वर्ग [वर] होता है परन्तु [इयरेहिं] अव्रत और अतप से [णिरइ] नारकीय [दुक्खं] दुःख [होउ] होता है, [छायातवट्ठियाणं] छाया और आतप में बैठनेवाले के [पडिवालंताण] प्रतिपालक कारणों में [गुरुभेयं] बड़ा भेद है ।

छाबडा :

वर व्रततपोभिः स्वर्गः मा दुःखं भवतु नरके इतरैः, छायातपस्थितानां प्रतिपालयतां गुरुभेदः ॥२५॥

जैसे छाया का कारण तो वृक्षादिक हैं उनकी छाया में जो बैठे वह सुख पावे और आताप का कारण सूर्य, अग्नि आदिक हैं इनके निमित्त से आताप होता है, जो उसमें बैठता है व दुख को प्राप्त करता है, इसप्रकार इनमें बड़ा भेद है; इसप्रकार ही जो व्रत, तप का आचरण करता है वह स्वर्ग के सुख को प्राप्त करता है और जो इनका आचरण नहीं करता है, विषय-कषायादिक का सेवन करता है वह नरक के दुःख को प्राप्त करता है, इसप्रकार इनमें बड़ा भेद है । इसलिये यहाँ कहने का यह आशय है कि जब तक निर्वाण न हो तबतक व्रत-तप आदिक में प्रवर्तना श्रेष्ठ है, इससे सांसारिक सुख की प्राप्ति है और निर्वाण के साधन में भी ये सहकारी हैं । विषय-कषायादिक की प्रवृत्ति का फल तो केवल नरकादिक के दुःख हैं, उन दुःखों के कारणों का सेवन करना यह तो बड़ी भूल है, इसप्रकार जानना चाहिये ॥२५॥

+ संसार से निकलने के लिए आत्मा का ध्यान करे -

**जो इच्छइ णिस्सरिटुं संसारमहण्णवाउ रुद्धाओ
कम्मिंधणाण डहणं सो ज्ञायइ अप्पयं सुद्धं ॥२६॥**

अन्वयार्थ : [जो] यदि [रुद्धाओ] भीषण [संसारमहण्णवाउ] संसाररूपी समुद्र से [णिस्सरिटुं] निकलना [इच्छइ] चाहता है [सो] तो [कम्मिंधणाण] कर्मरूपी ईंधन को [डहणं] दहन करनेवाले [अप्पयं सुद्धं] शुद्ध आत्मा का [ज्ञायइ] ध्यान करे ।

छाबडा :

यः इच्छति निःसर्तुं संसारमहार्णवात् रुद्रात्; कर्मन्धनानां दहनं सः ध्यायति आत्मानं शुद्धम् ॥२६॥

निर्वाण की प्राप्ति कर्म का नाश हो तब होती है और कर्म का नाश शुद्धात्मा के ध्यान से होता है अतः जो संसार से निकलकर मोक्ष को चाहे वह शुद्ध-आत्मा जो कि-कर्ममल से रहित अनन्त-चतुष्टय सहित (निज निश्चय) परमात्मा है, उसका ध्यान करता है । मोक्ष का उपाय इसके बिना अन्य नहीं है ॥२६॥

+ आत्मा का ध्यान करने की विधि -

**सव्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं
लोयववहारविरदो अप्पा ज्ञाएह ज्ञाणत्थो ॥२७॥**

अन्वयार्थ : [सव्वे] समस्त [कसाय] कषाय [गारव] गारव, [मय] मद, [रायदोसवामोहं] राग, द्वेष तथा मोह से [मोत्तुं] मुक्त होकर और [लोयववहारविरदो] लोक-व्यवहार से विरक्त होकर [ज्ञाणत्थो] ध्यान में स्थित हुआ [अप्पा] आत्मा को [ज्ञाएह] ध्याओ ।

छाबडा :

सर्वान् कषायान् मुक्त्वा गारवमदरागदोषव्यामोहम्; लोकव्यवहारविरतः आत्मानं ध्यायति ध्यानस्थः ॥२७॥

मुनि आत्मा का ध्यान ऐसा होकर करे -- प्रथम तो क्रोध, मान, माया, लोभ इन सब कषायों को छोड़े, गारव को छोड़े, मद जाति आदि के भेद से आठ प्रकार का है उसको छोड़े, रागद्वेष छोड़े और लोक-व्यवहार जो संघ में रहने में परस्पर विनयाचार, वैयावृत्य, धर्मोपदेश, पढ़ना, पढ़ाना है उसको भी छोड़े, ध्यान में स्थित हो जावे, इसप्रकार आत्मा का ध्यान करे ।

यहाँ कोई पूछे कि सब कषायों का छोड़ना कहा है उसमें तो सब गारव मदादिक आ गये फिर इनको भिन्न भिन्न क्यों कहे ? उसका समाधान इसप्रकार है कि ये सब कषायों में तो गर्हित हैं किन्तु विशेषरूप से बतलाने के लिए भिन्न भिन्न कहे हैं ।

कषाय की प्रवृत्ति इसप्रकार है -- जो अपने लिये अनिष्ट हो उससे क्रोध करे, अन्य को नीचा मानकर मान करे, किसी कार्य निमित्त कपट करे, आहारादिक में लोभ करे । यह गारव है वह रस, ऋद्धि और सात, ऐसे तीन प्रकार का है ये यद्यपि मान-कषाय में गर्भित हैं तो भी प्रमाद की बहुलता इनमें है, इसलिये भिन्न-रूप से कहे हैं ।

मद -- जाति, लाभ, कुल, रूप, तप, बल, विद्या, ऐश्वर्य इनका होता है, वह न करे । राग-द्वेष प्रीति-अप्रीति को कहते हैं, किसी से प्रीति करना, किसी से अप्रीति करना, इसप्रकार लक्षण के भेद से भेद करके कहा । मोह नाम पर से ममत्व-भाव का है, संसार का ममत्व तो मुनि के है ही नहीं, परन्तु धर्मानुराग से शिष्य आदि में ममत्व का व्यवहार है, वह भी छोड़े । इसप्रकार भेद-विवक्षा से भिन्न भिन्न कहे हैं, ये ध्यान के घातक भाव हैं, इनको छोड़े बिना ध्यान होता नहीं है इसलिये जैसे ध्यान हो वैसे करे ॥२७॥

+ इसी को विशेषरूप से कहते हैं -

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥२८॥

अन्वयार्थ : [मिच्छत्तं] मिथ्यात्व, [अण्णाणं] अज्ञान, [पावं पुण्णं] पाप-पुण्य इनको [तिविहेण] मन-वचन-काय से [चएवि] छोड़कर [मोणव्वएण] मौन-व्रत के द्वारा [जोई] योगी [जोयत्थो] एकाग्र-चित्त होकर (आठ प्रकार के योग द्वारा ?) [जोयए अप्पा] आत्मा का ध्यान करना चाहिए ।

छाबडा :

मिथ्यात्वं अज्ञानं पापं पुण्यं त्यक्त्वा त्रिविधेन;;मौनव्रतेन योगी योगस्थः द्योतयति आत्मानम् ॥२८॥

कई अन्यमती योगी ध्यानी कहलाते हैं, इसलिये जैन-लिंगी भी किसी द्रव्य-लिंगी के धारण करने से ध्यानी माना जाय तो उसके निषेध के निमित्त इसप्रकार कहा है कि -- मिथ्यात्व और अज्ञान को छोड़कर आत्मा के स्वरूप को यथार्थ जानकर सम्यक्-श्रद्धान तो जिसने नहीं किया उसके मिथ्यात्व-अज्ञान तो लगा रहा तब ध्यान किसका हो तथा पुण्य-पाप दोनों बंध-स्वरूप हैं इनमें प्रीति-अप्रीति रहती है, जब तक मोक्ष का स्वरूप भी जाना नहीं है तब ध्यान किसका हो और (--सम्यक् प्रकार स्वरूपगुप्त स्वअस्तिमें ठहरकर) मन वचन की प्रवृत्ति छोड़कर मौन न करे तो एकाग्रता कैसे हो ? इसलिये मिथ्यात्व, अज्ञान, पुण्य, पाप, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति छोड़ना ही ध्यान में युक्त कहा है; इसप्रकार आत्मा का ध्यान करने से मोक्ष होता है ॥२८॥

+ क्या विचारकर ध्यान करनेवाला मौन धारण करता है ? -

जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा जाणगं दिस्सदे णेव तम्हा जंपेमि केण हं ॥२९॥

अन्वयार्थ : [जं] जिस [रूवं] रूप को [मया] मैं [दिस्सदे] देखता हूँ [तं] वह [सव्वहा] सब प्रकार से कुछ भी [ण] नहीं [जाणादि] जानता है (रूप मूर्तिक वस्तु है, जड़ है, अचेतन है) और [जाणगं] ज्ञायक (जानने वाला) [दिस्सदे णेव] दीखता नहीं [तम्हा] इसलिये [हं] मैं [केण] किससे [जंपेमि] बोलूँ ?

छाबडा :

यत् मया दृश्यते रूपं तत् न जानाति सर्वथा;;ज्ञायकं दृश्यते न तत् तस्मात् जल्पामि केन अहम् ॥२९॥

यदि दूसरा कोई परस्पर बात करनेवाला हो तब परस्पर बोलना संभव है, किन्तु आत्मा तो अमूर्तिक है उसको वचन बोलना नहीं है और जो रूपी पुद्गल है वह अचेतन है, किसी को जानता नहीं देखता नहीं । इसलिये ध्यान करनेवाला कहता है कि- मैं किससे बोलूँ ? इसलिये मेरे मौन है ॥२९॥

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥३०॥

अन्वयार्थ : [जोयत्थो] योग में स्थित होकर (आठ-प्रकार के योग द्वारा?) [सव्वासवणिरोहेण] समस्त आस्रव का निरोध करके [संचिदं] संचित [कम्मं] कर्मों का [खवदि] क्षय करता है, उसे [जोई] योगी [जाणए] जानो, [जिणदेवेण भासियं] ऐसा जिनदेव ने कहा है ।

छाबडा :

सर्वास्रवनिरोधेन कर्म क्षपयति संचितम्;;योगस्थः जानाति योगी जिनदेवेन भाषितम् ॥३०॥

ध्यान से कर्म का आस्रव रुकता है इससे आगामी बंध नहीं होता है और पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है तब केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष प्राप्त होता है, यह आत्मा के ध्यान का माहात्म्य है ॥३०॥

+ जो व्यवहार में तत्पर है उसके यह ध्यान नहीं -

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥३१॥ इस जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेहिं ॥३२॥

अन्वयार्थ : जो [ववहारे] व्यवहार में [सुत्तो] सोता है [सो जोई] वह योगी [सकज्जम्मि] स्व के कार्य में [जग्गए] जागता है और जो [ववहारे] व्यवहार में [जग्गदि] जागता है [सो] वह अपने [अप्पणो कज्जे] आत्म-कार्य में [सुत्तो] सोता है । [इस] ऐसा [जाणिऊण] जानकर [जोई] योगी (मुनि) [सव्वं] समस्त [ववहारं] व्यवहार को [सव्वहा] सब प्रकार से [चयइ] छोड़कर [जह] जैसे [जिणवरिंदेहिं] जिनवरेन्द्र ने [भणियं] कहा, वैसे [परमप्पाणं] परमात्मा का [झायइ] ध्यान करता है ।

छाबडा :

यः सुप्तः व्यवहारे सः योगी जागर्ति स्वकार्ये;;यः जागर्ति व्यवहारे सः सुप्तः आत्मनः कार्ये ॥३१॥;;इति ज्ञात्वा योगी व्यवहारं त्यजति सर्वथा सर्वम्;;ध्यायति परमात्मानं यथा भणितं जिनवरेन्द्रैः ॥३२॥

मुनि के संसारी व्यवहार तो कुछ है नहीं और यदि है तो मुनि कैसा ? वह तो पाखंडी है । धर्म का व्यवहार संघ में रहना, महाव्रतादिक पालना-ऐसे व्यवहारमें भी तत्पर नहीं है; सब प्रवृत्तियों की निवृत्ति करके ध्यान करता है वह व्यवहार में सोता हुआ कहलाता है और अपने आत्म-स्वरूप में लीन होकर देखता है, जानता है वह अपना आत्म-कार्य में जागता है । परन्तु जो इस व्यवहार में तत्पर है-सावधान है, स्वरूप की दृष्टि नहीं है वह व्यवहार में जागता हुआ कहलाता है ॥३१॥

सर्वथा सर्व व्यवहार को छोड़ना कहा, उसका आशय इस प्रकार है कि लोक-व्यवहार तथा धर्म-व्यवहार सब ही छोड़ने पर ध्यान होता है इसलिये जैसे जिनदेव ने कहा है वैसे ही परमात्मा का ध्यान करना । अन्यमती परमात्मा का स्वरूप अनेक प्रकार से अन्यथा कहते हैं, उसके ध्यान का भी वे अन्यथा उपदेश करते हैं, उसका निषेध किया है । जिनदेव ने परमात्मा का तथा ध्यान का स्वरूप कहा वह सत्यार्थ है, प्रमाणभूत है वैसे ही जो योगीश्वर करते हैं वे ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥ ३२॥

+ जिनदेवने द्वारा ध्यान अध्ययन में प्रवृत्ति की प्रेरणा -

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह ॥३३॥

अन्वयार्थ : [पंचमहव्वय] पाँच महाव्रत, [पंचसु समिदीसु] पाँच समिति, [तीसु गुत्तीसु] तीन गुप्ति [जुत्तो] युक्त, [रयणत्तयसंजुत्तो] रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) संयुक्त होकर [झाणज्झयणं] ध्यान और अध्ययन [सया] सदा [कुणह] करो ।

छाबडा :

पंचमहाव्रतयुक्तः पंचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु;;रत्नत्रयसंयुक्तः ध्यानाध्ययनं सदा कुरु ॥३३॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग ये पाँच महाव्रत, ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण प्रतिष्ठापना ये पाँच समिति और मन, वचन कायके निग्रहरूप तीन गुप्ति-यह तेरह प्रकार का चारित्र जिनदेवने कहा है उसमें युक्त हो और निश्चय-व्यवहाररूप, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहा है इनसे युक्त होकर ध्यान और अध्ययन करने का उपदेश है । इनमें भी प्रधान तो ध्यान ही है और यदि इसमें मन न रुके तो शास्त्रके अभ्यासमें मनको लगावे यह भी ध्यानतुल्य ही है, क्योंकि शास्त्रमें परमात्माके स्वरूप का निर्णय है सो यह ध्यानका ही अंग है ॥३३॥

+ जो रत्नत्रय की आराधना करता है वह जीव आराधक ही है -

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥३४॥

अन्वयार्थ : [रयणत्तयमाराहं] रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की आराधना करते हुए [जीवो] जीव को [आराहओ] आराधक [मुणेयव्वो] जानो, [तस्स] जिस [आराहणाविहाणं] आराधना के विधान (निर्माण) का [फलं] फल [केवलं णाणं] केवलज्ञान है ।

छाबडा :

रत्नत्रयमाराधयन् जीवः आराधकः ज्ञातव्यः;;आराधनाविधानं तस्य फलं केवलं ज्ञानम् ॥३४॥

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी आराधना करता है वह केवलज्ञानको प्राप्त करता है वह जिनमार्ग में प्रसिद्ध है ॥३४॥

+ शुद्धात्मा केवलज्ञान है और केवलज्ञान शुद्धात्मा है -

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरिसी य सो जिणवरेहिं भणिओ जाण तुमं केवलं णाणं ॥३५॥

अन्वयार्थ : [आदा] आत्मा [सिद्धो] सिद्ध (किसी से उत्पन्न नहीं, स्वयंसिद्ध) है, [सुद्धो] शुद्ध (कर्म-मल से रहित) है, [सव्वण्हू] सर्वज्ञ है [य] और [सव्वलोयदरिसी] सर्वदर्शी (सब लोक-अलोक को देखने वाला) है, [सो] इसप्रकार [तुमं] हे मुने ! तुम उसे [केवलं णाणं] केवलज्ञान [जाण] जान, ऐसा [जिणवरेहिं भणिओ] जेनेन्द्र देव ने कहा है ॥३५॥

छाबडा :

सिद्धः शुद्धः आत्मा सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शी च;;सः जिनवरैः भणितः जानीहि त्वं केवलं ज्ञानं ॥३५॥

आत्मा जिनवर सर्वज्ञदेवने ऐसा कहा है, कैसा है ?

1. सिद्ध है -- किसीसे उत्पन्न नहीं हुआ है स्वयंसिद्ध है,
2. शुद्ध है -- कर्ममलसे रहित है,
3. सर्वज्ञ है -- सब लोकालोक को जानता है और
4. सर्वदर्शी है -- सब लोक-अलोकको देखता है,

इसप्रकार आत्मा है वह हे मुने ! उस ही को तू केवलज्ञान जान अथवा उस केवलज्ञान ही को आत्मा जान ! आत्मा में और ज्ञान में कुछ प्रदेशभेद नहीं है, गुण-गुणी भेद है वह गौण है । यह आराधना का फल पहिले केवलज्ञान कहा, वही है ॥३५॥

+ रत्नत्रय का आराधक ही आत्मा का ध्यान करता है -

**रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण
सो झायदि अप्पाणं परिहरइ परं ण संदेहो ॥३६॥**

अन्वयार्थ : जो [पि] भी [जोई] योगी (मुनि) [जिणवरमएण] जिनेश्वर-देव के मत की आज्ञा से [रयणत्तयं] रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) की [हु] निश्चय से [आराहइ] आराधना करता है [सो] वह [अप्पाणं] आत्मा के [झायदि] ध्यान से [परं] पर-द्रव्य को [परिहरइ] छोड़ता है इसमें [ण संदेहो] सन्देह नहीं है ।

छाबडा :

रत्नत्रयमपि योगी आराधयति यः स्फुटं जिनवरमतेन; सः ध्यायति आत्मानं परिहरति परं न सन्देहः ॥३६॥

+ आत्मा में रत्नत्रय कैसे है ? -

**जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दसणं णेयं
तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥३७॥
तच्चरुई सम्मत्तं तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं
चारित्तं परिहारो परूवियं जिणवरिंदेहिं ॥३८॥**

अन्वयार्थ : [जं जाणइ] जो जाने [तं णाणं] वह ज्ञान है [च] और [जं पिच्छइ] जो देखे [तं] वह [दसणं] दर्शन [णेयं] जानो और जो [पुण्णपावाणं] पुण्य तथा पाप का [परिहारो] परिहार है [तं] वह [चारित्तं] चारित्र [भणियं] जानो । [तच्चरुई] तत्त्वरुचि [सम्मत्तं] सम्यक्त्व है [च] और [तच्चग्गहणं] तत्त्व का ग्रहण [सण्णाणं] सम्यग्ज्ञान [हवइ] है, [परिहारो] परिहार [चारित्तं] चारित्र है, ऐसा [जिणवरिंदेहिं] जिनवरेन्द्र ने [परूवियं] कहा है ।

छाबडा :

यत् जानाति तत् ज्ञानं यत्पश्यति तच्च दर्शनं ज्ञेयम्; तत् चारित्रं भणितं परिहारः पुण्यपापानाम् ॥३७॥; तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्त्वग्रहणं च भवति संज्ञानम्; चारित्रं परिहारः प्रजल्पितं जिनवरेन्द्रैः ॥३८॥

यहाँ जाननेवाला तथा देखनेवाला और त्यागनेवाला दर्शन, ज्ञान, चारित्र को कहा ये तो गुणी के गुण हैं, ये कर्त्ता नहीं होते हैं इसलिये जानन, देखन, त्यागन क्रिया का कर्त्ता आत्मा है, इसलिये ये तीनों आत्मा ही है, गुण-गुणी में कोई प्रदेशभेद नहीं होता है । इसप्रकार रत्नत्रय है वह आत्मा ही है, इस प्रकार जानना ॥३७॥

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन तत्त्वों का श्रद्धान रुचि प्रतीति सम्यग्दर्शन है, इनही को जानना सम्यग्ज्ञान है और परद्रव्यके परिहार संबंधी क्रिया की निवृत्ति चारित्र है; इसप्रकार जिनेश्वरदेव ने कहा है, इनको निश्चय-व्यवहारनय से आगम के अनुसार साधना ॥३८॥

+ सम्यग्दर्शन को प्रधान कर कहते हैं -

दंसणसुद्धो सुद्धो दंसणसुद्धो, लहेइ णिब्वाणं दंसणविहीणपुरिसो ण लहइ तं इच्छियं लाहं ॥३९॥ इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु तं सम्मत्तं भणियं सवणाणं सावयाणं पि ॥४०॥

अन्वयार्थ : [दंसणसुद्धो] दर्शन से शुद्ध [सुद्धो] शुद्ध है, जिसका [दंसणसुद्धो] दर्शन शुद्ध है वही [णिब्वाणं] निर्वाण को [लहेइ] पाता है और [तं] जो [दंसणविहीणपुरिसो] सम्यग्दर्शन से रहित पुरुष [इच्छियं लाहं] ईप्सित लाभ (मोक्ष) को [लहइ] प्राप्त [ण] नहीं करता ।

[इय] इस प्रकार [उवएसं] उपदेश का [सारं] सार है, जो [खु] स्पष्ट रूप से [जरमरणहरं] जरा व मरण को हरनेवाला है, [सवणाणं] मुनियों को [पि] तथा [सावयाणं] श्रावकों द्वारा ऐसा [मण्णए] मानना ही [सम्मत्तं] सम्यक्त्व [भणियं] कहा है ।

छाबडा :

दर्शनशुद्धः शुद्धः दर्शनशुद्धः लभते निर्वाणम्;;दर्शनविहीनपुरुषः न लभते तं इष्टं लाभम् ॥३९॥;;इति उपदेशं सारं
जरामरणहरं स्फुटं मन्यते यत्तु;;तत् सम्यक्त्वं भणितं श्रमणानां श्रावकाणामपि ॥४०॥

लोक में प्रसिद्ध है कि कोई पुरुष कोई वस्तु चाहे और उसकी रुचि प्रतीति श्रद्धा न हो तो उसकी प्राप्ति नहीं होती है, इसलिये सम्यग्दर्शन ही निर्वाण की प्राप्ति में प्रधान है ॥३९॥

जीव के जितने भाव हैं उनमें सम्यग्दर्शन--ज्ञान--चारित्र सार हैं उत्तम हैं, जीव के हित हैं, और इनमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है क्योंकि इसके बिना ज्ञान, चारित्र भी मिथ्या कहलाते हैं, इसलिये सम्यग्दर्शन को प्रधान जानकर पहिले अंगीकार करना, यह उपदेश मुनि तथा श्रावक सभीको है ॥४०॥

+ सम्यग्ज्ञान का स्वरूप -

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं ॥४१॥

अन्वयार्थ : [जिणवरमएण] जिनवर के मत द्वारा जो [जोई] योगी मुनि [जीवाजीवविहत्ती] जीव-अजीव के भेद [जाणेइ] जानना, [तं] वह [सण्णाणं] सम्यग्ज्ञान [भणियं] है ऐसा [सव्वदरसीहिं] सर्वदर्शी (सर्वज्ञदेव) ने [अवियत्थं] कहा है ।

छाबडा :

जीवाजीवविभक्तिं योगी जानाति जिनवरमतेन;;तत् संज्ञानं भणितं अवितथं सर्वदर्शिभिः ॥४१॥

सर्वज्ञदेव ने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये जाति अपेक्षा छह द्रव्य कहे हैं । (संख्या अपेक्षा एक, एक, असंख्य और अनंतानंत हैं ।) इनमें

- जीव को दर्शन-ज्ञानमयी चेतना-स्वरूप कहा है, यह सदा अमूर्तिक है अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्णसे रहित है ।
- पुद्गल आदि पाँच द्रव्यों को अजीव कहे हैं ये अचेतन हैं--जड़ हैं । इनमें
 - पुद्गल स्पर्श, रस, गंध, वर्ण शब्द सहित मूर्तिक (रूपी) है, इन्द्रियगोचर है,
 - अन्य अमूर्तिक हैं ।
 - आकाश आदि चार तो जैसे हैं वैसे ही रहते हैं ।

जीव और पुद्गल के अनादि संबंध है । छद्मस्थ के इन्द्रिय-गोचर पुद्गल-स्कंध हैं उनको ग्रहण करके जीव राग-द्वेष-मोहरूप परिणमन करता है शरीरादि को अपना मानता है तथा इष्ट-अनिष्ट मानकर राग-द्वेषरूप होता है इससे नवीन पुद्गल कर्मरूप होकर बंध को प्राप्त होता है, यह निमित्त-नैमित्तिक भाव है, इसप्रकार यह जीव अज्ञानी होता हुआ जीव-पुद्गल के

भेद को न जानकर मिथ्याज्ञानी होता है । इसलिये आचार्य कहते हैं कि जिनदेव के मत से जीव-अजीव का भेद जानकर सम्यग्दर्शन का स्वरूप जानना । इस प्रकार जिनदेवने कहा वह ही सत्यार्थ है, प्रमाण-नय के द्वारा ऐसे ही सिद्ध होता है इसलिये जिनदेव सर्वज्ञ ने सब वस्तु को प्रत्यक्ष देखकर कहा है ।

अन्यमती छद्मस्थ हैं, इन्होंने अपनी बुद्धि में आया वैसे ही कल्पना करके कहा है वह प्रमाणसिद्ध नहीं है । इनमें

- कई वेदान्ती तो एक ब्रह्ममात्र कहते हैं, अन्य कुछ वस्तुभूत नहीं है मायारूप अवस्तु है ऐसा मानते हैं ।
- कई नैयायिक, वैशेषिक जीव को सर्वथा नित्य सर्वगत कहते हैं, जीव के और ज्ञानगुणके सर्वथा भेद मानते हैं और
- अन्य कार्यमात्र हैं उनको ईश्वर करता है इसप्रकार मानते हैं ।
- कई सांख्यमती पुरुष को उदासीन चैतन्य-स्वरूप मानकर सर्वथा अकर्ता मानते हैं ज्ञान को प्रधान का धर्म मानते हैं ।
- कई बौद्धमती सर्व वस्तु को क्षणिक मानते हैं, सर्वथा अनित्य मानते हैं, इनमें भी अनेक मतभेद हैं,
 - कई विज्ञानमात्र तत्त्व मानते हैं,
 - कई सर्वथा शून्य मानते हैं,
 - कोई अन्यप्रकार मानते हैं ।
- मीमांसक कर्म-कांडमात्र ही तत्त्व मानते हैं, जीव को अणुमात्र मानते हैं तो भी कुछ परमार्थ नित्य वस्तु नहीं है- इत्यादि मानते हैं ।
- चार्वाकमती जीव को तत्त्व नहीं मानते हैं, पंचभूतों से जीव की उत्पत्ति मानते हैं ।
-

इत्यादि बुद्धि-कल्पित तत्त्व मानकर परस्पर में विवाद करते हैं, वह युक्त ही है -- वस्तु का पूर्ण-स्वरूप दिखता नहीं है तब जैसे अंधे हस्ती का विवाद करते हैं वैसे विवाद ही होता है, इसलिये जिनदेव सर्वज्ञ ने ही वस्तु का पूर्णरूप देखा है वही कहा है । यह प्रमाण और नयों के द्वारा अनेकान्तरूप सिद्ध होता है । इनकी चर्चा हेतुवाद के जैन के न्याय-शास्त्रों से जानी जाती है, इसलिये यह उपदेश है -- जिनमत में जीवाजीव का स्वरूप सत्यार्थ कहा है उसको जानना सम्यग्ज्ञान है, इस प्रकार जानकर जिनदेव की आज्ञा मानकर सम्यग्ज्ञान को अंगीकार करना, इसी से सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है, ऐसे जानना ।

+ सम्यक्चारित्र का स्वरूप -

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिहं ॥४२॥

अन्वयार्थ : [जं जाणिऊण] उस पूर्वोक्त (जीवाजीव के भेदरूप सत्यार्थ सम्यग्ज्ञान) को जानकर [जोई] योगी (मुनि) का [पुण्णपावाणं] पुण्य तथा पाप का [परिहारं] परिहार [कुणइ] करना, [तं] वह [चारित्तं] चारित्र [भणियं] होता है, ऐसा [कम्मरहिहं] कर्म से रहित (सर्वज्ञदेव) ने [अवियप्पं] कहा है ।

छाबडा :

यत् ज्ञात्वा योगी परिहारं करोति पुण्यपापानाम्; तत् चारित्रं भणितं अविकल्पं कर्मरहितैः ॥४२॥

चारित्र निश्चय-व्यवहार के भेद से दो भेदरूप है, महाव्रत--समिति--गुप्ति के भेद से कहा है, वह व्यवहार है । इसमें प्रवृत्ति-रूप क्रिया शुभ-कर्मरूप बंध करती है और इन क्रियाओं में जितने अंश निवृत्ति है । (अर्थात् उसीसमय स्वाश्रयरूप आंशिक निश्चय--वीतराग भाव है) उसका फल बंध नहीं है, उसका फल कर्म की एकदेश निर्जरा है । सब कर्मों से रहित अपने आत्म-स्वरूप में लीन होना वह निश्चय-चारित्र है, इसका फल कर्म का नाश ही है, वह पुण्य-पाप के परिहाररूप निर्विकल्प है । पाप का तो त्याग मुनि के है ही और पुण्य का त्याग इस प्रकार है -- शुभ-क्रिया का फल पुण्य-कर्म का बंध है उसकी वांछा नहीं है, बंध के नाश का उपाय निर्विकल्प निश्चय-चारित्र का प्रधान उद्यम है । इस प्रकार यहाँ निर्विकल्प अर्थात् पुण्य-पाप से रहित ऐसा निश्चय-चारित्र कहा है । चौदहवें गुणस्थान के अंत समय में पूर्ण चारित्र होता है, उससे ही मोक्ष होता है ऐसा सिद्धांत है ॥४२॥

+ रत्नत्रय-सहित तप-संयम-समिति का पालन द्वारा शुद्धात्मा का ध्यान से निर्वाण की प्राप्ति -

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥४३॥

अन्वयार्थ : जो [रयणत्तयजुत्तो] रत्नत्रय संयुक्त होता हुआ [संजदो] संयमी बनकर अपनी [ससत्तीए] शक्ति के अनुसार [तवं] तप [कुणइ] करता है [सो] वह [अप्पयं सुद्धं] शुद्ध आत्मा का [झायंतो] ध्यान करता हुआ [परमपयं] परमपद निर्वाण को [पावइ] प्राप्त करता है ।

छाबडा :

यः रत्नत्रययुक्तः करोति तपः संयतः स्वशक्त्या;;सः प्राप्नोति परमपदं ध्यायन् आत्मानं शुद्धम् ॥४३॥

जो मुनि संयमी पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति यह तेरह प्रकार का चारित्र वही प्रवृत्तिरूप व्यवहार-चारित्र संयम है, उसको अंगीकार करके और पूर्वोक्त प्रकार निश्चयचारित्र से युक्त होकर अपनी शक्ति के अनुसार उपवास, कायक्लेशादि बाह्य तप करता है वह मुनि अंतरंग तप, ध्यान के द्वारा शुद्ध-आत्मा का एकाग्र चित्त करके ध्यान करता हुआ निर्वाण को प्राप्त करता है ॥४३॥

+ ध्यानी मुनि ऐसा बनकर परमात्मा का ध्यान करता है -

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिण्ण परियरिओ दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥४४॥

अन्वयार्थ : [तिहि] मन-वचन-काय से, [तिण्णि] वर्षा-शीत-उष्ण तीन कालयोगों को [णिच्चं धरवि] नित्य धारणकर, [तियरहिओ] माया, मिथ्या, निदान तीन शल्यों से रहित होकर [तह] तथा [तिण्ण परियरिओ] दर्शन, ज्ञान, चारित्र से मंडित होकर और [दोदोसविप्पमुक्को] दो दोष (राग-द्वेष) से रहित होता हुआ [जोई] योगी (मुनि) [परमप्पा झायए] शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है ।

[मय] मद, [माय] माया, [कोहरहिओ] क्रोध से रहित, [लोहेण] लोभ से [विवज्जिओ] विशेषरूप से रहित [य जो जीवो] ऐसा जो जीव [सो] वह अपने [णिम्मलसहावजुत्तो] निर्मल विशुद्ध स्वभाव युक्त हो [पावइ उत्तमं सोक्खं] उत्तम सुख को प्राप्त करता है ।

छाबडा :

त्रिभिः त्रीन् धृत्वा नित्यं त्रिकरहितः तथा त्रिकेण परिकरितः;;द्विदोषविप्रमुक्तः परमात्मानं ध्यायते योगी ॥
४४॥;;मदमायाक्रोधरहितः लोभेन विवर्जितश्च यः जीवः;;निर्मलस्वभावयुक्तः यः प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम् ॥४५॥

मन वचन काय से तीन कालयोग धारणकर परमात्मा का ध्यान करे, इस प्रकार कष्ट में दृढ़ रहे तब ज्ञात होता है कि इसके ध्यान की सिद्धि है, कष्ट आने पर चलायमान हो जाये तब ध्यान की सिद्धि कैसी ? कोई प्रकार की चित्त में शल्य रहने से चित्त एकाग्र नहीं होता है तब ध्यान कैसे हो ? इसलिये शल्य रहित कहा; श्रद्धान, ज्ञान, आचरण यथार्थ न हो तब ध्यान कैसा ? इसलिये दर्शन, ज्ञान, चारित्र, मंडित कहा और राग-द्वेष, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि रहे तब ध्यान कैसे हो ? इसलिए परमात्मा का ध्यान करे, वह ऐसा होकर करे, यह तात्पर्य है ॥४४॥

लोक में भी ऐसा है कि जो मद अर्थात् अति मानी तथा माया कपट और क्रोध इनसे रहित हो और लोभ से विशेष रहित हो वह सुख पाता है; तीव्र कषायी अति आकुलता युक्त होकर निरन्तर दुःखी रहता है । अतः यही रीति मोक्षमार्ग में भी जानो -- जो क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषायों से रहित होता है तब निर्मल भाव होते हैं और तब ही यथाख्यातचारित्र पाकर उत्तम सुख को प्राप्त करता है ॥४५॥

+ विषय-कषायों में आसक्त परमात्मा की भावना से रहित है, उसे मोक्ष नहीं -

विसयकसाएहि जुदो रुद्रो परमप्पभावरहियमणो सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो ॥४६॥

अन्वयार्थ : [विसयकसाएहि जुदो] विषय-कषायों से युक्त, [रुद्रो] रुद्र के सामान [परमप्पभावरहियमणो] परमात्मा की भावना से रहित है, [जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो] ऐसा जीव जिनमुद्रा से परान्मुख है [सो ण लहइ सिद्धिसुहं] वह ऐसे सिद्धिसुख (मोक्ष-सुख) को प्राप्त नहीं करता ।

छाबडा :

विषयकषायैः युक्तः रुद्रः परमात्मभावरहितमनाः, सः न लभते सिद्धिसुखं जिनमुद्रापराङ्मुखः जीवः ॥४६॥

जिनमत में ऐसा उपदेश है कि जो हिंसादिक पापों से विरक्त हो, विषय-कषायों से आसक्त न हो और परमात्मा का स्वरूप जानकर उसकी भावना सहित जीव होता है वह मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, इसलिये जिनमत की मुद्रा से जो पराङ्मुख है उसको मोक्ष कैसे हो ? वह तो संसार में ही भ्रमण करता है । यहाँ रुद्र का विशेषण दिया है उसका ऐसा भी आशय है कि रुद्र ग्यारह होते हैं, ये विषय-कषायों में आसक्त होकर जिनमुद्रा में भ्रष्ट होते हैं, इनको मोक्ष नहीं होता है, इनकी कथा पुराणों से जानना ॥४६॥

+ जिनमुद्रा जिन जीवों को नहीं रुचती वे दीर्घ-संसारी -

जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ णियमेण जिणवरुद्धिट्ठं सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥४७॥

अन्वयार्थ : [जिणवरुद्धिट्ठं] जिन भगवानके द्वारा कही गई [जिणमुद्दं] जिनमुद्रा से [णियमेण] नियम से [सिद्धिसुहं] सिद्धिसुख (मुक्तिसुख) [हवेइ] होता है । ऐसी जिनमुद्रा जिस जीव को, [सिविणे] स्वप्न में [वि] भी [ण रुच्चइ] नहीं रुचती है (अवज्ञा करता है), [पुण जीवा] तो वह जीव [भवगहणे] संसाररूप गहन वन में [अच्छंति] रहता है ।

छाबडा :

जिनमुद्रा सिद्धिसुखं भवति नियमेन जिनवरोद्धिष्टाः, स्वप्नेऽपि न रोचते पुनः जीवाः तिष्ठन्ति भवगहने ॥४७॥

जिनदेव भाषित जिन-मुद्रा मोक्ष का कारण है वह मोक्षरूप ही है, क्योंकि जिनमुद्रा के धारक वर्तमान में भी स्वाधीन सुख को भोगते हैं और पीछे मोक्ष के सुख को प्राप्त करते हैं । जिस जीव को यह नहीं रुचती है वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता, संसार ही में रहता है ॥४७॥

+ परमात्मा के ध्यान से लोभ-रहित होकर निरास्रव -

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण णादियदि णवं कम्मं णिद्धिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥४८॥

अन्वयार्थ : जो [जोई] योगी ध्यानी [परमप्पय] परमात्मा का [झायंतो] ध्यान द्वारा [मलदलोहेण] मल देनेवाले लोभकषाय के [मुच्चेइ] छूटने से [णवं कम्मं] नवीन कर्म [णादियदि] को नहीं स्वीकारता ऐसा [जिणवरिंदेहिं] जिनवरेन्द्र तीर्थकर सर्वज्ञदेव ने [णिद्धिट्ठं] कहा है ।

छाबडा :

परमात्मानं ध्यायन् योगी मुच्यते मलदलोभेनः, नाद्रियते नवं कर्म निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥४८॥

मुनि भी हो और पर-जन्म संबंधी प्राप्ति का लोभ होकर निदान करे उसके परमात्मा का ध्यान नहीं होता है, इसलिये जो परमात्मा का ध्यान करे उसके इस लोक परलोक संबंधी पर-द्रव्य का कुछ भी लोभ नहीं होता है, इसलिये उसके नवीन कर्म का आस्रव नहीं होता ऐसा जिनदेव ने कहा है । यह लोभ कषाय ऐसा है कि दसवें गुणस्थान तक पहुँच जाने पर भी अव्यक्त होकर आत्मा को मल लगाता है, इसलिये इसको काटना ही युक्त है, अथवा जब तक मोक्ष की चाहरूप लोभ रहता है तब तक मोक्ष नहीं होता, इसलिये लोभ का अत्यंत निषेध है ॥४८॥

+ ऐसा निर्लोभी दृढ़ रत्नत्रय सहित परमात्मा के ध्यान द्वारा परम-पद को पाता है -

**होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥४९॥**

अन्वयार्थ : [दिढचरित्तो] दृढ़चारित्रवान [होऊण] होकर, [दिढसम्मत्तेण] दृढ़ सम्यक्त्व से [भावियमईओ] जिसकी मति भावित है, (ऐसा योगी / मुनि) [अप्पाणं] आत्मा का [झायंतो] ध्यान द्वारा [परमपयं] परमपद (मोक्ष) [पावए जोई] प्राप्त करता है ।

छाबडा :

भूत्वा दृढ़ चरित्रः दृढसम्यक्त्वेन भावितमतिः,;ध्यायन्नात्मानं परमपदं प्राप्नोति योगी ॥४९॥

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप दृढ़ होकर परिषह आने पर भी चलायमान न हो, इस प्रकार से आत्मा का ध्यान करता है वह परम पदको प्राप्त करता है ऐसा तात्पर्य है ॥४९॥

+ चारित्र क्या है ? -

**चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥५०॥**

अन्वयार्थ : [चरणं] चारित्र [हवइ सधम्मो] स्वधर्म (आत्मा का धर्म) है, [धम्मो] धर्म [सो] वह [अप्पसमभावो] आत्मा का समभाव [हवइ] है, [सो] वह (समभाव) [रागरोसरहिओ] रागद्वेष रहित [जीवस्स] जीव का [अणण्णपरिणामो] अनन्य परिणाम है ।

छाबडा :

चरणं भवति स्वधर्मः धर्मः सः भवति आत्मसमभावः,;सः रागरोषरहितः जीवस्य अनन्यपरिणामः ॥५०॥

चारित्र है वह ज्ञानमें रागद्वेष रहित निराकुलतारूप स्थिरताभाव है, वह जीव का ही अभेदरूप परिणाम है, कुछ अन्य वस्तु नहीं है ॥५०॥

+ जीव के परिणाम की स्वच्छता को दृष्टांत पूर्वक दिखाते हैं -

**जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो
तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अणण्णविहो ॥५१॥**

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [फलिहमणि] स्फटिक-मणि [विसुद्धो] विशुद्ध (निर्मल) है, [सो] वह [परदव्वजुदो] पर-द्रव्य (पीत, रक्त, हरित पुष्पादिक) से युक्त होने पर [अण्णं] अन्य सा [हवेइ] होता है, [तह] वैसे ही [हु] स्पष्ट रूप से [जीवो] जीव [रागादिविजुत्तो] रागादिक भावों से युक्त होने पर [अणण्णविहो] अन्य-अन्य प्रकार [हवदि] होता है ।

छाबडा :

यथा स्फटिकमणिः विशुद्धः परद्रव्ययुतः भवत्यन्यः सः, तथा रागादिवियुक्तः जीवः भवति स्फुटमन्यान्यविधः ॥५१॥

यहाँ ऐसा जानना कि रागादि विकार हैं वह पुद्गल के हैं और ये जीव के ज्ञान में आकर झलकते हैं तब उनसे उपयुक्त होकर इसप्रकार जानता है कि ये भाव मेरे ही हैं, जब तक इनका भेद-ज्ञान नहीं होता है तब तक जीव अन्य-अन्य प्रकार रूप अनुभव में आता है । यहाँ स्फटिक-मणि का दृष्टांत है, उसके अन्य-द्रव्य / पुष्पादिक का डांक लगता है तब अन्य सा दिखता है, इस प्रकार जीव के स्वच्छ भाव की विचित्रता जानना ॥५१॥

+ वह बाह्य में कैसा होता है? -

**देवगुरुम्मि य भक्तो साहम्मियसंजदेसु अणुरत्तो
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होदि जोई सो ॥५२॥**

अन्वयार्थ : जो योगी ध्यानी मुनि सम्यक्त्व को धारण करता है किन्तु जब तक यथाख्यात चारित्र को प्राप्त नहीं होता है तबतक [देवगुरुम्मि य भक्तो] देव (अरहंत-सिद्ध), और गुरु (शिक्षा-दीक्षा देनेवाले) में तो भक्ति, [साहम्मियसंजदेसु] साधर्मि तथा संयमी (मुनि) में [अणुरत्तो] अनुराग-सहित [सम्मत्तमुव्वहंतो] सम्यक्त्व पूर्वक [झाणरओ] ध्यान में रत (प्रीतिवान्) [सो] ऐसा [जोई] योगी (मुनि) [होदि] होता है ।

छाबडा :

देवे गुरौ च भक्तः साधर्मिके च संयतेषु अनुरक्तः, सम्यक्त्वमुद्वहन् ध्यानरतः भवति योगी सः ॥५२॥

जो योगी ध्यानी मुनि सम्यक्त्व को धारण करता है किन्तु जब तक यथाख्यात चारित्र को प्राप्त नहीं होता है तबतक अरहंत-सिद्ध देव में, और शिक्षा-दीक्षा देनेवाले गुरु में तो भक्ति युक्त होता ही है, इनकी भक्ति विनय सहित होती है और अन्य संयमी मुनि अपने समान धर्म-सहित हैं, उनमें भी अनुरक्त हैं, अनुराग सहित होता है वही मुनि ध्यान में प्रीतिवान् होता है और मुनि होकर भी देव-गुरु-साधर्मियों में भक्ति व अनुराग सहित न हो उसको ध्यान में रुचिवान नहीं कहते हैं क्योंकि ध्यान होनेवाले के, ध्यानवाले से रुचि, प्रीति होती है, ध्यानवाले न रुचें तब ज्ञात होता है कि इसको ध्यान भी नहीं रुचता है, इस प्रकार जानना चाहिये ॥५२॥

+ तीन गुप्ति की महिमा -

**उगगतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहुत्तेण ॥५३॥**

अन्वयार्थ : [भवहि बहुएहिं] बहुत भवों में [उगगतवेणण्णाणी] उग्र (तीव्र) तप के द्वारा अज्ञानी [जं कम्मं खवदि] जितने कर्मों का क्षय करता है [तं णाणी] उतने ज्ञानी (मुनि) कर्मों का [तिहि गुत्तो] तीन गुप्ति द्वारा [अंतोमुहुत्तेण] अंतर्मुहूर्त में ही [खवेइ] क्षय कर देता है ।

छाबडा :

उग्रतपसाडज्ञानी यत् कर्म क्षपयति भवैर्बहुकैः, तज्ज्ञानी त्रिभिः गुप्तः क्षपयति अन्तर्मुहूर्तेन ॥५३॥

जो ज्ञान का सामर्थ्य है वह तीव्र तप का भी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि ऐसा है कि-अज्ञानी अनेक कष्टों को सहकर तीव्र तप को करता हुआ करोड़ों भवों में जितने कर्मों का क्षय करता है वह आत्म-भावना सहित ज्ञानी मुनि उतने कर्मों का अंतर्मुहूर्त में क्षय कर देता है, यह ज्ञान का सामर्थ्य है ॥५३॥

+ परद्रव्य में राग-द्वेष करे वह अज्ञानी, ज्ञानी इससे उल्टा है -

सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीओ ॥५४॥

अन्वयार्थ : [सुहजोएण] शुभ योग अर्थात् [परदव्वे] पर-द्रव्य में [सुभावं] सुभाव (प्रीतिभाव) को [कुणइ] करता है [रागदो] राग-द्वेष है, [सो] वह [साहू] साधु [तेण दु] उस कारण से [अण्णाणी] अज्ञानी है और [णाणी] ज्ञानी [एत्तो] इससे [विवरीओ] विपरीत [दु] है ।

छाबडा :

शुभयोगेन सुभावं परद्रव्ये करोति रागतः साधुः; सः तेन तु अज्ञानी ज्ञानी एतस्मात्तु विपरीतः ॥५४॥

ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मुनि के परद्रव्य में राग-द्वेष नहीं है क्योंकि राग उसको कहते हैं कि -- जो पर-द्रव्य को सर्वथा इष्ट मानकर राग करता है वैसे ही अनिष्ट मानकर द्वेष करता है, परन्तु सम्यग्ज्ञानी पर-द्रव्य में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना ही नहीं करता है तब राग-द्वेष कैसे हों ? चारित्रमोह के उदयवश होने से कुछ धर्मराग होता है उसको भी राग जानता है भला नहीं समझता है तब अन्य से कैसे राग हो ? पर-द्रव्य से राग-द्वेष करता है वह तो अज्ञानी है, ऐसे जानना ॥५४॥

+ ज्ञानी मोक्ष के निमित्त भी राग नहीं करता -

आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि सो तेण दु अण्णाणी आदसहावा दु विवरीदु ॥५५॥

अन्वयार्थ : [य तहा] और वही [आसवहेदू] आसव का कारण [भावं] रागभाव यदि [मोक्खस्स] मोक्ष के [कारणं] लिए भी [हवदि] हो तो [सो तेण दु अण्णाणी] तो वह (जीव / मुनि) भी अज्ञानी है, [आदसहावा] आत्म-स्वभाव से [दु विवरीदु] विपरीत है ।

छाबडा :

आस्रवहेतुश्च तथा भावः मोक्षस्य कारणं भवति; सः तेन तु अज्ञानी आत्मस्वभावात्तु विपरीतः ॥५५॥

मोक्ष तो सब कर्मों से रहित अपना ही स्वभाव है; अपने को सब कर्मों से रहित होना है इसलिये यह भी रागभाव ज्ञानी के नहीं होता है, यदि चारित्र-मोह का उदयरूप राग हो तो उस राग को भी बंध का कारण जानकर रोग के समान छोड़ना चाहे तो वह ज्ञानी है ही, और इस रागभाव को भला समझकर प्राप्त करता है तो अज्ञानी है । आत्मा का स्वभाव सब रागादिकों से रहित है उसको इसने नहीं जाना, इसप्रकार रागभाव को मोक्ष का कारण और अच्छा समझकर करते हैं उसका निषेध है ॥५५॥

+ कर्ममात्र से ही सिद्धि मानना अज्ञान -

जो कम्मजादमइओ सहावणाणस्स खंडदूसयरो सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो ॥५६॥

अन्वयार्थ : [जो] जिसकी [कम्मजादमइओ] बुद्धि कर्म ही में उत्पन्न होती है ऐसा पुरुष [सहावणाणस्स] स्वभाव-ज्ञान (केवलज्ञान) उसको [खंडदूसयरो] खंडरूप दूषण करनेवाला है, [सो तेण दु अण्णाणी] तो वह स्पष्ट-रूप से अज्ञानी है, [जिणसासणदूसगो भणिदो] जिनमत को दूषित करता है ।

छाबडा :

यः कर्मजातमतिकः स्वभावज्ञानस्य खंडदूषणकरः, सः तेन तु अज्ञानी जिनशासनदूषकः भणितः ॥५६॥

मीमांसक मतवाला कर्मवादी है, सर्वज्ञ को नहीं मानता है, इन्द्रिय-ज्ञानमात्र ही ज्ञानको मानता है, केवलज्ञान को नहीं मानता है, इसका यहाँ निषेध किया है, क्योंकि जिनमत में आत्मा का स्वभाव सबको जाननेवाला केवलज्ञान स्वरूप कहा है। परन्तु वह कर्म के निमित्त से आच्छादित होकर इन्द्रियों के द्वारा क्षयोपशम के निमित्त से खंडरूप हुआ, खंड-खंड विषयों को जानता है; (निज बलद्वारा) कर्मों का नाश होने पर केवलज्ञान प्रगट होता है तब आत्मा सर्वज्ञ होता है, इसप्रकार मीमांसक मतवाला नहीं मानता है अतः वह अज्ञानी है, जिनमतसे प्रतिकूल है, कर्ममात्र में ही उसकी बुद्धि गत हो रही है ऐसे कोई और भी मानते हैं वह ऐसा ही जानना ॥५६॥

+ चारित्र रहित ज्ञान और सम्यक्त्व रहित तप अर्थ-क्रियाकारी नहीं -

**णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुत्तं
अण्णेषु भावरहियं लिंगग्रहणेण किं सोक्खं ॥५७॥**

अन्वयार्थ : [चरित्तहीणं] चारित्र रहित [णाणं] ज्ञान, [दंसणहीणं] दर्शन (सम्यक्त्व) रहित [तवेहिं संजुत्तं] तपयुक्त, [अण्णेषु] अन्य भी [भावरहियं] भाव-रहित [लिंगग्रहणेण] लिंग / भेष ग्रहण करने में [किं सोक्खं] क्या सुख है ?

छाबडा :

ज्ञानं चारित्रहीनं दर्शनहीनं तपोभिः संयुक्तम्, अन्येषु भावरहितं लिंगग्रहणेन किं सौख्यम् ॥५७॥

कोई मुनि भेषमात्र से तो मुनि हुआ और शास्त्र भी पढ़ता है; उसको कहते हैं कि-शास्त्र पढ़कर ज्ञान तो किया परन्तु निश्चय-चारित्र जो शुद्ध आत्मा का अनुभवरूप तथा बाह्य चारित्र निर्दोष नहीं किया, तप का क्लेश बहुत किया, सम्यक्त्व भावना नहीं हुई और आवश्यक आदि बाह्य क्रिया की, परन्तु भाव शुद्ध नहीं लगावे तो ऐसे बाह्य भेषमात्र से तो क्लेश ही हुआ, कुछ शांतभावरूप सुख तो हुआ नहीं और यह भेष परलोक के सुख में भी कारण नहीं हुआ; इसलिये सम्यक्त्व-पूर्वक भेष (जिन-लिंग) धारण करना श्रेष्ठ है ॥५७॥

+ सांख्यमती आदि के आशय का निषेध -

**अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी
सो पुण्ण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥५८॥**

अन्वयार्थ : [अच्चेयणं] अचेतन में [पि] भी [चेदा जो मण्णइ] चेतन को जो मानता है [सो हवेइ अण्णाणी] वह अज्ञानी है [सो पुण्ण] और फिर जो [चेयणे] चेतन में ही [चेदा] चेतन को [मण्णइ] मानता है उसे [णाणी भणिओ] ज्ञानी कहा है।

छाबडा :

अचेतनेपि चेतनं यः मन्यते सः भवति अज्ञानी, सः पुनः ज्ञानी भणितः यः मन्यते चेतने चेतनम् ॥५८॥

सांख्यमती ऐसे कहता है कि पुरुष तो उदासीन चेतना-स्वरूप नित्य है और यह ज्ञान है वह प्रधान का धर्म है, इनके मत में पुरुष को उदासीन चेतना-स्वरूप माना है अतः ज्ञान बिना तो वह जड़ ही हुआ, ज्ञान बिना चेतन कैसे ? ज्ञानको प्रधान का धर्म माना है और प्रधान को जड़ माना तब अचेतन में चेतना मानी तब अज्ञानी ही हुआ।

नैयायिक, वैशेषिक मतवाले गुण-गुणी के सर्वथा भेद मानते हैं, तब उन्होंने चेतना गुण को जीव से भिन्न माना तब जीव तो अचेतन ही रहा। इसप्रकार अचेतन में चेतनापना माना। भूतवादी चार्वाक-भूत पृथ्वी आदिक से चेतना की उत्पत्ति मानता

है, भूत तो जड़ है उसमें चेतना कैसे उपजे ? इत्यादिक अन्य भी कई मानते हैं वे सब अज्ञानी हैं इसलिये चेतन में ही चेतन माने वह ज्ञानी है, यह जिनमत है ॥५८॥

+ तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप अकार्य हैं, दोनों के संयुक्त होने पर ही निर्वाण है -

**तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥५९॥
धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥६०॥**

अन्वयार्थ : [तवरहियं] तपरहित [जं] जो [णाणं] ज्ञान और [णाणविजुत्तो] ज्ञानरहित [तवो वि] तप भी (दोनों ही) [अकयत्थो] अकार्य हैं, [तम्हा] इसलिये [णाणतवेणं] ज्ञान-तप की संयुक्तता से ही [संजुत्तो लहइ णिव्वाणं] निर्वाण को प्राप्त होता है ।

छाबडा :

तपोरहितं यत् ज्ञानं ज्ञानवियुक्तं तपः अपि अकृतार्थम्;;तस्मात् ज्ञानतपसा संयुक्तः लभते निर्वाणम् ॥
५९ ॥;;ध्रुवसिद्धिस्तीर्थकरः चतुर्ज्ञानयुतः करोति तपश्चरणम्;;ज्ञात्वा ध्रुवं कुर्यात् तपश्चरणं ज्ञानयुक्तः अपि ॥६०॥

अन्यमती सांख्यादिक ज्ञानचर्चा तो बहुत करते हैं और कहते हैं कि-ज्ञान से ही मुक्ति है और तप नहीं करते हैं, विषय-कषायों को प्रधान का धर्म मानकर स्वच्छन्द प्रवर्तते हैं । कई ज्ञान को निष्फल मानकर उसको यथार्थ जानते नहीं हैं और तप-क्लेशादिक से ही सिद्धि मानकर उसके करने में तत्पर रहते हैं । आचार्य कहते हैं कि ये दोनों ही अज्ञानी हैं, जो ज्ञान-सहित तप करते हैं वे ज्ञानी हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं, यह अनेकान्त-स्वरूप जिनमत का उपदेश है ॥५९॥

तीर्थकर मति-श्रुत-अवधि इन तीन ज्ञान सहित तो जन्म लेते हैं और दीक्षा लेते ही मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, मोक्ष उनको नियम से होना है तो भी तप करते हैं, इसलिये ऐसा जानकर ज्ञान होते हुए भी तप करने में तत्पर होना, ज्ञान-मात्र ही से मुक्ति नहीं मानना ॥६०॥

+ बाह्यलिंग-सहित और अभ्यंतरलिंग-रहित मोक्षमार्ग नहीं -

**बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो
सो सगचरित्तभट्टो मोक्खपहविणासगो साहु ॥६१॥**

अन्वयार्थ : [बाहिरलिंगेण जुदो] बाह्य लिंग / भेष सहित है और [अब्भंतरलिंगरहिय] अभ्यंतर लिंग से रहित [परियम्मो] परिकर्म (नग्नता, ब्रह्मचर्यादि शरीर-संस्कार) होने पर भी [सो] वह [सगचरित्तभट्टो] स्व-चारित्र से भ्रष्ट होने से [मोक्खपहविणासगो साहु] मोक्षमार्ग का विनाश करनेवाला साधु है ॥६१॥

छाबडा :

बाह्यलिंगेन युतः अभ्यंतरलिंगरहितपरिकर्मा;;सः स्वकचारित्रभ्रष्टः मोक्षपथविनाशकः साधुः ॥६१॥

यह संक्षेप से कहा जानो कि जो बाह्यलिंग संयुक्त है और अभ्यंतर अर्थात् भावलिंग रहित है वह स्वरूपाचरण चारित्र से भ्रष्ट हुआ मोक्ष-मार्ग का नाश करनेवाला है ॥६१॥

+ तपश्चरण सहित ज्ञान को भाना -

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥६२॥

अन्वयार्थ : [सुहेण] सुख से [भाविदं] भाया हुआ [णाणं] ज्ञान, [दुहे] दुःख (उपसर्ग-परिषहादि) के द्वारा [विणस्सदि] नष्ट हो [जादे] जाता है, [तम्हा] इसलिये [जहाबलं] यथा-शक्ति [जोई] योगी (मुनि) [दुक्खेहि] तपश्चरणादि के कष्ट (दुःख) सहित [अप्पा] आत्मा को [भावए] भावे ।

छाबडा :

सुखेन भावितं ज्ञानं दुःखे जाते विनश्यति;;तस्मात् यथाबल योगी आत्मानं दुःखैः भावयेत् ॥६२॥

तपश्चरण का कष्ट अंगीकार करके ज्ञान को भावे तो परीषह आने पर ज्ञानभावना से चिगे नहीं इसलिये शक्ति के अनुसार दुःखसहित ज्ञान को भाना, सुख ही में भावे तो दुःख आने पर व्याकुल हो जावे तब ज्ञानभावना न रहे, इसलिये यह उपदेश है ॥६२॥

+ आहार, आसन, निद्रा को जीतकर आत्मा का ध्यान करना -

आहारासणणिद्वाजयं च काऊण जिणवरमएण झायव्वो णियअप्पा णाऊणं गुरुपसाएण ॥६३॥

अन्वयार्थ : [आहारासणणिद्वाजयं च] आहार, आसन, निद्रा को जीतकर और [जिणवरमएण] जिनवर का मत [गुरुपसाएण] गुरु के प्रसाद से [णाऊणं] जानकर [णियअप्पा] निज आत्मा का [झायव्वो] ध्यान [काऊण] करना ।

छाबडा :

आहारासननिद्राजयं च कृत्वा जिनवरमतेन;;ध्यातव्यः निजात्मा ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥६३॥

आहार, आसन, निद्रा को जीतकर आत्मा का ध्यान करना तो अन्य मतवाले भी कहते हैं परन्तु उनके यथार्थ विधान नहीं है, इसलिये आचार्य कहते हैं कि जैसे जिनमत में कहा है उस विधान को गुरु के प्रसाद से जानकर ध्यान करना सफल है । जैसे जैन-सिद्धांत में आत्मा का स्वरूप तथा ध्यान का स्वरूप और आहार, आसन, निद्रा इनके जीतने का विधान कहा है वैसे जानकर इनमें प्रवर्तना ॥६३॥

+ ध्येय का स्वरूप -

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ॥६४॥

अन्वयार्थ : [अप्पा] आत्मा [चरित्तवंतो] चारित्रवान् है और [अप्पा] आत्मा [दंसणणाणेण संजुदो] दर्शन-ज्ञानसहित है, [सो] [गुरुपसाएण] गुरु के प्रसाद से [णाऊणं] जानकर [णिच्चं] नित्य [झायव्वो] ध्यान करना ।

छाबडा :

आत्मा चारित्रवान् दर्शनज्ञानेन संयुतः आत्मा;;सः ध्यातव्यः नित्यं ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥६४॥

आत्मा का रूप दर्शन-ज्ञान-चारित्रमयी है, इसका रूप जैन गुरुओं के प्रसाद से जाना जाता है । अन्य मतवाले अपना बुद्धि-कल्पित जैसा-तैसा मानकर ध्यान करते हैं उनके यथार्थ सिद्धि नहीं है, इसलिये जैनमत के अनुसार ध्यान करना ऐसा उपदेश है ॥६४॥

+ आत्मा का जानना, भाना और विषयों से विरक्त होना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ -

दुखे णज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भावणा दुखं भावियसहावपुरिसो विसयेसु विरज्जे दुखं ॥६५॥

अन्वयार्थ : [अप्पा] आत्मा का [णज्जइ] जानना [दुखे] दुःख से (दुर्लभ) होता है, फिर [अप्पा] आत्मा को [णाऊण] जानकर भी (आत्म-स्वभाव की) [भावणा] भावना (फिर-फिर चिन्तन / अनुभव) [दुखं] दुःख से (उग्र पुरुषार्थ से) होती है, [सहावपुरिसो] आत्म-स्वभाव की [भाविय] भावना होने पर भी [विसयेसु] विषयों से [विरज्जे] विरक्त बड़े [दुखं] दुःख से (अपूर्व पुरुषार्थ से) होता है ।

छाबडा :

दुःखेन ज्ञायते आत्मा आत्मानं ज्ञात्वा भावना दुःखम्; भावितस्वभावपुरुषः विषयेषु विरज्यति दुःखम् ॥६५॥

आत्मा का जानना, भाना, विषयों से विरक्त होना उत्तरोत्तर यह योग मिलना बहुत दुर्लभ है, इसलिये यह उपदेश है कि ऐसा सुयोग मिलने पर प्रमादी न होना ॥६५॥

+ जब तक विषयों में प्रवर्तता है तब तक आत्म-ज्ञान नहीं होता -

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

अन्वयार्थ : [ताम] तब तक [अप्पा] आत्मा को [ण णज्जइ] नहीं जानता [जाम] जब तक [णरो] मनुष्य (इन्द्रिय) [विसएसु] विषयों में [पवट्टए] प्रवर्तता है, इसलिये [जोई] योगी (मुनि) [विसए] विषयों से [विरत्तचित्तो] विरक्त-चित्त होता हुआ [अप्पाणं] आत्मा को [जाणेइ] जानता है ।

छाबडा :

तावन्न ज्ञायते आत्मा विषयेषु नरः प्रवर्तते यावत्; विषये विरक्तचित्तः योगी जानाति आत्मानम् ॥६६॥

जीव के स्वभाव के उपयोग की ऐसी स्वच्छता है कि जो जिस ज्ञेय पदार्थ से उपयुक्त होता है वैसा ही हो जाता है, इसलिये आचार्य कहते हैं कि-जब तक विषयों में चित्त रहता है, तब तक उनरूप रहता है, आत्मा का अनुभव नहीं होता है, इसलिये योगी मुनि इस प्रकार विचार कर विषयों से विरक्त हो आत्मा में उपयोग लगावे तब आत्मा को जाने, अनुभव करे, इसलिये विषयों से विरक्त होना यह उपदेश है ॥६६॥

+ आत्मा को जानकर भी भावना बिना संसार में ही रहना है -

अप्पा जाऊण णरा केई सग्भावभावपम्भट्टा हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥६७॥

अन्वयार्थ : [णरा केई] कई मनुष्य [अप्पा जाऊण] आत्मा को जानकर भी [सग्भावभावपम्भट्टा] अपने स्वभाव की भावना से अत्यंत भ्रष्ट हुए [विसएसु] विषयों से [विमोहिया] मोहित होकर [मूढा] अज्ञानी / मूर्ख [चाउरंगं] चार गतिरूप संसार में [हिंडंति] भ्रमण करते हैं ।

छाबडा :

आत्मानं ज्ञात्वा नराः केचित् सद्भावभावप्रभ्रष्टा; हिण्डन्ते चातुरंगं विषयेषु विमोहिताः मूढा ॥६७॥

पहिले कहा था कि आत्मा को जानना, भाना, विषयों से विरक्त होना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ पाये जाते हैं, विषयों में लगा हुआ प्रथम तो आत्मा को जानता नहीं है ऐसे कहा, अब यहाँ इसप्रकार कहा कि आत्मा को जानकर भी विषयों के वशीभूत हुआ भावना नहीं करे तो संसार ही में भ्रमण करता है, इसलिये आत्मा को जानकर विषयों से विरक्त होना यह उपदेश है ॥६७॥

+ जो विषयों से विरक्त होकर आत्मा को जानकर भाते हैं वे संसार को छोड़ते हैं -

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥६८॥

अन्वयार्थ : [जे पुण] फिर जो [विसयविरत्ता] विषयों से विरक्त हो [अप्पा णाऊण] आत्मा को जानकर, [भावणासहिया] बारंबार भावना द्वारा (अनुभव करते हैं), [तवगुणजुत्ता] तप और मूलगुण-उत्तरगुणों से युक्त होकर [चाउरंगं] संसार को [छंडंति] छोड़ते हैं, [ण संदेहो] इसमें कोई संदेह नहीं है ।

छाबडा :

ये पुनः विषयविरक्ताः आत्मानं ज्ञात्वा भावनासहिताः, त्यजन्ति चातुरंगं तपोगुणयुक्ताः न संदेहः ॥६८॥

विषयों से विरक्त हो आत्मा को जानकर भावना करना, इससे संसार से छूटकर मोक्ष प्राप्त करो, यह उपदेश है ॥६८॥

+ पर-द्रव्य में लेशमात्र भी राग हो तो वह अज्ञानी -

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ ॥६९॥

अन्वयार्थ : [परमाणुपमाणं वा] परमाणु प्रमाण (लेशमात्र) भी [परदव्वे] पर-द्रव्य में [मोहादो] मोह द्वारा [रदि] रति (राग / प्रीति) [हवेदि] हो तो [सो मूढो अण्णाणी] वह पुरुष मूढ है, अज्ञानी है, [आदसहावस्स] आत्म-स्वभाव से [विवरीओ] विपरीत है ।

छाबडा :

परमाणुप्रमाणं वा परद्रव्ये रतिर्भवति मोहात्, सः मूढः अज्ञानी आत्मस्वभावात् विपरीतः ॥६९॥

भेद-विज्ञान होने के बाद जीव-अजीव को भिन्न जाने तब पर-द्रव्य को अपना न जाने तब उससे राग भी नहीं होता है, यदि (ऐसा) हो तो जानो कि इसने स्व-पर का भेद नहीं जाना है, अज्ञानी है, आत्म-स्वभाव से प्रतिकूल है; और ज्ञानी होने के बाद चारित्र-मोह का उदय रहता है तब तक कुछ राग रहता है उसको कर्म-जन्य अपराध मानता है, उस राग से राग नहीं है इसलिये विरक्त ही है, अतः ज्ञानी पर-द्रव्य में रागी नहीं कहलाता है, इसप्रकार जानना ॥६९॥

+ इस अर्थ को संक्षेप से कहते हैं -

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं होदि ध्रुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥७०॥

अन्वयार्थ : [विसएसु विरत्तचित्ताणं] विषयों से विरक्त होकर [दंसणसुद्धीण] दर्शन की शुद्धता और [दिढचरित्ताणं] दृढ़ चारित्र पूर्वक [अप्पा झायंताणं] आत्मा का ध्यान करने से [होदि ध्रुवं णिव्वाणं] निश्चित ही निर्वाण होता है ।

छाबडा :

आत्मानं ध्यायतां दर्शनशुद्धीनां दृढचारित्राणाम्; भवति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानाम् ॥७०॥

पहिले कहा था कि जो विषयों से विरक्त हो आत्मा का स्वरूप जानकर आत्मा की भावना करते हैं वे संसार से छूटते हैं । इस ही अर्थ को संक्षेप से कहा है कि-जो इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर बाह्य-अभ्यंतर दर्शन की शुद्धता से दृढ़ चारित्र पालते हैं उनको नियम से निर्वाण की प्राप्ति होती है, इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति सब अनर्थों का मूल है, इसलिये इनसे विरक्त होने पर उपयोग आत्मा में लगे तब कार्यसिद्धि होती है ॥७०॥

+ राग संसार का कारण होने से योगीश्वर आत्मा में भावना करते हैं -

**जेण रागो परे दव्वे संसारस्स हि कारणं
तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणं ॥७१॥**

अन्वयार्थ : [जेण] क्योंकि [परे दव्वे] पर-द्रव्य में [रागो] राग है वह [संसारस्स हि कारणं] संसार ही का कारण है, [तेणावि] इसलिए [जोइणो] योगीश्वर मुनि [णिच्चं] नित्य [अप्पे सभावणं] आत्म की भावना [कुज्जा] करते हैं ।

छाबडा :

येन रागः परे द्रव्ये संसारस्य हि कारणम्; तेनापि योगी नित्यं कुर्यात् आत्मनि स्वभावनाम् ॥७१॥

कोई ऐसी आशंका करते हैं कि -- पर-द्रव्य में राग करने से क्या होता है ? पर-द्रव्य है वह पर है ही, अपने राग जिस काल हुआ उस काल है, पीछे मिट जाता है, उसको उपदेश दिया है कि -- पर-द्रव्य से राग करने पर पर-द्रव्य अपने साथ लगता है, यह प्रसिद्ध है, और अपने राग का संस्कार दृढ़ होता है तब परलोक तक भी चला जाता है यह तो युक्ति-सिद्ध है और जिनागम में राग से कर्म का बंध कहा है, इसका उदय अन्य जन्म का कारण है, इस प्रकार पर-द्रव्य में राग से संसार होता है, इसलिये योगीश्वर मुनि पर-द्रव्य से राग छोड़कर आत्मा में निरंतर भावना रखते हैं ॥७१॥

+ रागद्वेष से रहित ही चारित्र होता है -

**णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य
सत्तूणं चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो ॥७२॥**

अन्वयार्थ : [णिंदाए य पसंसाए] निन्दा और प्रशंसा में, [दुक्खे य सुहएसु य] दुःख और सुख में और [सत्तूणं चेव बंधूणं] शत्रु और मित्र में [समभावदो] समभाव (समतापरिणाम), [चारित्तं] चारित्र होता है ।

छाबडा :

निंदायां च प्रशंसायां दुःखे च सुखेषु च; शत्रूणां चैव बंधूनां चारित्रं समभावतः ॥७२॥

चारित्र का स्वरूप यह कहा है कि जो आत्मा का स्वभाव है वह कर्म के निमित्त से ज्ञान में पर-द्रव्य में इष्ट अनिष्ट-बुद्धि होती है, इस इष्ट-अनिष्ट बुद्धि के अभाव से ज्ञान ही में उपयोग लगा रहे उसको शुद्धोपयोग कहते हैं, वही चारित्र है, यह होता है वहाँ निन्दा-प्रशंसा, दुःख-सुख, शत्रु-मित्र में समान बुद्धि होती है, निंदा-प्रशंसा का द्विधाभाव मोह-कर्म का उदय-जन्य है, इसका अभाव ही शुद्धोपयोगरूप चारित्र है ॥७२॥

+ पंचमकाल आत्मध्यान का काल नहीं है, उसका निषेध -

**चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥७३॥**

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को संसारसुहे सुरदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७४॥

अन्वयार्थ : [चरियावरिया] चर्या (आचारक्रिया) आवृत / अप्रकट, [वदसमिदिवज्जिया] व्रत-समिति से रहित और [सुद्धभावपम्भट्टा] शुद्धभाव से अत्यंत भ्रष्ट [केई जंपंति णरा] कई मनुष्य ऐसा कहते हैं कि (पंचमकाल) [झाणजोयस्स] ध्यान-योग [ण हु कालो] का काल ही नहीं है ।

[सम्मत्तणाणरहिओ] सम्यक्त्व और ज्ञान से रहित, [अभव्वजीवो] अभव्य-जीव, [हु मोक्खपरिमुक्को] स्पष्ट रूप से मोक्ष से विपरीत, [संसारसुहे] संसार-सुख में [सुरदो] अच्छी तरह रत (आसक्त) कहते हैं कि [ण हु कालो भणइ झाणस्स] अभी ध्यान का काल नहीं है ।

छाबडा :

चर्यावृताः व्रतसमितिर्वर्जिताः शुद्धभावप्रभ्रष्टाः, केचित् जल्पन्ति नराः न स्फुटं कालः ध्यानयोगस्य ॥
७३ ॥; सम्यक्त्वज्ञानरहितः अभव्यजीवः स्फुटं मोक्षपरिमुक्तः; संसारसुखे सुरतः न स्फुटं कालः भणति ध्यानस्य ॥
७४ ॥

कई मनुष्य ऐसे हैं जिनके चर्या अर्थात् आचारक्रिया आवृत है, चारित्रमोह का उदय प्रबल है इससे चर्या प्रकट नहीं होती है, इसी से व्रतसमिति से रहित हैं और मिथ्या अभिप्राय के कारण शुद्धभाव से अत्यंत भ्रष्ट हैं, वे ऐसे कहते हैं कि-अभी पंचमकाल है, यह काल प्रकट ध्यान-योग का नहीं है ॥७३॥

जिसको इन्द्रियों के सुख ही प्रिय लगते हैं और जीवाजीव पदार्थ के श्रद्धान-ज्ञान से रहित है, वह इस प्रकार कहता है कि अभी ध्यान का काल नहीं है । इससे ज्ञात होता है कि इस प्रकार कहनेवाला अभव्य है इसको मोक्ष नहीं होगा ॥७४॥

+ जो ऐसा कहता है कि पंचम-काल ध्यान का काल नहीं, उसको कहते हैं -

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७५॥

अन्वयार्थ : जो [पंचसु महव्वदेसु] पांच महाव्रत, [पंचसु समिदीसु] पांच समिति और [तीसु गुत्तीसु] तीन गुप्ति इनमें [मूढो अण्णाणी] मूढ है, अज्ञानी है (इनका स्वरूप नहीं जानता) वह इसप्रकार [ण हु कालो भणइ झाणस्स] कहता है कि अभी ध्यान का काल नहीं है ॥७५॥

छाबडा :

पंचसु महाव्रतेषु च पंचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिसु; यः मूढः अज्ञानी न स्फुटं कालः भणति ध्यानस्य ॥७५॥

+ अभी इस पंचमकाल में धर्मध्यान होता है, यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है -

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥

अन्वयार्थ : [भरहे] भरत-क्षेत्र में [दुस्समकाले] दुःषमकाल (पंचमकाल) में, [तं अप्पसहावठिदे] आत्म-स्वभाव में स्थित [साहुस्स] साधु (मुनि) के [धम्मज्झाणं] धर्म-ध्यान [हवेइ] होता है, [ण हु मण्णइ] जो यह नहीं मानता है [सो वि अण्णाणी] वह अज्ञानी है ।

छाबडा :

भरते दुःषमकाले धर्मध्यानं भवति साधोः; तदात्मस्वभावस्थिते न हि मन्यते सोऽपि अज्ञानी ॥७६॥

जिनसूत्र में इस भरतक्षेत्र पंचमकाल में आत्मभावना में स्थित मुनि के धर्म-ध्यान कहा है, जो यह नहीं मानता है वह अज्ञानी है, उसको धर्मध्यान के स्वरूप का ज्ञान नहीं है ॥७६॥

+ इस काल में भी रत्नत्रय का धारक मुनि स्वर्ग प्राप्त करके वहाँ से चयकर मोक्ष जाता है -

**अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहिं इंदत्तं
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥७७॥**

अन्वयार्थ : [अज्ज वि] आज (पंचमकाल में) भी जो मुनि [तिरयणसुद्धा] सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता पूर्वक [अप्पा झाएवि] आत्मा का ध्यान कर [लहहिं इंदत्तं लोयंतियदेवत्तं] इन्द्रपद अथवा लोकान्तिक देवपद को प्राप्त करते हैं और [तत्थ चुआ] वहाँ से चयकर [णिव्वुदिं जंति] निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

छाबडा :

अद्य अपि त्रिरत्नशुद्धा आत्मानं ध्यात्वा लभंते इन्द्रत्वम्; लौकान्तिकदेवत्वं ततः च्युत्वा निर्वृतिं यांति ॥७७॥

कोई कहते हैं कि अभी इस पंचमकाल में जिनसूत्र में मोक्ष होना कहा नहीं इसलिये ध्यान करना तो निष्फल खेद है, उसको कहते हैं कि हे भाई ! मोक्ष जाने का निषेध किया है और शुक्लध्यान का निषेध किया है परन्तु धर्मध्यान का निषेध तो किया नहीं । अभी भी जो मुनि रत्नत्रय से शुद्ध होकर धर्म-ध्यान में लीन होते हुए आत्मा का ध्यान करते हैं, वे मुनि स्वर्ग में इन्द्रपद को प्राप्त होते हैं अथवा लोकान्तिक देव एक भवावतारी हैं, उनमें जाकर उत्पन्न होते हैं ।

वहाँ से चयकर मनुष्य हो मोक्षपद को प्राप्त करते हैं । इसप्रकार धर्म-ध्यान से परंपरा-मोक्ष होता है तब सर्वथा निषेध क्यों करते हो ? जो निषेध करते हैं वे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं, उनको विषय-कषायों में स्वच्छंद रहना है इसलिये इसप्रकार कहते हैं ॥७७॥

+ ध्यान का अभाव मानकर मुनिलिंग ग्रहण कर पाप में प्रवृत्ति करने का निषेध -

**जे पावमोहियमई लिंग घेत्तूण जिणवरिंदाणं
पावं कुणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गमि ॥७८॥**

अन्वयार्थ : [जे] जिनकी [पावमोहियमई] पाप से मोहित बुद्धि है वे [जिणवरिंदाणं] जिनवरेन्द्र का [लिंग घेत्तूण] लिंग ग्रहण करके भी [पावं कुणंति] पाप करते हैं, [पावा ते] वे पापी [मोक्खमग्गमि] मोक्षमार्ग से [चत्ता] च्युत हैं ।

छाबडा :

ये पापमोहितमतयः लिंगं गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणाम्; पापं कुर्वन्ति पापाः ते त्यक्त्वा मोक्षमार्गे ॥७८॥

जिन्होंने पहिले निर्ग्रन्थ लिंग धारण कर लिया और पीछे ऐसी पापबुद्धि उत्पन्न हो गई कि -- अभी ध्यान का काल तो नहीं इसलिये क्यों प्रयास करें ? ऐसा विचारकर पाप में प्रवृत्ति करने लग जाते हैं वे पापी हैं, उनको मोक्षमार्ग नहीं है ॥७८॥

+ मोक्षमार्ग से च्युत वे कैसे हैं -

**जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाही य जायणासीला
आधाकम्ममि रया ते चत्ता मोक्खमग्गमि ॥७९॥**

अन्वयार्थ : [जे] जो [पंचचेलसत्ता] पांच प्रकार के वस्त्रों (अंडज, कर्पासज, वल्कल, चर्मज और रोमज) में आसक्त, [गंथग्गाही] परिग्रह धारी [य] और [जायणासीला] मांगने का ही जिनका स्वभाव है [आधाकम्ममि रया] पाप-कर्म में रत

हैं, [ते चत्ता मोक्खमग्गमि] वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं ।

छाबडा :

ये पंचचेलसक्ताः ग्रंथग्राहिणः याचनाशीलाः, अधः कर्मणि रताः ते त्यक्ताः मोक्षमार्गे ॥७९॥

यहाँ आशय ऐसा है कि पहिले तो निर्ग्रंथ दिगम्बर मुनि ही गये थे, पीछे काल-दोष का विचारकर चारित्र पालने में असमर्थ हो निर्ग्रंथ लिंग से भ्रष्ट होकर वस्त्रादिक अंगीकार कर लिये, परिग्रह रखने लगे, याचना करने लगे, अधःकर्म औद्देशिक आहार करने लगे उनका निषेध है वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं । पहिले तो भद्रबाहु स्वामी तक निर्ग्रंथ थे । पीछे दुर्भिक्ष-काल में भ्रष्ट होकर जो अर्द्धफालक कहलाने लगे उनमें से श्वेताम्बर हुए, इन्होंने इस भेष को पुष्ट करने के लिये सूत्र बनाये, इनमें कई कल्पित आचरण तथा इनकी साधक कथायें लिखीं । इनके सिवाय अन्य भी कई भेष बदले, इसप्रकार काल-दोष से भ्रष्ट लोगों का संप्रदाय चल रहा है यह मोक्षमार्ग नहीं है, इसप्रकार बताया है । इसलिये इन भ्रष्ट लोगों को देखकर ऐसा भी मोक्षमार्ग है, ऐसा श्रद्धान न करना ॥७९॥

+ मोक्षमार्गी कैसे होते हैं ? -

**णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गमि ॥८०॥**

अन्वयार्थ : [णिग्गंथ] निर्ग्रंथ (परिग्रह-रहित), [मोहमुक्का] मोह-रहित, [बावीसपरीसहा] बाईस परीषहों को सहने वाले, [जियकसाया] कषायों को जिनने जीत लिया और [पावारंभविमुक्का] आरंभादिक पापों में नहीं प्रवर्तते [ते] उन्हें [मोक्खमग्गमि] मोक्षमार्ग में [गहिया] ग्रहण किया है ।

छाबडा :

निर्ग्रंथाः मोहमुक्ताः द्वाविंशतिपरीषहाः जितकषायाः, पावारंभविमुक्ताः ते गृहीताः मोक्षमार्गे ॥८०॥

मुनि हैं वे लौकिक कष्टों और कार्यों से रहित हैं । जैसा जिनेश्वरदेव ने मोक्षमार्ग बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह से रहित नग्न दिगम्बर-रूप कहा है वैसे ही प्रवर्तते हैं वे ही मोक्षमार्गी हैं, अन्य मोक्षमार्गी नहीं हैं ॥८०॥

+ मोक्षमार्गी की प्रवृत्ति -

**उद्धद्धमज्झलोये केई मज्झं ण अहयमेगागी
इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं सोक्खं ॥८१॥**

अन्वयार्थ : [उद्धद्धमज्झलोये] ऊर्ध्व-मध्य-अधोलोक (तीनों-लोकों) में [केई मज्झं ण] कोई मेरा नहीं है, [अहयमेगागी] मैं एकाकी हूँ, [इय भावणाए] ऐसी भावना से [जोई] योगी (मुनि) [हु] प्रकटरूप से [सासयं सोक्खं] शाश्वत सुख को [पावंति] प्राप्त करता है ।

छाबडा :

उर्ध्वाधोमध्यलोके केचित् मम न अहकमेकाकी, इति भावनया योगिनः प्राप्नुवंति स्फुटं शाश्वतं सौख्यम् ॥८१॥

मुनि ऐसी भावना करे कि त्रिलोक में जीव एकाकी है, इसका संबंधी दूसरा कोई नहीं है, यह परमार्थरूप एकत्व भावना है । जिस मुनि के ऐसी भावना निरन्तर रहती है वही मोक्षमार्गी है, जो भेष लेकर भी लौकिकजनों से लाल-पाल रखता है वह मोक्षमार्गी नहीं है ॥८१॥

+ फिर कहते हैं -

देवगुरूणं भक्ता णिव्वेयपरंपरा विचिंतिता झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥८२॥

अन्वयार्थ : जो [देवगुरूणं] देव-गुरु के [भक्ता] भक्त, [णिव्वेय] निर्वेद (संसार-देह-भोगों से विरागता) की [परंपरा विचिंतिता] परंपरा का चिन्तन करते हैं, [झाणरया] ध्यान में रत [सुचरित्ता] जिनके उत्तम चरित्र है [ते] उन्हें [मोक्खमग्गम्मि] मोक्षमार्ग में [गहिया] ग्रहण किया है ।

छाबडा :

देवगुरूणां भक्ताः निर्वेदपरंपरा विचिन्तयन्तः, ध्यानरताः सुचरित्राः ते गृहिताः मोक्षमार्गे ॥८२॥

जिनने मोक्षमार्ग प्राप्त किया ऐसे अरहंत सर्वज्ञ वीतराग देव और उनका अनुसरण करनेवाले बड़े मुनि दीक्षा देनेवाले गुरु इनकी भक्ति-युक्त हो, संसार-देह-भोगों से विरक्त होकर मुनि हुए, वैसी ही जिनके वैराग्य भावना है, आत्मानुभव-रूप शुद्ध-उपयोगरूप एकाग्रतारूपी ध्यान में तत्पर हैं और जिनके व्रत, समिति, गुप्तिरूप निश्चय-व्यवहारात्मक सम्यक्त्व-चारित्र होता है, वे ही मुनि मोक्षमार्गी हैं, अन्य भेषी मोक्षमार्गी नहीं हैं ॥८२॥

+ निश्चयनय से ध्यान इस प्रकार करना -

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

अन्वयार्थ : [णिच्छयणयस्स एवं] निश्चयनय के मत से [अप्पा] आत्मा [अप्पम्मि] आत्मा ही में [अप्पणे] अपने ही लिये [सुरदो] भले प्रकार रत (लीन) हो जावे [सो] वह [हु] स्पष्ट रूप से [सुचरित्तो] सम्यक्चारित्रवान् [जोई] योगी (मुनि) [होदि] होता हुआ [सो लहइ णिव्वाणं] वह निर्वाण को पाता है ।

छाबडा :

निश्चयनयस्य एवं आत्मा आत्मनि आत्मने सुरतः, सः भवति स्फुटं सुचरित्रः योगी सः लभते निर्वाणम् ॥८३॥

निश्चयनय का स्वरूप ऐसा है कि-एक द्रव्य की अवस्था जैसी हो उसी को कहे । आत्मा की दो अवस्थायें हैं -- एक तो अज्ञान-अवस्था और एक ज्ञान-अवस्था । जबतक अज्ञान-अवस्था रहती है तबतक तो बंध-पर्याय को आत्मा जानता है कि -- मैं मनुष्य हूँ, मैं पशु हूँ, मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ, मैं मायावी हूँ, मैं पुण्यवान्-धनवान् हूँ, मैं निर्धन-दरिद्री हूँ, मैं राजा हूँ, मैं रंक हूँ, मैं मुनि हूँ, मैं श्रावक हूँ इत्यादि पर्यायों में आपा मानता है, इन पर्यायों में लीन होता है तब मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है, इसका फल संसार है उसको भोगता है ।

जब जिनमत के प्रसाद से जीव-अजीव पदार्थों का ज्ञान होता है तब स्व-पर का भेद जानकर ज्ञानी होता है, तब इस प्रकार जानता है कि -- मैं शुद्ध ज्ञान-दर्शनमयी चेतना-स्वरूप हूँ अन्य मेरा कुछ भी नहीं है । जब भावलिङ्गी निर्ग्रन्थ मुनिपद की प्राप्ति करता है तब यह आत्माही में अपने ही द्वारा अपने ही लिये विशेष लीन होता है तब निश्चय-सम्यक्चारित्र-स्वरूप होकर अपना ही ध्यान करता है, तब ही (साक्षात् मोक्षमार्ग में आरूढ़) सम्यग्ज्ञानी होता है, इसका फल निर्वाण है, इसप्रकार जानना चाहिये ॥८३॥

+ इस ही अर्थ को दृढ़ करते हुए कहते हैं -

पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणदंसणसमग्गो जो झायदि सो जोई पावहरो हवदि णिद्धंदो ॥८४॥

अन्वयार्थ : [पुरिसायारो] पुरुषाकार [अप्पा] आत्मा [जोई] योगी (मन, वचन, काय के योगों का निरोध, सुनिश्चल) है और [वरणाणदंसणसमग्गो] श्रेष्ठ सम्यकरूप ज्ञान तथा दर्शन से समग्र है / परिपूर्ण है इसप्रकार जो [झायदि] ध्यान करता है [सो] वह [जोई] योगी (मुनि) [पावहरो] पाप को हरता है और [णिदंदो] निर्द्वन्द्व (रागद्वेष आदि विकल्पों से रहित) [हवदि] है ।

छाबडा :

पुरुषाकार आत्मा योगी वरज्ञानदर्शनसमग्रः, यः ध्यायति सः योगी पापहरः भवति निर्द्वन्द्वः ॥८४॥

जो अरहंतरूप शुद्ध-आत्मा का ध्यान करता है उसके पूर्व-कर्म का नाश होता है और वर्तमान में राग-द्वेष रहित होता है तब आगामी कर्म को नहीं बाँधता है ॥८४॥

+ अब श्रावकों को प्रवर्तने के लिए कहते हैं -

**एवं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाण पुण सुणसु
संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥८५॥**

अन्वयार्थ : [एवं] इस प्रकार [सवणाणं] श्रमण (मुनियों) को [जिणेहि कहियं] जिनदेव ने कहा है, [पुण] अब [सावयाण] श्रावकों के लिए [संसारविणासयरं] संसार का विनाश करनेवाला और [सिद्धियरं कारणं परमं] सिद्धि (मोक्ष) को करने उत्कृष्ट कारण [सुणसु] सुनाते हैं ।

छाबडा :

एवं जिनैः कथितं श्रमणानां श्रावकाणां पुनः शृणुतः, संसारविनाशकरं सिद्धिकरं कारणं परमं ॥८५॥

पहिले कहा वह तो मुनियों को कहा और अब आगे कहते हैं वह श्रावकों को कहते हैं, ऐसा कहते हैं जिससे संसार का विनाश हो और मोक्ष की प्राप्ति हो ॥८५॥

+ श्रावकों को पहिले क्या करना, वह कहते हैं -

**गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं
तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए ॥८६॥**

अन्वयार्थ : [सुणिम्मलं] सुनिर्मल और [सुरगिरीव] मेरुवत् [णिक्कंपं] निःकंप (अचल) [सम्मत्तं] सम्यक्त्व को [गहिऊण] ग्रहण करके [सावय] श्रावक [दुक्खक्खयट्ठाए] दुःख का क्षय करने के लिए [तं झाणे झाइज्जइ] उसका (सम्यग्दर्शन का) ध्यान करना ।

छाबडा :

गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिर्मलं सुरगिरेरिव निष्कंपम्, तत् ध्याने ध्यायते श्रावक ! दुःखक्षयार्थं ॥८६॥

श्रावक पहिले तो निरतिचार निश्चल सम्यक्त्व को ग्रहण करके उसका ध्यान करे, इस सम्यक्त्व की भावना से गृहस्थ के गृहकार्य संबंधी आकुलता, क्षोभ, दुःख हेय है वह मिट जाता है, कार्य के बिगड़ने-सुधरने में वस्तु के स्वरूप का विचार आवे तब दुःख मिटता है । सम्यग्दृष्टि के इसप्रकार विचार होता है कि-वस्तु का स्वरूप सर्वज्ञ ने जैसा जाना है वैसा निरन्तर परिणमता है वही होता है, इष्ट-अनिष्ट मानकर दुःखी-सुखी होना निष्फल है । ऐसा विचार करने से दुःख मिटता है यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर है, इसलिये सम्यक्त्व का ध्यान करना कहा है ॥८६॥

+ सम्यक्त्व के ध्यान की ही महिमा -

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठकम्माणि ॥८७॥

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहप्पं ॥८८॥

अन्वयार्थ : जो (श्रावक) [सम्मत्तं] सम्यक्त्व का [झायइ] ध्यान करता है [सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो] वह जीव सम्यग्दृष्टि है और [सम्मत्तपरिणदो] सम्यक्त्व-रूप परिणमता हुआ [उण खवेइ दुट्ठकम्माणि] दुष्ट जो आठ कर्म उनका क्षय करता है ।

[किं बहुणा भणिएणं] बहुत कहने से क्या साध्य है, जो [णरवरा] नरप्रधान [काले] अतीतकाल में [जे सिद्धा] सिद्ध [गए] हुए हैं और [जे वि भविया] आगामी काल में [सिज्झिहहि] सिद्ध होंगे [तं जाणह सम्ममाहप्पं] वह सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो ।

छाबडा :

सम्यक्त्वं यः ध्यायति सम्यग्दृष्टिः भवति सः जीवः, सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षपयति दुष्टाष्टकर्माणि ॥८७॥, किं बहुना भणितेन ये सिद्धाः नरवराः गते काले, सेत्स्यन्ति येऽपि भव्याः तज्जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्यम् ॥८८॥

सम्यक्त्व का ध्यान इस प्रकार है -- यदि पहिले सम्यक्त्व न हुआ हो तो भी इसका स्वरूप जानकर इसका ध्यान करे तो सम्यग्दृष्टि हो जाता है । सम्यक्त्व होने पर इसका परिणाम ऐसा है कि संसार के कारण जो दुष्ट अष्ट-कर्म उनका क्षय होता है, सम्यक्त्व के होते ही कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा होने लग जाती है, अनुक्रम से मुनि होने पर चारित्र और शुक्लध्यान इसके सहकारी हो जाते हैं, तब सब कर्मों का नाश हो जाता है ॥८७॥

इस सम्यक्त्व का ऐसा माहात्म्य है कि जो अष्ट-कर्मों का नाशकर मुक्ति प्राप्त अतीत काल में हुए हैं तथा आगामी होंगे वे इस सम्यक्त्व से ही हुए हैं और होंगे, इसलिए आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से क्या ? यह संक्षेप से कहा जानो कि-मुक्ति का प्रधान कारण यह सम्यक्त्व ही है । ऐसा मत जानो कि गृहस्थ के क्या धर्म है, यह सम्यक्त्व धर्म ऐसा है कि सब धर्मों के अंगों को सफल करता है ॥८८॥

+ जो निरन्तर सम्यक्त्व का पालन करते हैं उनको धन्य है -

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पडिया मणुया
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ॥८९॥

अन्वयार्थ : [ते धण्णा] वे धन्य हैं, [सुकयत्था] सुकृतार्थ हैं, [ते सूरा] वे शूरवीर हैं, [ते वि पडिया] वे ही पंडित हैं, [मणुया] वे ही मनुष्य हैं, [जेहिं] जिन पुरुषों ने [सिद्धियरं] मुक्ति को करनेवाले [सम्मत्तं] सम्यक्त्व को [सिविणे वि] स्वप्न में भी [ण मइलियं] मलिन नहीं किया (अतीचार नहीं लगाया) ।

छाबडा :

ते धन्याः सुकृतार्थः ते सूराः तेऽपि पंडिता मनुजाः, सम्यक्त्वं सिद्धिकरं स्वप्नेऽपि न मलिनितं यैः ॥८९॥

लोक में कुछ दानादिक करें उनको धन्य कहते हैं तथा विवाहादिक यज्ञादिक करते हैं उनको कृतार्थ कहते हैं, युद्ध में पीछे न लौटे उसको शूरवीर कहते हैं, बहुत शास्त्र पढ़े उसको पंडित कहते हैं । ये सब कहने के हैं, जो मोक्ष के कारण सम्यक्त्व को मलिन नहीं करते हैं, निरतिचार पालते हैं उनको धन्य है, वे ही कृतार्थ हैं, वे ही शूरवीर हैं, वे ही पंडित हैं, वे ही मनुष्य हैं, इसके बिना मनुष्य पशु समान है, इन प्रकार सम्यक्त्व का माहात्म्य कहा ॥८९॥

+ इस सम्यक्त्व के बाह्य चिह्न बताते हैं -

हिंसारहिए धम्मे अट्टारहदोसवज्जिए देवे णिग्गंथे पव्वयणे सद्वहणं होइ सम्मत्तं ॥९०॥

अन्वयार्थ : [हिंसारहिए धम्मे] हिंसा-रहित धर्म में, [अट्टारहदोसवज्जिए देवे] अठारह दोष-रहित देव में, [णिग्गंथे] निर्ग्रन्थ (गुरु), [पव्वयणे] प्रवचन (मोक्ष का मार्ग, शास्त्र, आगम) में [सद्वहणं] श्रद्धान [होइ सम्मत्तं] होने पर सम्यक्त्व होता है ।

छाबडा :

हिंसारहिते धर्मे अष्टादशदोषवर्जिते देवेः, निर्ग्रन्थे प्रवचने श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥९०॥

लौकिकजन तथा अन्यमत वाले जीवों की हिंसा से धर्म मानते हैं और जिनमत में अहिंसा धर्म कहा है, उसीका श्रद्धान करे अन्यका श्रद्धान न करे वह सम्यग्दृष्टि है । लौकिक अन्यमत वाले मानते हैं वे सब देव क्षुधादि तथा रागद्वेषादि दोषों से संयुक्त हैं, इसलिये वीतराग सर्वज्ञ अरहंतदेव सब दोषों से रहित हैं उनको देव माने, श्रद्धान करे वही सम्यग्दृष्टि है ।

यहाँ अठारह दोष कहे वे प्रधानता की अपेक्षा कहे हैं इनको उपलक्षणरूप जानना, इनके समान अन्य भी जान लेना । निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग वही मोक्षमार्ग है, अन्यलिंग से अन्यमत वाले श्वेताम्बरादिक जैनाभास मोक्ष मानते हैं वह मोक्षमार्ग नहीं है । ऐसा श्रद्धान करे वह सम्यग्दृष्टि है, ऐसा जानना ॥९०॥

+ इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं -

जहजायरूवरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं लिंगं ण परावेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥९१॥

अन्वयार्थ : [जहजायरूवरूवं] यथाजातरूप (नग्न) तो जिसका रूप है, [सुसंजयं] सुसंयत (सम्यक्प्रकार इन्द्रियों का निग्रह और जीवों पर दया), [सव्वसंगपरिचत्तं] सर्वसंग (सब ही परिग्रह) तथा सब लौकिक जनों की संगति से रहित है और [ण परावेक्खं] मोक्ष के प्रयोजन सिवाय अन्य प्रयोजन की अपेक्षा रहित [लिंगं] लिंग को [जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं] जो माने / श्रद्धान करे उस जीव के सम्यक्त्व होता है ।

छाबडा :

यथाजातरूपरूपं सुसंयतं सर्वसंगपरित्यक्तम्; लिंगं न परापेक्षं यः मन्यते तस्य सम्यक्त्वम् ॥९१॥

मोक्षमार्ग में ऐसा ही लिंग है, अन्य अनेक भेष हैं वे मोक्षमार्ग में नहीं हैं, ऐसा श्रद्धान करे उनके सम्यक्त्व होता है । यहाँ परापेक्ष नहीं है-ऐसा कहने से बताया है कि -- ऐसा निर्ग्रन्थ रूप भी जो किसी अन्य आशय से धारण करे तो वह भेष मोक्षमार्ग नहीं है, केवल मोक्ष ही की अपेक्षा जिसमें हो ऐसा हो उसको माने वह सम्यग्दृष्टि है ऐसा जानना ॥९१॥

+ मिथ्यादृष्टि के चिह्न कहते हैं -

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च बंदए जो दु लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु ॥९२॥ सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे मण्णइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो ॥९३॥

सम्माइट्ठी सावय धम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥९४॥

अन्वयार्थ : [कुच्छियदेवं] कुत्सित देव (कुदेव) [धम्मं कुच्छियलिंगं च] कुत्सित धर्म (कुधर्म) और कुत्सित लिंग (कुलिंग) की [लज्जाभयगारवदो] लज्जा, भय, गारव आदि कारणों से [बंदए जो दु] जो इनकी वंदना करता है [मिच्छादिट्ठी हवे सो हु] वह प्रगट मिथ्यादृष्टि है ।

[सपरावेक्खं लिंगं] स्वपरापेक्ष (लौकिक प्रयोजन -- स्वापेक्ष, पर की अपेक्षा -- परापेक्ष) लिंग की [राई देवं] रागी देव की और [असंजयं वंदे] संयम-रहित की वंदना करे, [मण्णइ] माने, श्रद्धान करे वह [मिच्छादिट्ठी] मिथ्यादृष्टि है, [ण हु] नहीं [मण्णइ] मानता है [सुद्धसम्मत्तो] वह शुद्ध सम्यक्त्वी है ।

[सम्माइट्ठी] सम्यग्दृष्टि [सावय] श्रावक [जिणदेवदेसियं] जिनदेव से उपदेशित [धम्मं] धर्म का पालन [कुणदि] करता है [विवरीयं] विपरीत [कुव्वंतो] करे [मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो] उसे मिथ्यादृष्टि जानना ।

छाबडा :

कुत्सितदेवं धर्मं कुत्सितलिंगं च वन्दते यः तु; लज्जाभयगारवतः मिथ्यादृष्टिः भवेत् सः स्फुटम् ॥९२॥; स्वपरापेक्षं लिंगं रागिणं देवं असंयतं वन्दे; मानयति मिथ्यादृष्टिः न स्फुटं मानयति शुद्धसम्यक्त्वी ॥९३॥; सम्यग्दृष्टिः श्रावकः धर्मं जिनदेवदेशितं करोति; विपरीतं कुर्वन् मिथ्यादृष्टिः ज्ञातव्यः ॥९४॥

जो क्षुधादिक और रागद्वेषादि दोषों से दूषि हो वह कुत्सित देव है, जो हिंसादि दोषों से सहित हो वह कुत्सित धर्म है, जो परिग्रहादि सहित हो वह कुत्सित लिंग है । जो इनकी वंदना करता है, पूजा करता है वह तो प्रगट मिथ्यादृष्टि है ।

यहाँ अब विशेष कहते हैं कि जो इनको भले / हित करनेवाले मानकर वंदना करता है, पूजा करता है, वह तो प्रगट मिथ्यादृष्टि है, परन्तु जो लज्जा भय गारव इन कारणों से भी वंदना करता है, पूजा करता है वह भी प्रगट मिथ्यादृष्टि है । लज्जा तो ऐसे कि -- लोग इनकी वन्दना करते हैं, पूजा करते हैं, हम नहीं पूजेगे तो लोग हमको क्या कहेंगे ? हमारी इस लोक में प्रतिष्ठा चली जायगी, इस प्रकार लज्जा से वंदना व पूजा करे । भय ऐसे कि -- इनको राजादिक मानते हैं, हम नहीं मानेंगे तो हमारे ऊपर कुछ उपद्रव आ जायगा, इस प्रकार भय से वंदना व पूजा करे । गारव ऐसे कि हम बड़े हैं, महंत पुरुष हैं, सब ही का सन्मान करते हैं, इन कार्यों से हमारी बड़ाई है, इस प्रकार गारव से वंदना व पूजा होता है । इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के चिह्न कहे ॥९२॥

स्वपरापेक्ष तो लिंग--आप कुछ लौकिक प्रयोजन मन में धारणकर भेष ले वह स्वापेक्ष है और किसी पर की अपेक्षा से धारण करे, किसी के आग्रह तथा राजादिक के भय से धारण करे वह परापेक्ष है । रागी देव (जिसके स्त्री आदि का राग पाया जाता है) और संयम-रहित को इस प्रकार कहे कि मैं वंदना करता हूँ तथा इनको माने, श्रद्धान करे वह मिथ्यादृष्टि है । शुद्ध-सम्यक्त्व होने पर न इनको मानता है, न श्रद्धान करता है और न वंदना व पूजा ही करता है ।

ये ऊपर कहे इनसे मिथ्यादृष्टि के प्रीति भक्ति उत्पन्न होती है, जो निरतिचार सम्यक्त्ववान् है वह इनको नहीं मानता है ॥ ९३॥

इस प्रकार कहने से यहाँ कोई तर्क करे कि -- यह तो अपना मत पुष्ट करने की पक्षपातमात्र वार्ता कही, अब इसका उत्तर देते हैं कि-ऐसा नहीं है, जिससे सब जीवोंका हित हो वह धर्म है ऐसे अहिंसारूप धर्म का जिनदेव ही ने प्ररूपण किया है, अन्य-मत में ऐसे धर्म का निरूपण नहीं है, इस प्रकार जानना चाहिये ॥९४॥

+ मिथ्यादृष्टि जीव संसार में दुःख-सहित भ्रमण करता है -

मिच्छादिट्ठी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ॥९५॥

अन्वयार्थ : जो [मिच्छादिट्ठी जीवो] मिथ्यादृष्टि जीव है [सो] वह [जम्मजरमरणपउरे] जन्म-जरा-मरण से प्रचुर और [दुक्खसहस्साउले] हजारों दुःखों से व्याप्त इस [संसारे] संसार में [सुहरहिओ] सुखरहित (दुःखी) होकर [संसरेइ] भ्रमण करता है ।

छाबडा :

मिथ्यादृष्टिः यः सः संसारे संसरति सुखरहितः, जन्मजरामरणप्रचुरे दुःखसहस्राकुलः जीवः ॥९५॥

मिथ्यात्वभाव का फल संसार में भ्रमण करना ही है, यह संसार जन्म-जरा-मरण आदि हजारों दुःखों से भरा है, इन दुःखों को मिथ्यादृष्टि इस संसार में भ्रमण करता हुआ भोगता है । यहाँ दुःख तो अनन्त हैं हजारों कहने से प्रसिद्ध अपेक्षा बहुलता बताई है ॥९५॥

+ सम्यक्त्व-मिथ्यात्व भाव के कथन का संकोच -

**सम्म गुण मिच्छ दोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु
जं ते मणस्स रुच्चइ किं बहुणा पलविणं तु ॥९६॥**

अन्वयार्थ : [सम्म गुण] सम्यक्त्व के गुण और [मिच्छ दोसो] मिथ्यात्व के दोषों [तं] का [मणेण] मनन कर और [जं ते मणस्स रुच्चइ] जो अपने मन को रुचे / प्रिय लगे [परिभाविऊण] सोच-समझकर [कुणसु] कर, [किं बहुणा पलविणं तु] बहुत प्रलापरूप कहने से क्या साध्य है ?

छाबडा :

सम्यक्त्वे गुण मिथ्यात्वे दोषः मनसा परिभाव्य तत् कुरु; यत् ते मनसे रोचते किं बहुना प्रलपितेन तु ॥९६॥

इस प्रकार आचार्य ने कहा है कि -- बहुत कहने से क्या ? सम्यक्त्व-मिथ्यात्व के गुण-दोष पूर्वोक्त जानकर जो मन में रुचे, वह करो । यहाँ उपदेश का आशय ऐसा है कि -- मिथ्यात्व को छोड़ो सम्यक्त्व को ग्रहण करो, इससे संसार का दुःख मेटकर मोक्ष पाओ ॥९६॥

+ यदि मिथ्यात्व-भाव नहीं छोड़ा तब बाह्य भेष से कुछ लाभ नहीं -

**बाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो
किं तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि अप्पसमभावं ॥९७॥**

अन्वयार्थ : [बाहिरसंगविमुक्को] बाह्य परिग्रह छोड़कर [ण वि मुक्को मिच्छभाव] मिथ्याभाव को नहीं छोड़कर [णिग्गंथो] निर्ग्रन्थ होकर [ठाणमउणं] मौन खड़े रहने में [किं तस्स] क्या साध्य है ? तू [ण वि जाणदि अप्पसमभावं] आत्मा का समभाव (वीतराग परिणाम) नहीं जानता है ।

छाबडा :

बहिः संगविमुक्तः नापि मुक्तः मिथ्याभावेन निर्ग्रन्थः; किं तस्य स्थानमौनं न अपि जानाति आत्मसमभावं ॥९७॥

आत्मा के शुद्ध स्वभाव को जानकर सम्यग्दृष्टि होता है । और जो मिथ्याभाव-सहित परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ भी हो गया है, कायोत्सर्ग करना, मौन धारण करना इत्यादि बाह्य क्रियायें करता है तो उसकी क्रिया मोक्ष-मार्ग में सराहने योग्य नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व के बिना बाह्य-क्रिया का फल संसार ही है ॥९७॥

+ मूलगुण बिगाड़े उसके सम्यक्त्व नहीं रहता ? -

**मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू
सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिणलिंगविराहगो णियद ॥९८॥**

अन्वयार्थ : [मूलगुणं छित्त्तुणं] मूलगुण छेदनकर (बिगाड़कर) [य] और [बाहिरकम्मं] बाह्य-क्रिया [करेइ जो साहू] करता है वह साधु [जिणलिंगविराहगो णियद] निश्चय से जिनलिंग का विराधक है [सो ण लहइ सिद्धिसुहं] मोक्ष-सुख को प्राप्त नहीं करता ।

छाबडा :

मूलगुणं छित्त्वा च बाह्यकर्म करोति यः साधुः, सः न लभते सिद्धिसुखं जिणलिंगविराधकः नियतं ॥९८॥

जिन-आज्ञा ऐसी है कि -- सम्यक्त्व-सहित मूल-गुण धारणकर अन्य जो साधु क्रिया हैं उनको करते हैं । मूलगुण अट्ठाईस कहे हैं -- महाव्रत ५, समिति ५, इन्द्रियों का निरोध ५, आवश्यक ६, भूमिशयन १, स्नानका त्याग १, वस्त्रका त्याग १, केशलोच १, एकबार भोजन १, खड़ा भोजन १, दंतधावन का त्याग १, इस प्रकार अट्ठाईस मूलगुण हैं, इनकी विराधना करके कायोत्सर्ग मौन तप ध्यान अध्ययन करता है तो इन क्रियाओं से मुक्ति नहीं होती है । जो इस प्रकार श्रद्धान करे कि - हमारे सम्यक्त्व तो है ही, बाह्य मूलगुण बिगड़े तो बिगड़ो, हम मोक्षमार्गी ही हैं -- तो ऐसी श्रद्धा से तो जिन-आज्ञा भंग करने से सम्यक्त्व का भी भंग होता है तब मोक्ष कैसे हो; और (तीव्र कषायवान हो जाय तो) कर्म के प्रबल उदय से चारित्र भ्रष्ट हो । और यदि जिन-आज्ञा के अनुसार श्रद्धान रहे तो सम्यक्त्व रहता है किन्तु मूलगुण बिना केवल सम्यक्त्व ही से मुक्ति नहीं है और सम्यक्त्व बिना केवल क्रिया ही से मुक्ति नहीं है, ऐसे जानना ।

प्रश्न – मुनि के स्नान का त्याग कहा और हम ऐसे भी सुनते हैं कि यदि चांडाल आदि का स्पर्श हो जावे तो दंडस्नान करते हैं ।

समाधान – जैसे गृहस्थ स्नान करता है वैसे स्नान करने का त्याग है, क्योंकि इसमें हिंसाकी अधिकता है, मुनि के स्नान ऐसा है कि-कमंडलुमें प्रासुक जल रहता है उससे मंत्र पढ़कर मस्तकपर धारामात्र देते हैं और उस दिन उपवास करते हैं तो ऐसा स्नान तो नाममात्र स्नान है, यहाँ मंत्र और तपस्नान प्रधान है, जलस्नान प्रधान नहीं है, इस प्रकार जानना ॥९८॥

+ आत्म-स्वभाव से विपरीत को बाह्य क्रिया-कर्म निष्फल -

**किं काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु
किं काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥९९॥
जदि पढदि बहु सुदाणि य जदि काहिदि बहुविहं च चारित्तं
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीदं ॥१००॥**

अन्वयार्थ : [आदसहावस्स विवरीदो] आत्म-स्वभाव से विपरीत को [किं काहिदि बहिकम्मं] बाह्यकर्म क्या करेगा ? [किं काहिदि बहुविहं च खवणं तु] बहुत अनेक प्रकार श्रमण अर्थात् उपवासादि बाह्य तप भी क्या करेगा ? [किं काहिदि आदावं] आतापनयोग आदि कायक्लेश क्या करेगा ? [अप्पस्स विवरीदं] आत्म-स्वभाव से विपरीत [जदि पढदि बहु सुदाणि] यदि बहुत शास्त्रों को पढ़े [य] और [जदि काहिदि बहुविहं च चारित्तं] यदि बहुत प्रकार के चारित्र का आचरण करे तो [तं बालसुदं चरणं] वह सब ही बाल-श्रुत और बाल-चारित्र [हवेइ] होता है ।

छाबडा :

**किं करिष्यति बहिः कर्म किं करिष्यति बहुविधं च क्षमणं तु; किं करिष्यति आतापः आत्मस्वभावात् विपरीतः ॥
९९॥; यदि पठति बहुश्रुतानि च यदि करिष्यति बहुविध च चारित्रं; तत् बालश्रुतं चरणं भवति आत्मनः विपरीतम् ॥
१००॥**

बाह्य क्रिया-कर्म शरीराश्रित है और शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है, जड़ की क्रिया तो चेतन को कुछ फल करती नहीं है, जैसा चेतना का भाव जितना क्रिया में मिलता है उसका फल चेतन को लगता है । चेतन का अशुभ-उपयोग मिले तब अशुभ-कर्म बँधे और शुभ-उपयोग मिले तब शुभ-कर्म बँधता है और जब शुभ-अशुभ दोनों से रहित उपयोग होता है तब कर्म नहीं बँधता है, पहिले बँधे हुए कर्मों की निर्जरा करके मोक्ष करता है । इस प्रकार चेतना उपयोग के अनुसार फलती है,

इसलिये ऐसे कहा है कि बाह्य क्रिया-कर्म से तो कुछ मोक्ष होता नहीं है, शुद्ध-उपयोग होने पर मोक्ष होता है । इसलिये दर्शन-ज्ञान उपयोगों का विकार मेटकर शुद्ध-ज्ञानचेतना का अभ्यास करना मोक्ष का उपाय है ॥९९॥

+ ऐसा साधु मोक्ष पाता है -

**वेरगपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥१०१॥
गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥१०२॥**

अन्वयार्थ : [वेरगपरो] वैराग्य में तत्पर [य] और [परदव्वपरम्मुहो जो होदि] पर-द्रव्य से पराङ्मुख होता है वह [साहू] साधु [संसारसुहविरत्तो] संसार-सुख से विरक्त हो, [सगसुद्धसुहेसु] अपने आत्मीक शुद्ध (कषायों के क्षोभ से रहित) सुख में [अणुरत्तो] अनुरक्त (लीन) होता है ।

जो [साहू] साधु [गुणगणविहूसियंगो] मूलगुण, उत्तरगुणों से आत्मा को अलंकृत / शोभायमान किये हो, [हेयोपादेयणिच्छिदो] हेय-उपादेय तत्त्व का निश्चय हो, [झाणज्झयणे] ध्यान और अध्यान में [सुरदो] भली प्रकार लीन [सो पावइ उत्तमं ठाणं] वह उत्तम-स्थान (मोक्ष) पाता है ।

छाबडा :

**वैराग्यपरः साधुः परद्रव्यपराङ्मुखश्च यः भवतिः; संसारसुखविरक्तः स्वकशुद्धसुखेषु अनुरक्तः ॥
१०१॥; गुणगणविभूषितांगः हेयोपादेयनिश्चितः साधुः; ध्यानाध्ययने सुरतः सः प्राप्नोति उत्तमं स्थानम् ॥१०२॥**

ऐसा साधु उत्तम स्थान जो मोक्ष उसकी प्राप्ति करता है अर्थात् जो साधु वैराग्य में तत्पर हो संसार-देह-भोगों से पहिले विरक्त होकर मुनि हुआ उसी भावना युक्त हो, पर-द्रव्य से पराङ्मुख हो, जैसे वैराग्य हुआ वैसे ही पर-द्रव्य का त्यागकर उससे पराङ्मुख रहे, संसार संबंधी इन्द्रियों के द्वारा विषयों से सुख सा होता है उससे विरक्त हो, अपने आत्मीक शुद्ध अर्थात् कषायों के क्षोभ से रहित निराकुल, शांतभावरूप ज्ञानानन्द में अनुरक्त हो, लीन हो, बारंबार उसीकी भावना रहे ।

जिसका आत्म-प्रदेशरूप अंग गुण से विभूषित हो, जो मूलगुण, उत्तरगुणों से आत्मा को अलंकृत / शोभायमान किये हो, जिसके हेय-उपादेय तत्त्व का निश्चय हो, निज आत्म-द्रव्य तो उपादेय है और ऐसा जिसके निश्चय हो कि -- अन्य पर-द्रव्य के निमित्त से कहे हुए अपने विकारभाव ये सब हेय हैं । साधु होकर आत्मा के स्वभाव के साधने में भलीभाँति तत्पर हो, धर्म-शुक्ल ध्यान और अध्यात्म शास्त्रों को पढ़कर ज्ञान की भावना में तत्पर हो, सुरत हो, भले प्रकार लीन हो । ऐसा साधु उत्तम स्थान जो लोक-शिखर पर सिद्ध-क्षेत्र तथा मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानों से परे शुद्ध-स्वभावरूप मोक्ष-स्थान को पाता है ।

+ सब से उत्तम पदार्थ -- शुद्ध-आत्मा इस देह में ही रह रहा है, उसको जानो -

**णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्यं किं पि तं मुणह ॥१०३॥**

अन्वयार्थ : [णविएहिं जं णविज्जइ] नमन करने योग्य जिसे नमन करते हैं [झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं] ध्यान करने योग्य जिसका अनवरत ध्यान करते हैं [थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ] स्तुति करने योग्य जिसकी स्तुति करते हैं [देहत्यं] देह में स्थित [किं पि तं मुणह] ऐसा क्या है उसे जानो ।

छाबडा :

नतैः यत् नम्यते ध्यायते ध्यातैः अनवरतम्; स्तूयमानैः स्तूयते देहस्थं किमपि तत् जानीत ॥१०३॥

शुद्ध परमात्मा है वह यद्यपि कर्म से आच्छादित है, तो भी भेद-ज्ञानी इस देह ही में स्थित का ही ध्यान करके तीर्थकरादि भी मोक्ष प्राप्त करते हैं, इसलिये ऐसा कहा है कि -- लोक में नमने योग्य तो इंद्रादिक हैं और ध्यान करने योग्य तीर्थकरादिक हैं तथा स्तुति करने योग्य तीर्थकरादिक हैं वे भी जिसको नमस्कार करते हैं, जिसका ध्यान करते हैं स्तुति करते हैं ऐसा कुछ वचन के अगोचर भेदज्ञानियों के अनुभवगोचर परमात्मा वस्तु है, उसका स्वरूप जानो, उसको नमस्कार करो, उसका ध्यान करो, बाहर किसलिये ढूँढ़ते हो, इस प्रकार उपदेश हैं ॥१०३॥

+ आत्मा ही मुझे शरण है -

**अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंच परमेष्ठी
ते वि हु चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०४॥
सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तव चेव
चउरो चिट्ठहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०५॥**

अन्वयार्थ : [अरुहा] अर्हन्त, [सिद्धायरिया] सिद्ध, आचार्य [उज्झाया] उपाध्याय और [साहु] साधु ये [पंच परमेष्ठी] पंच परमेष्ठी हैं [ते वि हु चिट्ठहि आदे] वे भी आत्मा में ही चेष्टारूप हैं, [तम्हा आदा हु मे सरणं] इसलिये मेरी आत्मा ही मुझे शरण है ।

[सम्मत्तं] सम्यग्दर्शन, [सण्णाणं] सम्यग्ज्ञान, [सच्चारित्तं] सम्यक्चारित्र [च] और [सत्तव] सम्यक् तप [एव] भी, ये [चउरो] चारों (आराधना) [चिट्ठहि आदे] आत्मा में ही चेष्टारूप हैं, [तम्हा आदा हु मे सरणं] इसलिए मेरे आत्मा ही मुझे शरण है ॥ १०५॥

छाबडा :

अर्हन्तः सिद्धा आचार्या उपाध्यायाः साधवः पंच परमेष्ठिनः, ते अपि स्फुटं तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा स्फुटं मे शरणं ॥१०४॥; सम्यक्त्वं सज्ज्ञानं सच्चारित्रं हि सत्तपः चेव, चत्वारः तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा स्फुटं मे शरणं ॥ १०५॥

ये पाँच पद आत्मा ही के हैं,

- जब यह आत्मा घाति-कर्म का नाश करता है तब अरहन्त-पद होता है,
- वही आत्मा अघाति-कर्मों का नाशकर निर्वाण को प्राप्त होता है तब सिद्ध-पद कहलाता है,
- जब शिक्षा-दीक्षा देनेवाला मुनि होता है तब आचार्य कहलाता है,
- पठन-पाठन में तत्पर मुनि होता है तब उपाध्याय कहलाता है और
- जब रत्नत्रय-स्वरूप मोक्ष-मार्ग को केवल साधता है, तब साधु कहलाता है,

इस प्रकार पाँचों पद आत्मा ही में हैं । सो आचार्य विचार करते हैं कि जो इस देह में आत्मा स्थित है सो यद्यपि (स्वयं) कर्म आच्छादित हैं तो भी पाँचों पदों के योग्य है, इसी के शुद्ध-स्वरूप का ध्यान करना, पाँचों पदों का ध्यान है, इसलिए मेरे इस आत्मा ही का कारण है ऐसी भावना की है और पंच परमेष्ठी का ध्यान-रूप अंत-मंगल बताया है ॥१०४॥

आत्मा का निश्चय-व्यवहारात्मक तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप परिणाम सम्यग्दर्शन है, संशय विमोह विभ्रम से रहित और निश्चय-व्यवहार से निजस्वरूप का यथार्थ जानना सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान से तत्त्वार्थों को जानकर रागद्वेषादि के रहित परिणाम होना सम्यक्चारित्र है, अपनी शक्ति अनुसार सम्यग्ज्ञानपूर्वक कष्टका आदर कर स्वरूप का साधना सम्यक्तप है, इस प्रकार ये चारों ही परिणाम आत्मा के हैं, इसलिये आचार्य कहते हैं कि मेरे आत्मा ही का शरण है, इसीकी भावना में चारों आ गये ।

अंतःसल्लेखना में चार आराधना का आराधन कहा है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चारों का उद्योत, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण ऐसे पंचप्रकार आराधना कही है, वह आत्मा को भाने में (--आत्मा की भावना--एकाग्रता करने में) चारों आगये, ऐसे अंतःसल्लेखना की भावना इसी में आ गई ऐसे जानना तथा आत्मा ही परम मंगलरूप है ऐसा भी बताया है ॥१०५॥

एवं जिणपण्णत्तं मोक्खस्स य पाहुडं सुभत्तीए जो पढइ सुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं ॥१०६॥

अन्वयार्थ : [एवं] इसप्रकार [जिणपण्णत्तं] जिनदेव के कहे हुए [मोक्खस्स य पाहुडं] मोक्षपाहुड़ को [सुभत्तीए] भक्तिभाव से [जो पढइ] जो पढ़ते हैं, [सुणइ] सुनते हैं, [भावइ] चिंतवनरूप भावना करते हैं [सो पावइ सासयं सोक्खं] वे शाश्वत सुख (मोक्ष) पाते हैं ।

छाबडा :

एवं जिनप्रज्ञप्तं मोक्षस्य च प्राभूतं सुभक्त्या,;यः पठति शृणोति भावयति सः प्राप्नोति शाश्वतं सौख्यं ॥१०६॥

मोक्षपाहुड़ में मोक्ष और मोक्ष के कारण का स्वरूप कहा है और जो मोक्ष के कारण का स्वरूप अन्य प्रकार मानते हैं उनका निषेध किया है, इसलिये इस ग्रंथ के पढ़ने, सुनने से उसके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान-श्रद्धान-आचरण होता है, उस ध्यान से कर्म का नाश होता है और इसकी बारंबार भावना करने से उसमें दृढ़ होकर एकाग्र-ध्यान की सामर्थ्य होती है, उस ध्यान से कर्म का नाश होकर शाश्वत सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है । इसलिये इस ग्रंथ को पढ़ना-सुनना-निरन्तर भावना रखनी ऐसा आशय है ॥१०६॥

इस प्रकार श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने यह मोक्षपाहुड़ ग्रंथ संपूर्ण किया । इसका संक्षेप इस प्रकार है कि -- यह जीव शुद्ध दर्शन-ज्ञानमयी चेतना-स्वरूप है तो भी अनादि ही से पुद्गल कर्म के संयोग से अज्ञान मिथ्यात्व, राग-द्वेषादिक विभावरूप परिणमता है इसलिये नवीन कर्म-बंध के संतान से संसार में भ्रमण करता है । जीव की प्रवृत्ति के सिद्धांत में समान्यरूप से चौदह गुणस्थान निरूपण किये हैं -- इनमें मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान होता है, मिथ्यात्व की सहकारिणी अनंतानुबंधी कषाय है, केवल उसके उदय से सासादन गुणस्थान होता है और सम्यक्त्व-मिथ्यात्व दोनों के मिलापरूप मिश्र-प्रकृति के उदय से मिश्र-गुणस्थान होता है, इन तीन गुणस्थानों में तो आत्म-भावना का अभाव ही है ।

जब कालादिलब्धि के निमित्त से जीवाजीव पदार्थों का ज्ञान-श्रद्धान होने पर सम्यक्त्व होता है तब इस जीव को अपना और पर का, हित-अहित का तथा हेय-उपादेय का जानना होता है तब आत्मा की भावना होती है तब अविरत नाम चौथा गुणस्थान होता है । जब एकदेश परद्रव्य से निवृत्ति का परिणाम होता है तब जो एकदेश चारित्ररूप पाँचवाँ गुणस्थान होता है उसको श्रावकपद कहते हैं । सर्वदेश परद्रव्य से निवृत्तिरूप परिणाम हो तब सकल-चारित्ररूप छठा गुणस्थान होता है, इसमें कुछ संज्वलन चारित्रमोह के तीव्र उदय से स्वरूप के साधने में प्रमाद होता है, इसलिये इसका नाम प्रमत्त है, यहाँ ये लगाकर ऊपर के गुणस्थानवालों को साधु कहते हैं ।

जब संज्वलन चारित्रमोह का मंद उदय होता है तब प्रमाद का अभाव होकर स्वरूप के साधने में बड़ा उद्यम होता है तब इसका नाम अप्रमत्त ऐसा सातवाँ गुणस्थान है, इसमें धर्म-ध्यान की पूर्णता है । जब इस गुणस्थान में स्वरूप में लीन हो तब सातिशय अप्रमत्त होता है, श्रेणी का प्रारंभ करता है तब इससे ऊपर चारित्र-मोह का अव्यक्त उदयरूप अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसंपराय नाम धारक ये तीन गुणस्थान होते हैं । चौथे से लगाकर दसवें सूक्ष्मसंपराय तक कर्म की निर्जरा विशेषरूप से गुण-श्रेणी रूप होती है ।

इससे ऊपर मोहकर्म के अभावरूप ग्यारहवाँ, बारहवाँ, उपशांतकषाय, क्षीणकषाय गुणस्थान होते हैं । इसके पीछे शेष तीन घातिया कर्मों का नाशकर अनंत चतुष्टय प्रगट होकर अरहंत होता है यह सयोगी जिन नाम गुणस्थान है, यहाँ योगकी प्रवृत्ति है । योगों का निरोधकर अयोगी जिन नाम का चौदहवाँ गुणस्थान होता है, यहाँ अघातिया कर्मों का भी नाश करके लगता ही अनंतर समय में निर्वाण-पद को प्राप्त होता है, यहाँ संसार के अभाव से मोक्ष नाम पाता है ।

इस प्रकार सब कर्मों का अभावरूप मोक्ष होता है, इसके कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहे, इनकी प्रवृत्ति चौथे गुणस्थान से सम्यक्त्व प्रगट होनेपर एकदेश होती है, यहाँ से लगाकर आगे जैसे-जैसे कर्म का अभाव होता है वैसे-वैसे सम्यग्दर्शन आदि की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है और जैसे-जैसे इनकी प्रवृत्ति बढ़ती है वैसे-वैसे कर्म का अभाव होता जाता है, जब घाति कर्म का अभाव होता है तब तेरहवें गुणस्थान में अरहंत होकर जीवन-मुक्त कहलाते हैं और चौदहवें-गुणस्थान के अंत में रत्नत्रय की पूर्णता होती है, इसलिये अघाति कर्म का भी नाश होकर अभाव होता है तब साक्षात् मोक्ष होकर सिद्ध कहलाते हैं ।

इसप्रकार मोक्ष का और मोक्ष के कारणका स्वरूप जिन-आगम से जानकर और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष के कारण कहे हैं इनको निश्चय-व्यवहाररूप यथार्थ जानकर सेवन करना । तप भी मोक्ष का कारण है उसे भी चारित्र में अंतर्भूत कर

त्रयात्मक ही कहा है। इस प्रकार इन कारणों से प्रथम तो तद्भव ही मोक्ष होता है। जबतक कारण की पूर्णता नहीं होती है उससे पहिले कदाचित् आयुकर्म की पूर्णता हो जाय तो स्वर्ग में देव होता है, वहाँ भी यह वांछा रहती है, यह शुभोपयोग का अपराध है, यहां से चयकर मनुष्य होऊँगा तब सम्यग्दर्शनादि मोक्षमार्ग का सेवनकर मोक्ष प्राप्त करूँगा, ऐसी भावना रहती है तब वहाँ से चयकर मोक्ष पाता है।

अभी इस पंचमकाल में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री का निमित्त नहीं है इसलिये तद्भव मोक्ष नहीं है, तो भी जो रत्नत्रय का शुद्धतापूर्वक पालन करे तो यहाँ से देव पर्याय पाकर पीछे मनुष्य होकर मोक्ष पाता है। इसलिये यह उपदेश है -- जैसे बने वैसे रत्नत्रय की प्राप्ति का उपाय करना, इसमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है इसका उपाय तो अवश्य चाहिये इसलिये जिनागम को समझकर सम्यक्त्व का उपाय अवश्य करना योग्य है, इसप्रकार इस ग्रंथ का संक्षेप जानो।

लिंग-पाहुड

+ इष्ट को नमस्कार कर ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा -

**काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं
वोच्छामि समणलिंगं पाहुडसत्थं समासेण ॥१॥**

अन्वयार्थ : कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि मैं [अरहंताणं] अरहन्तों को और [तहेव] वैसे ही [सिद्धाणं] सिद्धों को [णमोकारं] नमस्कार [काऊण] करके तथा जिसमें [समणलिंगं] श्रमणलिंग का निरूपण है इस प्रकार [पाहुडसत्थं] पाहुडशास्त्र को [समासेण] संक्षेप में [वोच्छामि] कहूँगा।

छाबडा :

कृत्वा नमस्कारं अर्हतां तथैव सिद्धानाम् ; वक्ष्यामि श्रमणलिंगं प्राभृतशास्त्रं समासेन ॥१॥

इस काल में मुनि का लिंग जैसा जिनदेव ने कहा है उसमें विपर्यय हो गया, उसका निषेध करने के लिए यह लिंगनिरूपण शास्त्र आचार्य ने रचा है, इसकी आदि में घातिकर्म का नाशकर अनंतचतुष्टय प्राप्त करके अरहंत हुए, इन्होंने यथार्थरूप से श्रमण का मार्ग प्रवर्तया और उस लिंग को साधकर सिद्ध हुए, इसप्रकार [अरहंताणं] अरहंत [तहेव] तथा [सिद्धाणं] सिद्धों को [णमोकारं] नमस्कार [काऊण] करके [समणलिंगं] श्रमण-लिंग को [समासेण] समूह में कहने वाला [पाहुडसत्थं] लिंग-पाहुड ग्रन्थ [वोच्छामि] कहूँगा ॥१॥

+ बाह्यभेष अंतरंग-धर्म सहित कार्यकारी है -

**धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो ॥२॥**

अन्वयार्थ : [धम्मेण] धर्म से [लिंगं] लिंग [होइ] होता है परन्तु [लिंगमत्तेण] लिंग मात्र ही से [धम्मसंपत्ती] धर्म की प्राप्ती [ण] नहीं है, इसलिये हे भव्य-जीव ! तू [भावधम्मं] भाव-रूप धर्म को [जाणेहि] जान और केवल [लिंगेण] लिंग ही से [ते] तेरा [किं] क्या [कायव्वो] कार्य होता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं होता है।

छाबडा :

धर्मेण भवति लिंगं न लिंगमात्रेण धर्मसंप्राप्तिः; जानीहि भावधर्म किं ते लिंगेन कर्तव्यम् ॥2॥

यहाँ ऐसा जानो कि -- लिंग ऐसा चिह्न का नाम है, वह बाह्य भेष धारण करना मुनि का चिह्न है, ऐसा यदि अंतरंग वीतराग-स्वरूप धर्म हो तो उस सहित तो यह चिह्न सत्यार्थ होता है और इस वीतराग-स्वरूप आत्मा के धर्म के बिना लिंग जो बाह्य भेषमात्र से धर्म की संपत्ति / सम्यक् प्राप्ति नहीं है, इसलिये उपदेश दिया है कि अंतरंग भाव-धर्म राग-द्वेष-रहित आत्मा का शुद्ध ज्ञान-दर्शनरूप स्वभावधर्म है उसे हे भव्य ! तू जान, इस बाह्य लिंग भेषमात्र से क्या काम है ? कुछ भी नहीं । यहाँ ऐसा भी जानना कि जिनमत में लिंग तीन कहे हैं -- एक तो मुनि का यथाजात दिगम्बर लिंग, दूजा उत्कृष्ट श्रावक का, तीजा आर्यिका का, इन तीनों ही लिंगों को धारण कर भ्रष्ट हो जो कुक्रिया करते हैं इसका निषेध है । अन्यमत के कई भेष हैं इनको भी धारण करके जो कुक्रिया करते हैं वह भी निंदा पाते हैं, इसलिये भेष धारण करके कुक्रिया नहीं करना ऐसा बताया है ॥2॥

+ निर्ग्रथ लिंग ग्रहणकर कुक्रिया करके हँसी करावे, वे पापबुद्धि -

जो पावमोहिदमदी लिंगं घेतूण जिणवरिंदाणं उवहसदि लिंगिभावं लिंगिम्मिय णारदो लिंगी ॥3॥

अन्वयार्थ : जो [जिणवरिंदाणं] जिनवरेन्द्र अर्थात् तीर्थकर देव के [लिंगं] लिंग नग्न दिगम्बर-रूप को [घेतूण] ग्रहण करके [लिंगिभावं] लिंगीपने के भाव को [उवहसदि] उपहसता है -- हास्यमात्र समझता है [लिंगी] वह लिंगी अर्थात् भेषी जिसकी [पावमोहिदमदी] बुद्धि पाप से मोहित है वह [णारदो] नारद जैसा है ।

छाबडा :

यः पापमोहितमतिः लिंगं गृहीत्वा जिनवरेन्द्राणाम्; उपहसति लिंगिभावं लिंगिषु नारदः लिंगी ॥3॥

लिंगधारी होकर भी पापबुद्धि से कुछ कुक्रिया करे तब उसने लिंगपने को हास्यमात्र समझा, कुछ कार्यकारी नहीं समझा । लिंगीपना तो भावशुद्धि से शोभा पाता है, जब भाव बिगड़े तब बाह्य कुक्रिया करने लग गया तब इसने उस लिंग को लजाया और अन्य लिंगियों के लिंग को भी कलंक लगाया, लोग कहने कि लिंगी ऐसे ही होते हैं अथवा जैसे नारद का भेष है उसमें वह अपनी इच्छानुसार स्वच्छंद प्रवर्तता है, वैसे ही यह भी भेषी ठहरा, इसलिये आचार्य ने ऐसा आशय धारण करके कहा है कि जिनेन्द्र के भेष को लजाना योग्य नहीं है ॥3॥

+ लिंग धारण करके कुक्रिया करे उसको प्रगट कहते हैं -

णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥4॥

अन्वयार्थ : जो [लिंगरूवेण] लिंग-रूप करके [णच्चदि] नृत्य करता है, [गायदि] गाता है, [तावं] एवं [वायं] वादित्र [वाएदि] बजाता है सो [पावमोहिदमदी] पाप से मोहित बुद्धिवाला है, [तिरिक्खजोणी] तिर्यच-योनि है, पशु है, [ण सो समणो] श्रमण नहीं है ।

छाबडा :

नृत्यति गायति तावत् वाद्यं वादयति लिंगरूपेण; सः पापमोहितमतिः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥4॥

लिंग धारण करके भाव बिगाड़कर नाचना, गाना, बजाना इत्यादि क्रियायें करता है वह पापबुद्धि है पशु है अज्ञानी है, मनुष्य नहीं है, मनुष्य हो तो श्रमणपना रखे । जैसे नारद भेषधारी नाचता है गाता है बजाता है, वैसे यह भी भेषी हुआ तब उत्तम भेष को लजाया, इसलिये लिंग धारण करके ऐसा होना युक्त नहीं है ॥4॥

+ फिर कहते हैं -

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥5॥

अन्वयार्थ : जो निर्ग्रन्थ लिंग धारण करके परिग्रह को [सम्मूहदि] संग्रह-रूप करता है अथवा उसकी वांछा चिंतवन ममत्व करता है और उस परिग्रह की [रक्खेदि] रक्षा करता है उसका [बहुपयत्तेण] बहुत यत्न करता है, उसके लिये [अट्टंझाएदि] आर्त्तध्यान निरंतर ध्याता है, सो [पावमोहिदमदी] पाप से मोहित बुद्धिवाला है, [तिरिक्खजोणी] तिर्यच-योनि है, पशु है, [ण सो समणो] वह श्रमण नहीं है ।

छाबडा :

समूहयति रक्षति च आर्त्तं ध्यायति बहुप्रयत्नेन;;सः पापमोहितमतिः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥5॥

जो निर्ग्रन्थ लिंग धारण करके परिग्रह को संग्रह-रूप करता है अथवा उसकी वांछा चिंतवन ममत्व करता है और उस परिग्रह की रक्षा करता है उसका बहुत यत्न करता है, उसके लिये आर्त्तध्यान निरंतर ध्याता है, वह पाप से मोहित बुद्धिवाला है, तिर्यचयोनि है, पशु है, अज्ञानी है, श्रमण तो नहीं है श्रमणपने को बिगाड़ता है, ऐसे जानना ॥5॥

+ फिर कहते हैं -

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥6॥

अन्वयार्थ : जो लिंगी [बहुमाणगव्विओ] बहुत मान कषाय से गर्वमान हुआ [णिच्चं] निरंतर [कलहं] कलह करता है, [वादं] वाद करता है, [जूवा] द्यूत-क्रीड़ा करता है वह पापी [लिंगिरूवेण] लिंग-रूप-धारण द्वारा भी [पाओ] पाप [करमाणो] करता हुआ [णरयं] नरक को [वच्चदि] प्राप्त होता है ।

छाबडा :

कलहं वादं द्यूतं नित्यं बहुमानगर्वितः लिंगी;;व्रजति नरकं पापः कुर्वाणः लिंगिरूपेण ॥6॥

जो गृहस्थ रूप करके ऐसी क्रिया करता है उसको तो यह उलाहना नहीं है, क्योंकि कदाचित् गृहस्थ तो उपदेशादिक का निमित्त पाकर कुक्रिया करता रह जाय तो नरक न जावे, परन्तु लिंग धारण करके उसरूप से कुक्रिया करता है तो उसको उपदेश भी नहीं लगता है, इससे नरक का ही पात्र होता है ॥6॥

+ फिर कहते हैं -

पाओपहदंभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकंतारे ॥7॥

अन्वयार्थ : [लिंगिरूवेण] लिंग धारण करके [पाओ] पाप से [उपहत] घात किया गया है आत्म-भाव जिसने [य] और अब्रह्म का [सेवदी] सेवन करता है [सो] वह [पावमोहिदमदी] पाप से मोहित बुद्धिवाला [संसार] संसार-रूपी [कंतारे] वन में [हिंडदि] भ्रमण करता है ।

छाबडा :

पापोपहतभावः सेवते च अब्रह्म लिंगिरूपेण;;सः पापमोहितमतिः हिंडते संसारकान्तारे ॥7॥

पहिले तो लिंग धारण किया और पीछे ऐसा पाप-परिणाम हुआ कि व्यभिचार सेवन करने लगा, उसकी पाप-बुद्धि का क्या कहना ? उसका संसार में भ्रमण क्यों न हो ? जिसके अमृत भी जहररूप परिणमे उनके रोग जाने की क्या आशा ? वैसे ही यह हुआ, ऐसे का संसार कटना कठिन है ॥7॥

+ फिर कहते हैं -

**दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण
अट्ठं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदि ॥8॥**

अन्वयार्थ : [जइ] यदि [लिंगरूवेण] लिंगरूप करके [दंसणणाणचरित्ते] दर्शन ज्ञान चारित्र को तो [उवहाणे] उपधान-रूप [ण] नहीं किये (धारण नहीं किये) और [अट्ठं झायदि झाणं] आर्त्तध्यान को ध्याता है तो [अणंतसंसारिओ] अनन्त-संसारी [होदि] होता है ।

छाबडा :

दर्शनज्ञानचारित्राणि उपधानानि यदि न लिंगरूपेण; आर्त्तं ध्यायति ध्यानं अनंतसंसारिकः भवति ॥8॥

लिंग धारण करके दर्शन ज्ञान चारित्र का सेवन करना था वह तो नहीं किया और परिग्रह कुटुम्ब आदि विषयों का परिग्रह छोड़ा उसकी फिर चिंता करके आर्त्तध्यान ध्याने लगा तब अनंतसंसारी क्यों न हो ? इसका यह तात्पर्य है कि -- सम्यग्दर्शनादिरूप भाव तो पहिले हुए नहीं और कुछ कारण पाकर लिंग धारण कर लिया, उसकी अवधि क्या ? पहिले भाव शुद्ध करके लिंग धारण करना युक्त है ॥8॥

+ यदि भावशुद्धि के बिना गृहस्थपद छोड़े तो यह प्रवृत्ति होती है -

**जो जोडेदि विवाहं किसिकम्मवणिज्जजीवघादं च
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण ॥9॥**

अन्वयार्थ : जो गृहस्थों के परस्पर [विवाहं] विवाह [जोडेदि] जोड़ता है -- सम्बन्ध कराता है, [किसिकम्म] कृषि-कर्म, [वणिज्ज] व्यापार [च] और [जीवघादं] जीव-घात अर्थात् वैद्यकर्म के लिये जीवघात करना अथवा धीवरादि का कार्य, इन कार्यों को करता है वह [लिंगिरूवेण] लिंग-रूप-धारण द्वारा भी [पाओ] पाप [करमाणो] करता हुआ [णरयं] नरक को [वच्चदि] प्राप्त होता है ।

छाबडा :

यः योजयति विवाहं कृषिकर्मवाणिज्यजीवघातं च; व्रजति नरकं पापः कुर्वाणः लिंगिरूपेण ॥9॥

गृहस्थपद छोड़कर शुभभाव बिना लिंगी हुआ था, इसके भाव की भावना मिटी नहीं तब लिंगी का रूप धारण करके भी गृहस्थों के कार्य करने लगा, आप विवाह नहीं करता है तो भी गृहस्थों के संबंध कराकर विवाह कराता है तथा खेती, व्यापार जीवहिंसा आप करता है और गृहस्थोंको कराता है, तब पापी होकर नरक जाता है । ऐसे भेष धारण से तो गृहस्थ ही भला था, पद का पाप तो नहीं लगता, इसलिये ऐसे भेष धारण करना उचित नहीं है यह उपदेश है ॥9॥

+ फिर कहते हैं -

**चोराण लाउराण य जुद्ध विवादं च तिव्वकम्मेहिं
जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं ॥10॥**

अन्वयार्थ : जो [चोराण] चोरों के [च] और [लाउराण] झूठ बोलने वालों के [जुद्ध] युद्ध [च] और [विवाद] विवाद कराता है और [तिव्वकम्मेहिं] तीव्र-कर्म जिनमें बहुत पाप उत्पन्न हो ऐसे तीव्र कषायों के कार्यों से तथा [जंतेण] यंत्र अर्थात् चौपड़, शतरंज, पासा, हिंदोला आदि से क्रीड़ा करता रहता है, वह लिंगी [णरयवासं] नरक [गच्छदि] जाता है ।

छाबडा :

चौराणां लापराणां च युद्ध विवादं च तीव्रकर्मभिः, यंत्रेण दीव्यमानः गच्छति लिंगी नरकवासं ॥10॥

लिंग धारण करके ऐसे कार्य करे तो नरक ही पाता है इसमें संशय नहीं है ॥10॥

+ लिंग धारण करके दुःखी रहता है, आदर नहीं करता, वह भी नरक में जाता है -

**दंसणणाणचरित्ते तवसंजमणियमणिच्चकम्ममि
पीडयदि वट्टमाणो पावदि लिंगी णरयवासं ॥11॥**

अन्वयार्थ : [दंसणणाणचरित्ते] दर्शन ज्ञान चारित्र में, [तव] तप, [संजम] संयम, [णियम] नियम [णिच्चकम्ममि] नित्य-कर्म अर्थात् आवश्यक आदि क्रिया, इन क्रियाओं को करता हुआ [वट्टमाणो] वर्तमान में [पीडयदि] दुःखी होता है वह लिंगी [णरयवासं] नरकवास [पावदि] पाता है ।

छाबडा :

दर्शनज्ञान चारित्रेषु तपः संयमनियमनित्यकर्मसु, पीडयते वर्तमानः प्राप्नोति लिंगी नरकवासम् ॥11॥

लिंग धारण करके ये कार्य करने थे, इनका तो निरादर करे और प्रमाद सेवे, लिंग के योग्य कार्य करता हुआ दुःखी हो, तब जानो कि इसके भावशुद्धिपूर्वक लिंगग्रहण नहीं हुआ और भाव बिगड़ने पर तो उसका फल नरक ही होता है, इस प्रकार जानना ॥11॥

+ जो भोजन में भी रसों का लोलुपी होता है वह भी लिंग को लजाता है -

**कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं
मायी लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥12॥**

अन्वयार्थ : जो लिंग धारण करके [भोयणेसु] भोजन में भी [रसगिद्धिं] रस की गृद्धि अर्थात् अति आसक्तता को [करमाणो] करता रहता है वह [कंदप्पाइय] कंदर्प आदिक में [वट्टइ] वर्तता है, [मायी] मायवी अर्थात् कामसेवन के लिये अनेक छल करना विचारता है, [लिंगविवाई] लिंग को दूषित करता है [सो] वह [तिरिक्खजोणी] तिर्यचयोनि है, [ण सो समणो] श्रमण नहीं है ।

छाबडा :

कंदर्पादिषु वर्तते कुर्वाणः भोजनेषु रसगृद्धिम्, मायावी लिंगव्यवायी तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥12॥

गृहस्थपद छोड़कर आहार में लोलुपता करने लगा तो गृहस्थपद में अनेक रसीले भोजन मिलते थे, उनको क्यों छोड़े ? इसलिये ज्ञात होता है कि आत्मभावना के रसको पहिचाना ही नहीं है इसलिये विषयसुख की ही चाह रही तब भोजन के रसकी, साथ के अन्य भी विषयों की चाह होती है तब व्यभिचार आदि में प्रवर्तकर लिंग को लजाता है, ऐसे लिंग से तो गृहस्थपद ही श्रेष्ठ है ऐसे जानना ॥12॥

+ इसी को विशेषरूप से कहते हैं -

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुञ्जदे पिंडं अवरपरूई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो ॥13॥

अन्वयार्थ : जो लिंगधारी पिंड अर्थात् [पिंडणिमित्तं] आहार के निमित्त [धावदि] दौड़ता है, आहारके निमित्त [कलहं] कलह [काऊण] करके [भुञ्जदे पिंडं] आहार को भोगता है, खाता है, और उसके निमित्त अन्य से परस्पर ईर्षा करता है [सो समणो] वह श्रमण [जिणमग्गि] जिन-मार्गी [ण] नहीं [होइ] है ।

छाबडा :

धावति पिंडनिमित्तं कलहं कृत्वा भुंक्ते पिंडम्; अपरप्ररूपी सन् जिनमार्गी न भवति सः श्रमणः ॥13॥

इस काल में जिनलिंग से भ्रष्ट होकर अर्द्धफालक हुए, पीछे उनमें श्वेताम्बरादिक संघ हुए, उन्होंने शिथिलाचार पुष्ट कर लिंग की प्रवृत्ति बिगाड़ी, उनका यह निषेध है । इनमें अब भी कई ऐसे देखे जाते हैं जो आहार के लिये शीघ्र दौड़ते हैं, ईर्यापथकी सुध नहीं है और आहार गृहस्थ के घर से लाकर दो-चार शामिल बैठकर खाते हैं, इसमें बटवारे में, सरस, नीरस आवे तब परस्पर कलह करते हैं और उसके निमित्त परस्पर ईर्षा करते हैं, इसप्रकार की प्रवृत्ति करे तब कैसे श्रमण हुए ? वे जिनमार्गी तो हैं नहीं, कलिकाल के भेषी हैं । इनको साधु मानते हैं वे भी अज्ञानी हैं ॥13॥

+ फिर कहते हैं -

गिण्हदि अदत्तदाणं परणिंदा वि य परोक्खदूसेहिं जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो ॥14॥

अन्वयार्थ : जो [अदत्तदाणं] बिना दिया तो दान [गिण्हदि] लेता है [च] और [परोक्खदूसेहिं] परोक्ष पर के दूषणों से [परणिंदा] पर की निंदा करता है [सो] वह [समणो] श्रमण [जिणलिंगं] जिनलिंग को [धारंतो] धारण करता हुआ भी [चोरेण] चोर के समान [होइ] है ।

छाबडा :

गृह्णाति अदत्तदानं परनिंदामपि च परोक्षदूषणैः; जिनलिंगं धारयन् चोरेणैव भवति सः श्रमणः ॥14॥

जो जिनलिंग धारण करके बिना दिये आहार आदि को ग्रहण करता है, परके देने की इच्छा नहीं है परन्तु कुछ भयादिक उत्पन्न करके लेना तथा निरादर से लेना, छिपकर कार्य करना ये तो चोर के कार्य हैं । यह भेष धारण करके ऐसे करने लगा तब चोर ही ठहरा, इसलिये ऐसा भेषी होना योग्य नहीं है ॥14॥

+ जो लिंग धारण करके ऐसे प्रवर्तते हैं वे श्रमण नहीं हैं -

उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खणदि लिंगरूवेण इरियावह धारंतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥15॥

अन्वयार्थ : जो [लिंगरूवेण] लिंग रूप से [इरियावह] ईर्या-पथ [धारंतो] धारण कर भी, [उप्पडदि] उछले, [पडदि] गिर पड़े, फिर उठकर [धावदि] दौड़े और [पुढवीओ] पृथ्वी को [खणदि] खोदे, [सो] वह [समणो] श्रमण नहीं [तिरिक्खजोणी] तिर्यच-योनि / पशु है ।

छाबडा :

+ लिंग ग्रहणकर वनस्पति आदि स्थावर जीवों की हिंसा का निषेध -

बंधो णिरओ संतो सस्सं खंडेदि तह य वसुहं पि छिंददि तरुगण बहुसो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥16॥

अन्वयार्थ : जो लिंग धारण करके [बंधो] बंध को नहीं [णिरओ संतो] गिनता हुआ [सस्सं] अनाज को [खंडेदि] कूटता है [तह य] और वैसे ही [वसुहंपि] पृथ्वी को भी खोदता है तथा [बहुसो] बारबार [तरुगण] वृक्षों के समूह को [छिंददि] छेदता है, [सो] ऐसा लिंगी [तिरिक्खजोणी] तिर्यच-योनि है, पशु है, [समणो] श्रमण [ण] नहीं है ।

छाबडा :

बंधं नीरजाः सन सस्यं खंडयति तथा च वसुधामपि;; छिनत्ति तरुगणं बहुशः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥16॥

वनस्पति आदि स्थावर जीव जिनसूत्र में कहे हैं और इनकी हिंसा से कर्म-बंध होना भी कहा है उसको निर्दोष समझता हुआ कहता है कि -- इसमें क्या दोष है ? क्या बंध है? इसप्रकार मानता हुआ तथा वैद्य-कर्मादिक के निमित्त औषधादिक को, धान्य को, पृथ्वी को तथा वृक्षों को खंडता है, खोदता है, छेदता है वह अज्ञानी पशु है, लिंग धारण करके श्रमण कहलाता है वह श्रमण नहीं है ॥16॥

+ लिंग धारण करके स्त्रियों से राग करने का निषेध -

रागं करेदि णिच्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥17॥

अन्वयार्थ : जो लिंग धारण करके [महिलावग्गं] स्त्रियों के समूह के प्रति तो [रागं करेदि णिच्चं] निरंतर राग-प्रीति करता है और [परं] अन्य को [दूसेदि] दोष लगाता है वह [दंसणणाणविहीणो] दर्शन-ज्ञान रहित है, ऐसा लिंगी [तिरिक्खजोणी] तिर्यच-योनि है, पशु समान है, [समणो] श्रमण [ण] नहीं है ।

छाबडा :

रागं करोति नित्यं महिलावर्गं परं च दूषयति;; दर्शनज्ञानविहीनः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥17॥

लिंग धारण करनेवालेके सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है और परद्रव्यों से रागद्वेष नहीं करनेवाला चारित्र होता है । वहाँ जो स्त्रीसमूह से तो राग / प्रीति करता है और अन्य के दोष लगाकर द्वेष करता है, व्यभिचारी का सा स्वभाव है, तो उसके कैसा दर्शन-ज्ञान ? और कैसा चारित्र ? लिंग धारण करके लिंग के योग्य आचरण करना था वह नहीं किया तब अज्ञानी पशु समान ही है, श्रमण कहलाता है वह आप भी मिथ्यादृष्टि है और अन्य को भी मिथ्यादृष्टि करनेवाला है, ऐसे का प्रसंग भी युक्त नहीं है ॥17॥

+ फिर कहते हैं -

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥18॥

अन्वयार्थ : जो लिंगी [पव्वज्जहीणगहिणं] दीक्षा-रहित गृहस्थों पर और [सीसम्मि] शिष्यों में [बहुसो] बहुत [णेहं] स्नेह [वट्टदे] रखता है और [आयार] आचार अर्थात् मुनियों की क्रिया और [विणयहीणो] गुरुओं के विनय से रहित होता है

[सो] वह [समणो] श्रमण नहीं है [तिरिक्खजोणी] तिर्यच-योनि है, पशु है ।

छाबडा :

प्रव्रज्याहीनगृहिणि स्नेहं शिष्ये वर्तते बहुशः; आचारविनयहीनः तिर्यग्योनिः न सः श्रमणः ॥18॥

गृहस्थों से तो बारंबार लालपाल रखे और शिष्यों से बहुत स्नेह रखे, तथा मुनि की प्रवृत्ति आवश्यक आदि कुछ करे नहीं, गुरुओं के प्रतिकूल रहे, विनयादिक करे नहीं ऐसा लिंगी पशु समान है, उसको साधु नहीं कहते हैं ॥18॥

+ उपसंहार -

एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झमि वट्टदे णिच्चं
बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥19॥

अन्वयार्थ : [एवं] पूर्वोक्त प्रकार प्रवृत्ति [सहिओ] सहित [मुणिवर] मुनिवर [संजदमज्झमि] संयमियों के मध्य भी [णिच्चं] निरन्तर [वट्टदे] रहता है और [बहुलं] बहुत शास्त्रों को [अपि] भी [जाणमाणो] जानता है तो भी [सो] वह [भावविणट्ठो] भावों से नष्ट है, [समणो] श्रमण [ण] नहीं है ।

छाबडा :

एवं सहितः मुनिवर ! संयतमध्ये वर्तते नित्यम्; बहुलमपि जानन् भावविनष्टः न सः श्रमणः ॥19॥

ऐसा पूर्वोक्त प्रकार लिंगी जो सदा मुनियों में रहता है और बहुत शास्त्रों को जानता है तो भी भाव अर्थात् शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम से रहित है, इसलिये मुनि नहीं है, भ्रष्ट है, अन्य मुनियों के भाव बिगाड़नेवाला है ॥19॥

+ श्रमण को स्त्रियों के संसर्ग का निषेध -

दंसणणाणचरित्ते महिलावगमि देदि वीसट्ठो
पासत्थ वि हु णियट्ठो भावविणट्ठो ण सो समणो ॥20॥

अन्वयार्थ : जो लिंग धारण करके [महिलावगमि] स्त्रियों के समूह में उनका [वीसट्ठो] विश्वास करके और उनको विश्वास उत्पन्न कराके [दंसणणाणचरित्ते] दर्शन-ज्ञान-चारित्र को [देदि] देता है उनको सम्यक्त्व बताता है, पढ़ना-पढ़ाना, ज्ञान देता है, दीक्षा देता है, प्रवृत्ति सिखाता है, इसप्रकार विश्वास उत्पन्न करके उनमें प्रवर्तता है [सो] वह ऐसा लिंगी तो [पासत्थ] पार्श्वस्थ से [वि] भी [णियट्ठो] निकृष्ट है, प्रगट [भावविणट्ठो] भाव से विनष्ट है, [समणो] श्रमण [ण] नहीं है ।

छाबडा :

दर्शनज्ञानचारित्राणि महिलावर्गे ददाति विश्वस्तः; पार्श्वस्थादपि स्फुटं विनष्टः भावविनष्टः न सः श्रमणः ॥20॥

जो लिंग धारण करके स्त्रियों को विश्वास उत्पन्न कराकर उनसे निरंतर पढ़ना, पढ़ाना, लालपाल रखना, उसको जानो कि इसका भाव खोटा है । पार्श्वस्थ तो भ्रष्ट मुनि को कहते हैं उसमें भी यह निकृष्ट है, ऐसे को साधु नहीं कहते हैं ॥20॥

+ फिर कहते हैं -

पुच्छलिघरि जो भुञ्जइ णिच्चं संधुणदि पोसए पिंडं पावदि बालसहावं भावविणट्ठो ण सो सवणो ॥21॥

अन्वयार्थ : जो लिंगधारी [पुच्छलि] व्यभिचारिणी स्त्री के [घरि] घर [भुञ्जइ] भोजन लेता है, आहार करता है और [णिच्चं] नित्य उसकी [संधुणदि] स्तुति करता है [पिंडं] शरीर को [पोसए] पालता है वह ऐसा लिंगी [बालसहावं] बाल-स्वभाव को [पावदि] प्राप्त होता है, [भावविणट्ठो] भाव से विनष्ट है, [ण सो सवणो] वह श्रमण नहीं है ।

छाबडा :

पुंश्चलीगृहे यः भुंक्ते नित्यं संस्तौति पुष्पाति पिंडं; प्राप्नोति बालस्वभावं भावविनष्टः न सः श्रमणः ॥21॥

जो लिंग धारण करके व्यभिचारिणी का आहार खाकर पिंड पालता है, उसकी नित्य प्रशंसा करता है, तब जानो कि यह भी व्यभिचारी है, अज्ञानी है, उसको लज्जा भी नहीं आती है, इस प्रकार वह भावसे विनष्ट है, मुनित्व के भाव नहीं है, तब मुनि कैसे ?

+ जो धर्म का यथार्थरूप से पालन करता है वह उत्तम सुख पाता है -

इय लिंगपाहुडमिणं सव्वंबुद्धेहिं देसियं धम्मं पालेइ कट्टसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥22॥

अन्वयार्थ : [इय] इस प्रकार इस [लिंगपाहुडमिणं] लिंगपाहुड शास्त्र का, [सव्वंबुद्धेहिं] सर्वबुद्ध जो ज्ञानी गणधरादि उन्होंने, [देसियं] उपदेश दिया है, उसको जानकर जो मुनि [धम्मं] धर्म को [कट्टसहियं] कष्ट-सहित बड़े यत्न से [पालेइ] पालता है, रक्षा करता है [सो] वह [उत्तमं ठाणं] उत्तम-स्थान / मोक्ष को [गाहदि] पाता है ।

छाबडा :

इति लिंगप्राभृतमिदं सर्वं बुद्धैः देशितं धर्मम्; पालयति कष्टसहितं सः गाहते उत्तमं स्थानम् ॥22॥

वह मुनि का लिंग है वह बड़े पुण्य के उदय से प्राप्त होता है, उसे प्राप्त करके भी फिर खोटे कारण मिलाकर उसको बिगाड़ता है तो जानो कि यह बड़ा ही अभाग है -- चिंतामणि रत्न पाकर कौड़ी के बदले में नष्ट करता है, इसीलिये आचार्य ने उपदेश दिया है कि ऐसा पद पाकर इसकी बड़े यत्न से रक्षा करना, कुसंगति करके बिगाड़ेगा तो जैसे पहिले संसार-भ्रमण था वैसे ही फिर संसार में अनन्तकाल भ्रमण होगा और यत्न-पूर्वक मुनित्व का पालन करेगा तो शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त करेगा, इसलिये जिसको मोक्ष चाहिये वह मुनिधर्म को प्राप्त करके यत्न-सहित पालन करो, परीषह का, उपसर्ग का उपद्रव आवे तो भी चलायमान मत होओ, यह श्री सर्वज्ञदेव का उपदेश है ॥22॥

इस प्रकार यह लिंगपाहुड ग्रंथ पूर्ण किया । इसका संक्षेप इस प्रकार है कि -- इस पंचमकाल में जिनलिंग धारण करके फिर दुर्भिक्ष के निमित्त से भ्रष्ट हुए, भेष बिगाड़ दिया बे अर्द्धफालक कहलाये, इनमें से फिर श्वेताम्बर हुए, इनमेंसे भी यापनीय हुए, इत्यादि होकर के शिथिलाचार को पुष्ट करने के शास्त्र रचकर स्वच्छंद हो गये, इनमें से कितने ही निपट / बिल्कुल निंद्य प्रवृत्ति करने लगे, इनका निषेध करने के लिये तथा सबको सत्य उपदेश देने के लिये यह ग्रंथ है, इसको समझकर श्रद्धान करना । इस प्रकार निंद्य आचरणवालों को साधु / मोक्षमार्गी न मानना, इनकी वंदना व पूजा न करना यह उपदेश है ।

शील-पाहुड

+ नमस्काररूप मंगल -

वीरं विसालणयणं रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं तिविहेण पणमिऊण सीलगुणाणं णिसामेह ॥१॥

अन्वयार्थ : कुन्दकुन्द आचार्य कहते हैं कि [विसालणयणं] केवलदर्शन केवलज्ञान रूप विशालनयन हैं जिनके, [रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं] चरण रक्त कमल के समान कोमल हैं जिनके, ऐसे [वीरं] अंतिम तीर्थकर श्री वर्द्धमानस्वामी परम भट्टारक को [तिविहेण] मन वचन काय से [पणमिऊण] नमस्कार करके [सीलगुणाणं] शील अर्थात् निज-भावरूप प्रकृति उसके गुणों को अथवा शील और सम्यग्दर्शनादिक गुणों को [णिसामेह] कहूँगा ।

छाबडा :

वीरं विशालनयनं रक्तोत्पलकोमलसमपादम्; त्रिविधेन प्रणम्य शीलगुणान् निशाम्यामि ॥१॥

इसप्रकार वर्द्धमान स्वामी को नमस्काररूप मंगल करके आचार्य ने शीलपाहुड ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा की है ॥१॥

+ शील का रूप -

सीलस्स य णाणस्स य णत्थि विरोहो बुधेहिं णिद्धिट्ठो णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ॥२॥

अन्वयार्थ : [सीलस्स] शील के [य] और [णाणस्स] ज्ञान के, [बुधेहिं] ज्ञानियों ने [विरोहो] विरोध [णत्थि] नहीं [णिद्धिट्ठो] कहा है [च] और [णवरि] विशेष है वह कहते हैं -- [शीलेन] शील के [विणा] बिना [विसया] इन्द्रियों के विषय हैं वह [णाणं] ज्ञान को [विणासंति] नष्ट करते हैं ।

छाबडा :

शीलस्य च ज्ञानस्य च नास्ति विरोधो बुधैः निर्दिष्टः; केवलं च शीलेन विना विषयाः ज्ञानं विनाशयन्ति ॥२॥

यहाँ ऐसा जानना कि शील नाम स्वभाव का प्रकृति का प्रसिद्ध है, आत्मा का सामान्यरूप से ज्ञान स्वभाव है । इस ज्ञानस्वभाव में अनादि कर्मसंयोग से (पर संग करने की प्रवृत्ति से) मिथ्यात्व रागद्वेषरूप परिणाम होता है इसलिए यह ज्ञान की प्रकृति कुशील नाम को प्राप्त करती है इससे संसार बनता है, इसलिए इसको संसार प्रकृति कहते हैं, इस प्रकृति को अज्ञानरूप कहते हैं, इस कुशील-प्रकृति से संसार पर्याय में अपनत्व मानता है तथा परद्रव्यों में इष्ट अनिष्ट बुद्धि करता है ।

यह प्रकृति पलटे तब मिथ्यात्व का अभाव कहा जाय, तब फिर न संसार पर्याय में अपनत्व मानता है, न परद्रव्यों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होती है और (पद-अनुसार अर्थात्) इस भाव की पूर्णता न हो तबतक चारित्रमोह के उदय से (उदय में युक्त होने से) कुछ रागद्वेष कषाय परिणाम उत्पन्न होते हैं उनको कर्म का उदय जाने, उन भावों को त्यागने योग्य जाने, त्यागना चाहे ऐसी प्रकृति हो तब सम्यग्दर्शनरूप भाव कहते हैं, इस सम्यग्दर्शन भाव से ज्ञान भी सम्यक् नाम पाता है और पद के अनुसार चारित्र की प्रवृत्ति होती है जितने अंश रागद्वेष घटता है उतने अंश चारित्र कहते हैं ऐसी प्रकृति को सुशील कहते हैं, इसप्रकार कुशील व सुशील शब्द का सामान्य अर्थ है ।

सामान्यरूप से विचारे तो ज्ञान ही कुशील है और ज्ञान ही सुशील है, इसलिए इसप्रकार कहा है कि ज्ञान के और शील के

विरोध नहीं है, जब संसार प्रकृति पलट कर मोक्ष सन्मुख

प्रकृति हो तब सुशील कहते हैं, इसलिए ज्ञान में और शील में विशेष नहीं कहा है यदि ज्ञान में सुशील न आवे तो ज्ञान को इन्द्रियों के विषय नष्ट करते हैं, ज्ञान को अज्ञान करते हैं तब कुशील नाम पाता है ।

यहाँ कोई पूछे - गाथा में ज्ञान अज्ञान का तथा सुशील कुशील का नाम तो नहीं कहा, ज्ञान और शील ऐसा ही कहा है इसका समाधान – पहिले गाथा में ऐसी प्रतिज्ञा की है कि मैं शील के गुणों को कहूँगा अतः इसप्रकार जाना जाता है कि आचार्य के आशय में सुशील ही के कहने का प्रयोजन है, सुशील ही को शीलनाम से कहते हैं, शील बिना कुशील कहते हैं ।

यहाँ गुणशब्द उपकारवाचक लेना तथा विशेषवाचक लेना, शील से उपकार होता है तथा शील के विशेष गुण हैं वह कहेंगे । इसप्रकार ज्ञान में जो शील न आवे तो कुशील होता है, इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति होती है तब वह ज्ञान नाम नहीं प्राप्त करता, इसप्रकार जानना चाहिए । व्यवहार में शील का अर्थ स्त्री संसर्ग वर्जन करने का भी है, अतः विषय-सेवन का ही निषेध है । परद्रव्यमात्र का संसर्ग छोड़ना, आत्मा में लीन होना वह परमब्रह्मचर्य है । इसप्रकार ये शील ही के नामान्तर जानना ॥२॥

+ ज्ञान की भावना करना और विषयों से विरक्त होना दुर्लभ -

दुःखे णज्जदि णाणं णाणं णाऊण भावणा दुःखं भावियमई व जीवो विसयेसु विरज्जे दुःखं ॥३॥

अन्वयार्थ : प्रथम तो [णाणं] ज्ञान ही [दुःखे] दुःख से [णज्जदि] प्राप्त होता है, कदाचित् [णाणं] ज्ञान भी प्राप्त करे तो उसको [णाऊण] जानकर उसकी [भावणा] भावना करना, बारंबार अनुभव करना [दुःखं] दुःख से (दृढ़तर सम्यक् पुरुषार्थसे) होता है और कदाचित् [भावियमई] ज्ञान की भावना सहित भी [जीवो] जीव हो जावे तो [विसयेसु] विषयों को [दुःखं] दुःख से [विरज्जे] त्यागता है ।

छाबडा :

दुःखेनेयते ज्ञानं ज्ञानं ज्ञात्वा भावना दुःखम्; भावितमतिश्च जीवः विषयेषु विरज्यति दुःखम् ॥३॥

ज्ञान की प्राप्ति करना, फिर उसकी भावना करना, फिर विषयों का त्याग करना ये उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं और विषयों का त्याग किये बिना प्रकृति पलटी नहीं जाती है इसलिए पहिले ऐसा कहा है कि विषय ज्ञान को बिगाड़ते हैं, अतः विषयों को त्यागना ही सुशील है ॥३॥

+ विषयों में प्रवर्तता है तबतक ज्ञान को नहीं जानता है -

ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो विसए विरत्तमेत्ते ण खवेइ पुराइयं कम्मं ॥४॥

अन्वयार्थ : [जाव] जब तक यह [जीवो] जीव [विसयबलो] विषयों के वशीभूत [वट्टए] रहता है [ताव] तब तक [णाणं] ज्ञान को [ण] नहीं [जाणदि] जानता है और ज्ञान को जाने बिना केवल [विसए] विषयों में [विरत्तमेत्ते] विरक्तिमात्र ही से [पुराइयं] पहिले बँधे हुए [कम्मं] कर्मों का [खवेइ] क्षय [ण] नहीं करता है ।

छाबडा :

तावत् न जानाति ज्ञानं विषयबलः यावत् वर्तते जीवः; विषये विरक्तमात्रः न क्षिपते पुरातनं कर्म ॥४॥

जीव का उपयोग क्रमवर्ती है और स्वस्थ (स्वच्छत्व) स्वभाव है, अतः जैसे ज्ञेय को जानता है, उससमय उससे तन्मय होकर वर्तता है, अतः जबतक विषयों में आसक्त होकर वर्तता है, तबतक ज्ञान का अनुभव नहीं होता है, इष्ट अनिष्ट भाव ही रहते

हैं और ज्ञान का अनुभव किये बिना कदाचित् विषयों को त्यागे तो वर्तमान विषयों को छोड़े, परन्तु पूर्व कर्म बाँधे थे उनका तो ज्ञान का अनुभव किये बिना क्षय नहीं होता है, पूर्व कर्म के बंध का क्षय करने में (स्वसन्मुख) ज्ञान ही का सामर्थ्य है इसलिए ज्ञानसहित होकर विषय त्यागना श्रेष्ठ है, विषयों को त्यागकर ज्ञान की ही भावना करना यही सुशील है ॥४॥

+ ज्ञान का, लिंगग्रहण का तथा तप का अनुक्रम -

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्रहणं च दंसणविहूणं संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्व ॥५॥

अन्वयार्थ : [ज्ञान] ज्ञान यदि [चरित्तहीणं] चरित्ररहित हो [च] और [लिंगग्रहणं] लिंग का ग्रहण यदि [दंसणविहूणं] दर्शनरहित हो [य] तथा [संजमहीणो] संयमरहित [तवो] तप भी निरर्थक है, इस प्रकार के [सव्व] सब [चरइ] आचरण [णिरत्थयं] निरर्थक हैं ।

छाबडा :

ज्ञानं चरित्रहीनं लिङ्गग्रहणं च दर्शनविहीनं; संयमहीनं च तपः यदि चरति निरर्थकं सर्वम् ॥५॥

हेय उपादेय का ज्ञान तो हो और त्याग ग्रहण न करे तो ज्ञान निष्फल है, यथार्थ श्रद्धान के बिना भेष ले तो वह भी निष्फल है (स्वात्मानुभूति के बल द्वारा) इन्द्रियों को वश में करना, जीवों की दया करना यह संयम है इसके बिना कुछ तप करे तो अहिंसादिक विपर्यय हो तब तप भी निष्फल हो इसप्रकार से इनका आचरण निष्फल होता है ॥५॥

+ ऐसा करके थोड़ा भी करे तो बड़ा फल होता है -

णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्रहणं च दंसणविसुद्धं संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ॥६॥

अन्वयार्थ : [णाणं] ज्ञान तो [चरित्तसुद्धं] चरित्र से शुद्ध [च] और [लिंगग्रहणं] लिंग का ग्रहण [दंसणविसुद्धं] दर्शन से शुद्ध [च] तथा [संजमसहिदो] संयमसहित [तवो] तप [थोओवि] थोड़ा भी हो तो [महाफलो] महाफलरूप [होइ] होता है ।

छाबडा :

ज्ञान चरित्रशुद्धं लिङ्गग्रहणं च दर्शनविशुद्धम्; संयमसहितं च तपः स्तोकमपि महाफलं भवति ॥६॥

ज्ञान थोड़ा भी हो और आचरण शुद्ध करे तो बड़ा फल हो और यथार्थ श्रद्धापूर्वक भेष ले तो बड़ा फल करे जैसे सम्यग्दर्शनसहित श्रावक ही हो तो श्रेष्ठ और उसके बिना मुनि का भेष भी श्रेष्ठ नहीं है, इन्द्रियसंयम प्राणीसंयम सहित उपवासादिक तप थोड़ा भी करे तो बड़ा फल होता है और विषयाभिलाष तथा दयारहित बड़े कष्ट सहित तप करे तो भी फल नहीं होता है, ऐसे जानना ॥६॥

+ विषयासक्त रहते हैं वे संसार ही में भ्रमण करते हैं -

णाणं णाऊण णरा केई विसयाइभावसंसत्त । हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा ॥७॥

अन्वयार्थ : कई [णरा] पुरुष [णाणं] ज्ञान को [णाऊण] जानकर भी [केई] कदाचित् [विसयाइभावसंसत्त] विषयरूप भावों में आसक्त होते हैं [विसएसु] विषयों से [विमोहिया] विमोहित होने पर ये [मूढा] मूढ़ / मोही [चादुरगदिं] चतुर्गति रूप संसार में [हिंडंति] भ्रमण करते हैं ।

छाबडा :

ज्ञानं ज्ञात्वा नराः केचित् विषयादिभावसंसक्ताः,;हिण्डन्ते चतुर्गतिं विषयेषु विमोहितां मूढाः ॥७॥

ज्ञान प्राप्त करके विषय कषाय छोड़ना अच्छा है, नहीं तो ज्ञान भी अज्ञानतुल्य ही है ॥७॥

+ ज्ञान प्राप्त करके इसप्रकार करे तब संसार कटे -

जे पुण विसयविरत्त णाणं णाऊण भावणासहिदा
छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्त ण संदेहो ॥८॥

अन्वयार्थ : [पुण] और [जे] जो [णाणं] ज्ञान को [णाऊण] जानकर [भावणासहिदा] भावना सहित [विसयविरत्त] विषयों से विरक्त होते हैं, वे [तवगुणजुत्त] तप और गुण अर्थात् मूल-गुण उत्तर-गुण-युक्त होकर [चादुरगदिं] चतुर्गतिरूप संसार को [णसंदेहो] निःसंदेह ही [छिंदंति] छेदते हैं ।

छाबडा :

ये पुनः विषयविरक्ताः ज्ञानं ज्ञात्वा भावनासहिताः,;छिन्दन्ति चतुर्गतिं तपोगुणयुक्ताः न सन्देहः ॥८॥

ज्ञान प्राप्त करके विषय कषाय छोड़कर ज्ञान की भावना करे, मूलगुण उत्तरगुण ग्रहण करके तप करे वह संसार का अभाव करके मुक्तिरूप निर्मलदशा को प्राप्त होता है - यह शीलसहित ज्ञानरूप मार्ग है ।

+ शीलसहित ज्ञान से जीव शुद्ध होता है उसका दृष्टान्त -

जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खडियलवणलेवेण
तह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण ॥९॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [कंचणं] सुवर्ण [खडिय] सुहागा (खड़िया क्षार) और [लवणलेवेण] नमक के लेप से [विसुद्धं] विशुद्ध / निर्मल / कांतियुक्त [धम्मइयं] होता है [तह] वैसे ही [जीवो वि] जीव भी विषय-कषायों के मलरहित [विमलेण] निर्मल [णाणवि] ज्ञानरूप [सलिलेण] जल से प्रक्षालित होकर कर्मरहित [विसुद्धं] विशुद्ध होता है ।

छाबडा :

यथा काञ्चनं विशुद्धं धमत् खटिकालघणलेपेन,;तथा जीवोऽपि विशुद्धः ज्ञानविसलिलेन विमलेन ॥९॥

ज्ञान आत्मा का प्रधान गुण है, परन्तु मिथ्यात्व विषयों से मलिन है इसलिए मिथ्यात्व-विषयरूप मल को दूर करके इसकी भावना करे इसका एकाग्रता से ध्यान करे तो कर्मों का नाश करे, अनन्तचतुष्टय प्राप्त करके मुक्त होकर शुद्धात्मा होता है, यहाँ सुवर्ण का तो दृष्टान्त है वह जानना ॥९॥

+ विषयासक्ति ज्ञान का दोष नहीं, कुपुरुष का दोष -

णाणस्स णत्थि दोसो कुप्पुरिसाणं वि मंदबुद्धीणं
जे णाणगव्विदा होऊणं विसएसु रज्जंति ॥१०॥

अन्वयार्थ : [जे] जो पुरुष [णाणगव्विदा] ज्ञानगर्वित [होऊणं] होकर ज्ञानमद से [विसएसु] विषयों में [रज्जंति] रंजित होते हैं सो यह [णाणस्स] ज्ञान का [दोसो] दोष [णत्थि] नहीं है, वे [कुप्पुरिसाणं] कुपुरुष [वि] ही [मंदबुद्धीणं] मंदबुद्धि हैं उनका दोष है ।

छाबडा :

ज्ञानस्य नास्ति दोषः कापुरुषस्यापि मन्दबुद्धेः; ये ज्ञानगर्विताः भूत्वा विषयेषु रज्जन्ति ॥१०॥

कोई जाने कि ज्ञान से बहुत पदार्थों को जाने तब विषयों में रंजायमान होता है सो यह ज्ञान का दोष है, यहाँ आचार्य कहते हैं कि ऐसे मत जानो, ज्ञान प्राप्त करके विषयों में रंजायमान होता है सो यह ज्ञान का दोष नहीं है, यह पुरुष मन्दबुद्धि है और कुपुरुष है उसका दोष है, पुरुष का होनहार खोटा होता है तब बुद्धि बिगड़ जाती है फिर ज्ञान को प्राप्त कर उसके मद में मस्त हो विषयकषायों में आसक्त हो जाता है तो यह दोष-अपराध पुरुष का है, ज्ञान का नहीं है । ज्ञान का कार्य तो वस्तु को जैसी हो वैसी बता देना ही है, पीछे प्रवर्तना तो पुरुष का कार्य है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥१०॥

+ इसप्रकार निर्वाण होता है -

**णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण
होहदि परिणिव्वाणं जीवाण चरित्तसुद्धाणं ॥११॥**

अन्वयार्थ : [णाणेण] ज्ञान का [दंसणेण] दर्शन का [य] और [तवेण] तप का [सम्मसहिएण] सम्यक्त्व-भाव सहित [चरिएण] आचरण [होहदि] यदि हो तो [चरित्तसुद्धाणं] चारित्र से शुद्ध [जीवाण] जीवों को [परिणिव्वाणं] निर्वाण की प्राप्ति होती है ।

छाबडा :

ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन; भविष्यति परिनिर्वाणं जीवानां चारित्रशुद्धानाम् ॥११॥

सम्यक्त्व सहित ज्ञान दर्शन तप का आचरण करे तब चारित्र शुद्ध होकर राग-द्वेषभाव मिट जावे तब निर्वाण होता है, यह मार्ग है ॥११॥ (तप=शुद्धोपयोगरूप मुनिपना, यह हो तो २२ प्रकार व्यवहार के भेद हैं ।)

+ शील की मुख्यता द्वारा नियम से निर्वाण -

**सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढचरित्तणं
अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्तणं ॥१२॥**

अन्वयार्थ : जिन पुरुषोंका [विसएसु] विषयों से [विरत्तचित्तणं] चित्त विरक्त है, [सीलं] शील की [रक्खंताणं] रक्षा करते हैं, [दंसणसुद्धाण] दर्शन से शुद्ध हैं और जिनका [दिढचरित्तणं] चारित्र दृढ़ है ऐसे पुरुषों को [धुवं] नियम से [णिव्वाणं] निर्वाण [अत्थि] होता है ।

छाबडा :

शीलं रक्षतां दर्शनशुद्धानां दृढचारित्राणाम्; अस्ति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तनाम् ॥१२॥

विषयों से विरक्त होना ही शील की रक्षा है, इसप्रकार से जो शील की रक्षा करते हैं, उन ही के सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है और चारित्र अतिचाररहित शुद्ध-दृढ़ होता है ऐसे पुरुषों को नियम से निर्वाण होता है । जो विषयों में आसक्त हैं, उनके शील बिगड़ता है तब दर्शन शुद्ध न होकर चारित्र शिथिल हो जाता है, तब निर्वाण भी नहीं होता है, इसप्रकार निर्वाण मार्ग में शील ही प्रधान है ॥१२॥

+ अविरति को भी 'मार्ग' विषयों से विरक्त ही कहना योग्य -

विसएसु मोहिदाणं कहियं मग्गं पि इट्ठदरिसीणं उम्मग्गं दरिसीणं णाणं पि णिरत्थयं तेसिं ॥१३॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [इट्ठदरिसीणं] इष्ट मार्ग को दिखानेवाले ज्ञानी है और [विसएसु] विषयों से [मोहिदाणं] विमोहित हैं तो भी उनको [मग्गं] मार्ग की प्राप्ति [कहियं] कही है, परन्तु जो [उम्मग्गं] उन्मार्ग को [दरिसीणं] दिखानेवाले हैं [तेसिं] उनको तो [णाणं] ज्ञान की प्राप्ति भी [णिरत्थयं] निरर्थक है ।

छाबडा :

विषयेषु मोहितानां कथितो मार्गोऽपि इष्टदर्शिनां; उन्मार्ग दर्शिनां ज्ञानमपि निरर्थकं तेषाम् ॥१३॥

पहिले कहा था कि ज्ञान और शील के विरोध नहीं है और यह विशेष है कि ज्ञान हो और विषयासक्त होकर ज्ञान बिगड़े तब शील नहीं है । अब यहाँ इसप्रकार कहा है कि ज्ञान प्राप्त करके कदाचित् चारित्रमोह के उदय से (उदयवश) विषय न छूटे वहाँ तक तो उनमें विमोहित रहे और मार्ग की प्ररूपणा विषयों के त्यागरूप ही करे उसको तो मार्ग की प्राप्ति होती भी है, परन्तु जो मार्ग ही को कुमार्गरूप प्ररूपण करे विषय-सेवन को सुमार्ग बतावे तो उसकी तो ज्ञान-प्राप्ति भी निरर्थक ही है, ज्ञान प्राप्त करके भी मिथ्यामार्ग प्ररूपे उसके ज्ञान कैसा ? वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है ।

यहाँ यह आशय सूचित होता है कि सम्यक्त्वसहित अविरत सम्यग्दृष्टि तो अच्छा है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि कुमार्ग की प्ररूपणा नहीं करता है, अपने को (चारित्रदोष से) चारित्रमोह का उदय प्रबल हो तबतक विषय नहीं छूटते हैं इसलिए अविरत है परन्तु जो सम्यग्दृष्टि नहीं है और ज्ञान भी बड़ा हो, कुछ आचरण भी करे, विषय भी छोड़े और कुमार्ग का प्ररूपण करे तो वह अच्छा नहीं है, उसका ज्ञान और विषय छोड़ना निरर्थक है, इसप्रकार जानना चाहिए ॥१३॥

+ ज्ञान से भी शील की प्राथमिकता -

कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं शीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति ॥१४॥

अन्वयार्थ : जो [बहुविहाइं] बहुत प्रकार के [सत्थाइं] शास्त्रों को [जाणंता] जानते हैं और [कुमयकुसुदपसंसा] कुमत कुशास्त्र की प्रशंसा करनेवाले हैं वे [शीलवदणाणरहिदा] शीलव्रत और ज्ञान रहित हैं [ते] वे इनके [आराधया] आराधक [ण] नहीं [होंति] होते हैं ।

छाबडा :

कुमतकुश्रुतप्रशंसकाः जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि; शीलव्रतज्ञानरहिता न स्फुटं ते आराधका भवन्ति ॥१४॥

जो बहुत शास्त्रों को जानकर ज्ञान तो बहुत रखते हैं और कुमत कुशास्त्रों की प्रशंसा करते हैं तो जानो कि इनके कुमत से और कुशास्त्र से राग है प्रीति है तब उनकी प्रशंसा करते हैं - ये तो मिथ्यात्व के चिह्न हैं, जहाँ मिथ्यात्व है वहाँ ज्ञान भी मिथ्या है और विषय-कषायों से रहित होने को शील कहते हैं वह भी उसके नहीं है, व्रत भी उसके नहीं है, कदाचित् कोई व्रताचरण करता है तो भी मिथ्याचारित्ररूप है, इसलिए दर्शन ज्ञान चारित्र का आराधनेवाला नहीं है, मिथ्यादृष्टि है ॥१४॥

+ शील बिना मनुष्य जन्म निरर्थक -

रूवसिरिगव्विदाणं जुव्वलावण्णकंतिकलिदाणं सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म ॥१५॥

अन्वयार्थ : जो पुरुष [जुव्व] यौवन अवस्था सहित हैं और [लावण्ण] लावण्य सहित हैं, शरीर की [कंतिकलिदाणं] कांति / प्रभा से मंडित हैं और सुन्दर [रूवसिरिगव्विदाणं] रूपलक्ष्मी संपदा से गर्वित हैं, मदोन्मत्त हैं, परन्तु वे यदि [सीलगुण] शील और गुणों से [वज्जिदाणं] रहित हैं तो उनका [माणुसं] मनुष्य [जम्म] जन्म [णिरत्थयं] निरर्थक है ।

+ बहुत शास्त्रों का ज्ञान होते हुए भी शील ही उत्तम -

वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्येसु वेदेऊण सुदेसु य तेसु सुयं उत्तमं शीलं ॥१६॥

अन्वयार्थ : [वायरण] व्याकरण, [छंद] छंद, [वइसेसिय] वैशेषिक, [ववहार] व्यवहार, [णायसत्येसु] न्यायशास्त्र / ये शास्त्र [च] और [सुदेसु] श्रुत अर्थात् जिनागम [तेसु] इनमें [श्रुतं] श्रुत अर्थात् जिनागम को जानकर भी, इनमें [शीलम्] शील हो वही [उत्तमं] उत्तम है ।

छाबडा :

व्याकरणछन्दोवैशेषिकव्यवहारन्यायशास्त्रेषु;विदित्वा श्रुतेषु च तेषु श्रुतं उत्तमं शीलम् ॥१६॥

व्याकरणादिक शास्त्र जाने और जिनागम को भी जाने तो भी उनमें शील ही उत्तम है । शास्त्रों को जानकर भी विषयों में ही आसक्त है तो उन शास्त्रों का जानना वृथा है, उत्तम नहीं है ॥१६॥

+ जो शील गुण से मंडित हैं, वे देवों के भी वल्लभ हैं -

शीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होंति सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए ॥१७॥

अन्वयार्थ : जो [भवियाण] भव्यप्राणी [शीलगुणमंडिदाणं] शील और सम्यग्दर्शनादि गुण अथवा शील वही गुण उससे मंडित हैं उनका [देवा] देव भी [वल्लहा] वल्लभ / सहायक [होंति] होता है । जो [सुदपारयपउराणं] शास्त्र के पार पहुँचे हैं, ग्यारह अंग तक पढ़े हैं और [दुस्सीला] शीलगुण से रहित [णं] नहीं हैं, वे [लोए] लोक में [अप्पिला] न्यून हैं ।

छाबडा :

शीलगुणमण्डितानां देवा भव्यानां वल्लभा भवन्ति;;श्रुतपारगप्रचुराः नं दुःशीला अल्पकाः लोके ॥१७॥

शास्त्र बहुत जाने और विषयासक्त हो तो उसका कोई सहायक न हो, चोर और अन्यायी की लोक में कोई सहायता नहीं करता है, परन्तु शीलगुण से मंडित हो और ज्ञान थोड़ा भी हो तो उसके उपकारी सहायक देव भी होते हैं, तब मनुष्य तो सहायक होते ही हैं । शील गुणवाला सबका प्यारा होता है ॥१७॥

+ शील सहित का मनुष्यभव में जीना सफल -

सव्वे वि य परिहीणा रूवणिरूवा वि पडिदसुवया वि सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं ॥१८॥

अन्वयार्थ : जो [सव्वे] सब प्राणियों में [परिहीणा] हीन हैं, कुलादिक से न्यून हैं और [रूवणिरूवा] रूप से विरूप हैं सुन्दर नहीं है, [पडिदसुवया] अवस्था से सुन्दर नहीं हैं, वृद्ध हो गये हैं, परन्तु [जेसु] जिनमें [सीलं] शील [सुसीलं] सुशील है, स्वभाव उत्तम है, कषायादिक की तीव्र आसक्तता नहीं है [तेसिं] उनका [माणुसं] मनुष्यपना [सुजीविदं] सुजीवित है, जीना अच्छा है ।

छाबडा :

सर्वेऽपि च परिहीनाः रूपविरूपा अपि पतितसुवयसोऽसि;;शीलं येषु सुशीलं सज्जीविदं मानुष्यं तेषाम् ॥१८॥

लोक में सब सामग्री से जो न्यून हैं, परन्तु स्वभाव उत्तम है, विषय-कषायों में आसक्त नहीं हैं तो वे उत्तम ही हैं, उनका मनुष्यभव सफल है, उनका जीवन प्रशंसा के योग्य है ॥१८॥

+ जितने भी भले कार्य हैं वे सब शील के परिवार हैं -

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे सम्मद्दंसण णाणं तओ य शीलस्स परिवारो ॥१९॥

अन्वयार्थ : जीव-दया, [दम] इन्द्रियों का दमन, [सच्चं] सत्य, [अचोरियं] अचौर्य, [बंभचेरसंतोसे] ब्रह्मचर्य, संतोष, [सम्मद्दंसण] सम्यग्दर्शन, [णाणं] ज्ञान, [य] और [तओ] तप -- ये सब [शीलस्स] शील के [परिवारो] परिवार हैं ।

छाबडा :

जीवदया दमः सत्यं अचौर्यं ब्रह्मचर्यसन्तोषैः;सम्यग्दर्शनं ज्ञानं तपश्च शीलस्य परिवारः ॥१९॥

शील स्वभाव तथा प्रकृति का नाम प्रसिद्ध है । मिथ्यात्वसहित कषायरूप ज्ञान की परिणति तो दुःशील है इसको संसारप्रकृति कहते हैं, यह प्रकृति पलटे और सम्यक् प्रकृति हो वह सुशील है इसको मोक्षसन्मुख प्रकृति कहते हैं । ऐसे सुशील के 'जीवदयादिक' गाथा में कहे वे सब ही परिवार हैं, क्योंकि संसारप्रकृति पलटे तब संसारदेह से वैराग्य हो और मोक्ष से अनुराग हो तब ही सम्यग्दर्शनादिक परिणाम हों, फिर जितनी प्रकृति हो वह सब मोक्ष के सन्मुख हो, यही सुशील है । जिसके संसार का अंत आता है, उसके यह प्रकृति होती है और यह प्रकृति न हो तबतक संसारभ्रमण ही है, ऐसे जानना ॥१९॥

+ शील ही तप आदिक हैं -

शीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य शीलं विसयाण अरी शीलं मोक्खस्स सोवाणं ॥२०॥

अन्वयार्थ : [शीलं] शील ही [विसुद्धं] निर्मल [तवो] तप है, [य] और [दंसणसुद्धी] दर्शन की शुद्धता है, [य] और [णाणसुद्धी] ज्ञान की शुद्धता है, शील ही [विसयाण] विषयों का [अरी] शत्रु है और शील ही [मोक्खस्स] मोक्ष की [सोवाणं] सीढ़ी है ।

छाबडा :

शीलं तपः विशुद्धं दर्शनशुद्धिश्च ज्ञानशुद्धिश्च;शीलं विषयाणामरिः शीलं मोक्षस्य सोपानम् ॥२०॥

जीव-अजीव पदार्थों का ज्ञान करके उसमें से मिथ्यात्व और कषायों का अभाव करना यह सुशील है, यह आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, वह संसारप्रकृति मिटकर मोक्षसन्मुख प्रकृति हो तब इस शील ही के तप आदिक सब नाम हैं - निर्मल तप, शुद्ध दर्शन ज्ञान, विषय-कषायों का मेटना, मोक्ष की सीढ़ी - ये सब शील के नाम के अर्थ हैं, ऐसे शील के माहात्म्य का वर्णन किया है और यह केवल महिमा ही नहीं है, इन सब भावों के अविनाभावीपना बताया है ॥२०॥

+ विषयरूप विष महा प्रबल है -

जह विसयलुद्ध विसदो तह थावरजंगमाण घोराणं सव्वेसिं पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई ॥२१॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [विसदो] विषय सेवनरूपी विष [विसयलुब्ध] विषय-लुब्ध जीवों को विष देनेवाला है, [तह] वैसे ही [घोराणं] घोर / तीव्र [थावरजंगमाण] स्थावर-जंगम [सव्वेसिंपि] सब ही विष प्राणियों का [विणासदि] विनाश करते हैं तथापि इन सब विषों में [विसयविसं] विषयों का विष [दारुणं] उत्कृष्ट है / तीव्र [होई] है ।

छाबडा :

यथा विषयलुब्धः विषदः तथा स्थावरजङ्गमान् घोरान्,;सर्वान् अपि विनाशयति विषयविषं दारुणं भवति ॥२१॥

जैसे हस्ती, मीन, भ्रमर, पतंग आदि जीव विषयों में लुब्ध होकर विषयों के वश हो नष्ट होते हैं, वैसे ही स्थावर का विष मोहरा सोमल आदिक और जंगम का विष सर्प घोहरा आदिक का विष इन विषों से भी प्राणी मारे जाते हैं, परन्तु सब विषों में विषयों का विष अति ही तीव्र है ॥२१॥

+ विषय-रूपी विष से संसार में बारबार भ्रमण -

**वारि एक्कम्मि य जम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो
विसयविसपरिहयाणं भमंति संसारकंतारे ॥२२॥**

अन्वयार्थ : [विसवेयणाहदो] विष की वेदना से नष्ट [जीवो] जीव तो एक [जम्मे] जन्म में [एक्कम्मि] एक [वारि] बार ही ही [मरिज्ज] मरता है परंतु [विसयविसपरिहया] विषय-रूप विष से नष्ट जीव अतिशयता / बारबार [संसारकंतारे] संसार-रूपी वन में [भमंति] भ्रमण करते हैं ।

छाबडा :

वारे एकस्मिन् च जन्मनि गच्छेत् विषवेदनाहतः जीवः,;विषयविषपरिहता भ्रमन्ति संसारकान्तारे ॥२२॥

अन्य सर्पादिक के विष से विषयों का विष प्रबल है, इनकी आसक्ति से ऐसा कर्मबंध होता है कि उससे बहुत जन्म मरण होते हैं ॥२२॥

+ विषयों की आसक्ति से चतुर्गति में दुःख -

**णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणवेसु दुक्खाइं
देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासिया जीवा ॥२३॥**

अन्वयार्थ : [विसयासिया] विषयों में आसक्त [जीवा] जीव [णरएसु] नरक में अत्यंत [वेयणाओ] वेदना पाते हैं, [तिरिक्खए] तिर्चचों में तथा [माणवेसु] मनुष्यों में [दुक्खाइं] दुःखों को पाते हैं और [देवेसु] देवों में उत्पन्न हों वहाँ [वि] भी [दोहग्गं] दुर्भाग्यपना [लहंति] पाते हैं ।

छाबडा :

नरकेषु वेदनाः तिर्यक्षु मानुषेषु दुःखानि,;देवेषु अपि दौर्भाग्यं लभन्ते विषयासक्ता जीवाः ॥२३॥

विषयासक्त जीवों को कहीं भी सुख नहीं है, परलोक में तो नरक आदिक के दुःख पाते ही हैं, परन्तु इस लोक में भी इनके सेवन करने में आपत्ति व कष्ट आते ही हैं तथा सेवन से आकुलता; दुःख ही है, यह जीव भ्रम से सुख मानता है, सत्यार्थ ज्ञानी तो विरक्त ही होता है ॥२३॥

+ विषयों को छोड़ने से कुछ भी हानि नहीं है -

तुसधम्मंतबलेण य जह दव्वं ण हि णराण गच्छेदि तवसीलमंत कुसली खवंति विसयं विस व खलं ॥२४॥

अन्वयार्थ : [जह] जैसे [तुस] तुषों के [धम्मंतबलेण] चलाने से, उड़ाने से [णराण] मनुष्य का कुछ [दव्वं] द्रव्य [ण] नहीं [गच्छेदि] जाता है, वैसे ही [तवसीलमंत] तपस्वी और शीलवान् पुरुष [विसयं] विषयों रूपी [विस] विष की [खलं] खल को [कुसली] कुशलता से [खवंति] क्षेपते हैं, दूर फेंक देते हैं ।

छाबडा :

तुषधमद्वलेन च यथा द्रव्यं न हि नराणां गच्छति; तपः शीलमन्तः कुशलाः क्षिपन्ते विषयं विषमिव खलं ॥२४॥

जो ज्ञानी तप शील सहित हैं उनके इन्द्रियों के विषय खल की तरह हैं, जैसे ईख का रस निकाल लेने के बाद खल नीरस हो जाते हैं तब वे फेंक देने के योग्य ही हैं, वैसे ही विषयों को जानना, रस था वह तो ज्ञानियों ने जान लिया तब विषय तो खल के समान रहे, उनके त्यागने में क्या हानि ? अर्थात् कुछ भी नहीं है । उन ज्ञानियों को धन्य है जो विषयों को ज्ञेयमात्र जानकर आसक्त नहीं होते हैं ।

जो आसक्त होते हैं, वे तो अज्ञानी ही हैं, क्योंकि विषय तो जड़पदार्थ हैं, सुख तो उनको जानने से ज्ञान में ही था, अज्ञानी ने आसक्त होकर विषयों में सुख माना । जैसे श्वान सूखी हड्डी चबाता है तब हड्डी की नोंक मुख के तलवे में चुभती है, इससे तालवा फट जाता है और उसमें से खून बहने लगता है तब अज्ञानी श्वान जानता है कि यह रस हड्डी में से निकला है और उस हड्डी को बारबार चबाकर सुख मानता है, वैसे ही अज्ञानी विषयों में सुख मानकर बारबार भोगता है, परन्तु ज्ञानियों ने अपने ज्ञान ही में सुख जाना है, उनको विषयों के त्याग में दुःख नहीं है, ऐसे जानना ॥२४॥

+ सब अंगों में शील ही उत्तम है -

वट्टेसु य खंडेसु य भट्टेसु य विसालेसु अंगेसु अंगेसु य पप्पेसु य सव्वेसु य उत्तमं सीलं ॥२५॥

अन्वयार्थ : प्राणी के देह में कई [अंगेसु] अंग तो [वट्टेसु] गोल सुघट प्रशंसा योग्य होते हैं [य] और कई अंग [खंडेसु] अर्द्ध गोल सदृश प्रशंसा योग्य होते हैं, कई अंग [भट्टेसु] भद्र अर्थात् सरल सीधे प्रशंसा योग्य होते हैं और कई अंग [विसालेसु] विस्तीर्ण चौड़े प्रशंसा योग्य होते हैं, इसप्रकार [सव्वेसु] सबही [अंगेसु] अंग यथास्थान शोभा [पप्पेसु] पाते हुए भी अंगों में यह [सीलं] शील नाम का अंग ही [उत्तमं] उत्तम है, यह न तो हो सब ही अंग शोभा नहीं पाते हैं, यह प्रसिद्ध है ।

छाबडा :

वृत्तेषु च खण्डेषु च भट्टेषु च विशालेषु अङ्गेषु; अङ्गेषु च प्राप्तेषु च सर्वेषु च उत्तमं शीलं ॥२५॥

लोक में प्राणी सर्वांग सुन्दर हो, परन्तु दुःशील हो तो सब लोक द्वारा निंदा करने योग्य होता है, इसप्रकार लोक में भी शील ही की शोभा है तो मोक्ष में भी शील ही को प्रधान कहा है, जितने सम्यग्दर्शनादिक मोक्ष के अंग हैं, वे शील ही के परिवार हैं, ऐसा पहिले कह आये हैं ॥२५॥

+ विषयों में आसक्त, मूढ़, कुशील का संसार में भ्रमण -

पुरिसेण वि सहियाए कुसमयमूढेहि विसयलोलेहिं संसार भमिदव्वं अरयघरट्टं व भूदेहिं ॥२६॥

अन्वयार्थ : जो [कुसमयमूढेहि] कुमत से मूढ़ हैं वे ही अज्ञानी हैं और वे ही [विसयलोलेहिं] विषयों में लोलुपी हैं / आसक्त हैं, वे जैसे [अरयघरट्टं] अरहट में घड़ी भ्रमण करती है वैसे ही [संसार] संसार में [भमिदव्वं] भ्रमण करते हैं, [पुरिसेण] उस पुरुष के [सहियाए] साथ [भूदेहिं] अन्य जनों के [व] भी संसार में दुःखसहित भ्रमण होता है ।

छाबडा :

पुरिषेणापि सहितेन कुसमयमूढैः विषयलोलैः, संसारे भ्रमितव्यं अरहटघरट्टं इव भूतैः ॥२६॥

कुमती विषयासक्त मिथ्यादृष्टि आप तो विषयों को अच्छे मानकर सेवन करते हैं । कई कुमती ऐसे भी हैं जो इसप्रकार कहते हैं कि सुन्दर विषय सेवन करने से ब्रह्म प्रसन्न होता है (यह तो ब्रह्मानन्द है) यह परमेश्वर की बड़ी भक्ति है, ऐसा कहकर अत्यंत आसक्त होकर सेवन करते हैं । ऐसा ही उपदेश दूसरों को देकर विषयों में लगाते हैं, वे आप तो अरहट की घड़ी की तरह संसार में भ्रमण करते ही हैं, अनेकप्रकार के दुःख भोगते हैं, परन्तु अन्य पुरुषों को भी उनमें लगाकर भ्रमण कराते हैं इसलिए यह विषयसेवन दुःख ही के लिए है, दुःख ही का कारण है, ऐसा जानकर कुमतियों का प्रसंग न करना, विषयासक्तपना छोड़ना, इससे सुशीलपना होता है ॥२६॥

+ जो कर्म की गांठ विषय सेवन करके आप ही बाँधी है उसको सत्पुरुष तपश्चरणादि करके आप ही काटते हैं -

**आदेहि कम्मगंठी जा बद्धा विसयरागरंगेहिं
तं छिन्दन्ति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥२७॥**

अन्वयार्थ : [जा] जो [विसयरागरंगेहिं] विषयों के रागरंग करके [आदेहि] आप ही [कम्मगंठी] कर्म की गाँठ [बद्धा] बाँधी है [तं] उसको [कयत्था] कृतार्थ पुरुष (उत्तम पुरुष) [तवसंजमसीलयगुणेण] तप संयम शील के द्वारा प्राप्त हुआ जो गुण उसके द्वारा [छिन्दन्ति] छेदते / खोलते हैं ।

छाबडा :

आत्मनि कर्मग्रन्थिः या बद्धा विषयरागरागैः, तां छिन्दन्ति कृतार्थाः तपः संयमशीलगुणेन ॥२७॥

जो कोई आप गांठ घुलाकर बांधे उसको खोलने का विधान भी आप ही जाने, जैसे सुनार आदि कारीगर आभूषणादिक की संधि के टांका ऐसा झाले कि यह संधि अदृष्ट हो जाय तब उस संधि को टाँके का झालनेवाला ही पहिचानकर खोले वैसे ही आत्मा ने अपने ही रागादिक भावों से कर्मों की गांठ बाँधी है, उसको आप ही भेदविज्ञान करके रागादिक के और आप के जो भेद हैं उस संधि को पहिचानकर तप संयम शीलरूप भावरूप शस्त्रों के द्वारा उस कर्मबंध को काटता है, ऐसा जानकर जो कृतार्थ पुरुष हैं वे अपने प्रयोजन के करनेवाले हैं, वे इस शीलगुण को अंगीकार करके आत्मा को कर्म से भिन्न करते हैं, यह पुरुषार्थी पुरुषों का कार्य है ॥२७॥

+ जो शील के द्वारा आत्मा शोभा पाता है उसको दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं -

**उदधी व रदणभरिदो तवविणयंसीलदाणरयणाणं
सोहेंतो य ससीलो णिव्वाणमणुत्तरं पत्ते ॥२८॥**

अन्वयार्थ : जैसे [उदधी] समुद्र [रदणभरिदो] रत्नों से भरा है तो भी जल-सहित शोभा पाता है, वैसे ही यह आत्मा [तवविणयंसीलदाणरयणाणं] तप, विनय, शील, दान इन रत्नों में [ससीलो] शीलसहित [सोहेंतो] शोभने वाला, [अनुत्तरम्] जिससे आगे और नहीं है ऐसे, [णिव्वाणम्] निर्वाणपद को [पत्ते] प्राप्त करता है ।

छाबडा :

उदधिरिव रत्नभृतः तपोविनयशीलदानरत्नानाम्, शोभते य सशीलः निर्वाणमनुत्तरं प्राप्तः ॥२८॥

जैसे समुद्र में रत्न बहुत हैं तो भी जल ही से 'समुद्र' नाम को प्राप्त करता है वैसे ही आत्मा अन्य गुणसहित हो तो भी शील से निर्वाणपद को प्राप्त करता है, ऐसे जानना ॥२८॥

+ जो शीलवान पुरुष हैं वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं -

सुणहाण गद्दहाण ण गोवसुमहिलाण दीसदे मोक्खो जे सोधंति चउत्थं पिच्छिज्जंता जणेहि सव्वेहिं ॥२९॥

अन्वयार्थ : [सुणहाण] श्रान, [गद्दहाण] गर्दभ इनमें [च] और [गोवसुमहिलाण] गौ आदि पशु तथा स्त्री को [मोक्खो] मोक्ष होना [ण] नहीं [दीसदे] दिखता है । [जे] जो [चउत्थं] चतुर्थ (पुरुषार्थ) को [सोधंति] शोधते हैं उन्हीं के मोक्ष का होना [सव्वेहिं] सब [जणेहि] जन द्वारा [पिच्छिज्जंता] देखा जाता है ।

छाबडा :

शुनां गर्दभानां च गोपशुमहिलानां दृश्यते मोक्षः; ये शोधयन्ति चतुर्थं दृश्यतां जनैः सर्वैः ॥२९॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष - ये चार पुरुष के प्रयोजन कहे हैं यह प्रसिद्ध है, इसी से इनका नाम पुरुषार्थ है ऐसा प्रसिद्ध है । इसमें चौथा पुरुषार्थ मोक्ष है, उसको पुरुष ही सोधते हैं और पुरुष ही उसको हेरते हैं, उसकी सिद्धि करते हैं, अन्य श्रान गर्दभ बैल पशु स्त्री इनके मोक्ष का सोधना प्रसिद्ध नहीं है जो हो तो मोक्ष का पुरुषार्थ ऐसा नाम क्यों हो । यहाँ आशय ऐसा है कि मोक्ष शील से होता है, जो श्रान गर्दभ आदिक हैं वे तो अज्ञानी हैं, कुशीली हैं, उनका स्वभाव प्रकृति ही ऐसी है कि पलटकर मोक्ष होने योग्य तथा उसके सोधने योग्य नहीं है, इसलिए पुरुष को मोक्ष का साधन शील को जानकर अंगीकार करना, सम्यग्दर्शनादिक हैं वह तो शील ही के परिवार पहिले कहे ही हैं इसप्रकार जानना चाहिए ॥२९॥

+ शील के बिना ज्ञान ही से मोक्ष नहीं है, इसका उदाहरण -

जइ विसयलोलएहिं णाणीहि हविज्ज साहिदो मोक्खो तो सो सच्चइपुत्ते दसपुव्वीओ वि किं गदो णरयं ॥३०॥

अन्वयार्थ : [जइ] यदि [विसयलोलएहिं] विषयों में लोलुप / आसक्त और [णाणीहि] ज्ञानी [हविज्ज] होकर [मोक्खो] मोक्ष [साहिदो] साधा हो तो [सो] वह [सच्चइपुत्ते] सात्यकि पुत्र (रुद्र) [दसपुव्वीओ] दश पूर्व को जाननेवाला रुद्र [णरयं] नरक में [किं] क्यों [गदो] गया ?

छाबडा :

यदि विषयलोलैः ज्ञानिभिः भवेत् साधितः मोक्षः; तर्हि सः सात्यकिपुत्रः दशपूर्विकः किं गतः नरकं ॥३०॥

शुष्क कोरे ज्ञान ही से मोक्ष किसी ने साधा कहे तो दश पूर्व का पाठी रुद्र नरक क्यों गया ? इसलिए शील के बिना केवल ज्ञान ही से मोक्ष नहीं है, रुद्र कुशील सेवन करनेवाला हुआ, मुनिपद से भ्रष्ट होकर कुशील सेवन किया इसलिए नरक में गया, यह कथा पुराणों में प्रसिद्ध है ॥३०॥

+ शील के बिना ज्ञान से ही भाव की शुद्धता नहीं होती है -

जइ णाणेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहिं णिद्धिट्ठो दसपुव्वियस्स भावो य ण किं पुणु णिम्मलो जादो ॥३१॥

अन्वयार्थ : [जइ] यदि [णाणेण] ज्ञान से [सीलेण] शील के [विणा] बिना [विसोहो] विशुद्धता [बुहेहिं] पंडितों ने [णिद्धिट्ठो] कही हो तो [पुणु] फिर [दसपुव्वियस्स] दश पूर्व को [भावो] जाननेवाले (रुद्र) के [णिम्मलो] निर्मलता [किं] क्यों [ण] नहीं [जादो] हुई ।

छाबडा :

यदि ज्ञानेन विशुद्धः शीलेन विना बुधैर्निर्दिष्टः, दशपूर्विकस्य भावः च न किं पुनः निर्मलः जातः ॥३१॥

कोरा ज्ञान तो ज्ञेय को ही बताता है, इसलिए वह मिथ्यात्व कषाय होने पर विपर्यय हो जाता है, अतः मिथ्यात्व कषाय का मिटना ही शील है, इसप्रकार शील के बिना ज्ञान ही से मोक्ष की सिद्धि होती नहीं, शील के बिना मुनि भी हो जाय तो भ्रष्ट हो जाता है । इसलिए शील को प्रधान जानना ॥३१॥

+ यदि नरक में भी शील हो जाय और विषयों में विरक्त हो जाय तो वहाँ से निकलकर तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है -

**जाए विसयविरक्ते सो गमयदि णरयवेयणा पउरा
ता लेहदि अरुहपयं भणियं जिणवड्ढमाणेण ॥३२॥**

अन्वयार्थ : [जाए] यदि [विसयविरक्ते] विषयों से विरक्त है [सो] वह जीव [पउरा] प्रचुर [णरयवेयणा] नरक वेदना को [गमयदि] गंवाता है (वेदना अल्प हो जाती है) [ता] वह, वहाँ से निकलकर, [अरुहपयं] अरहंत पद को [लेहदि] प्राप्त होता है ऐसा [जिणवड्ढमाणेण] जिन वर्द्धमान भगवान ने [भणियं] कहा है ।

छाबडा :

यः विषयविरक्तः सः गमयति नरकवेदनाः प्रचुराः, तत् लभते अर्हत्पदं भणितं जिनवर्द्धमानेन ॥३२॥

जिनसिद्धान्त में ऐसे कहा है कि तीसरी पृथ्वी से निकलकर तीर्थंकर होता है यह भी शील का माहात्म्य है । वहाँ सम्यक्त्व सहित होकर विषयों से विरक्त हुआ भली भावना भावे तब नरक वेदना भी अल्प हो जाती है और वहाँ से निकलकर अरहंतपद प्राप्त करके मोक्ष पाता है, ऐसा विषयों से विरक्तभाव वह शील का ही माहात्म्य जानो । सिद्धान्त में इसप्रकार कहा है कि सम्यग्दृष्टि के ज्ञान और वैराग्य की शक्ति नियम से होती है, वह वैराग्यशक्ति है वही शील का एकदेश है इसप्रकार जानना ॥३२॥

+ इस कथन का संकोच करते हैं -

**एवं बहुप्पयारं जिणेहि पच्चक्खणाणदरसीहिं
सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं य लोयणाणेहिं ॥३३॥**

अन्वयार्थ : [एवं] पूर्वोक्त प्रकार तथा [बहुप्पयारं] अन्य प्रकार (बहुत प्रकार) जिनके [पच्चक्खणाणदरसीहिं] प्रत्यक्ष ज्ञान-दर्शन पाये जाते हैं और [लोयणाणेहिं] जिनके लोक-अलोक का ज्ञान है ऐसे [जिणेहि] जिनदेव ने कहा है कि [सीलेण] शील से [अक्खातीदं] अक्षातीत / इन्द्रियरहित अतीन्द्रिय ज्ञान सुख है, ऐसा [मोक्खपयं] मोक्षपद होता है ।

छाबडा :

एवं बहुप्रकारं जिनैः प्रत्यक्षज्ञानदर्शिभिः, शीलेन च मोक्षपदं अक्षातीतं च लोकज्ञानैः ॥३३॥

सर्वज्ञदेव ने इसप्रकार कहा है कि शील से अतीन्द्रिय ज्ञान सुखरूप मोक्षपद प्राप्त होता है, अतः भव्यजीव इस शील को अंगीकार करो, ऐसा उपदेश का आशय सूचित होता है, बहुत कहाँ तक कहें इतना ही बहुत प्रकार से कहा जानो ॥३३॥

+ इस शील से निर्वाण होता है उसका बहुतप्रकार से वर्णन -

**सम्मत्तणाणदंसणतववीरियपंचयारमप्पाणं
जलणो वि पवणसहिदो डहंति पोरायणं कम्मं ॥३४॥**

अन्वयार्थ : [सम्मत्तणाणदंसणतववीरिय] सम्यक्त्व-ज्ञान-दर्शन-तप-वीर्य ये [पंचयार] पंच आचार हैं वे [अप्पाणं] आत्मा का आश्रय पाकर [पोरायणं] पुरातन [कम्मं] कर्मों को वैसे ही [डहंति] दग्ध करते हैं जैसे कि [पवणसहिदो] पवन सहित [जलणो] अग्नि पुराने सूखे ईंधन को दग्ध कर देती है ।

छाबडा :

सम्यक्त्वज्ञानदर्शनतपोवीर्यपञ्चाचाराः आत्मनाम्,;ज्वलनोऽपि पवनसहितः दहन्ति पुरातनं कर्म ॥३४॥

यहाँ सम्यक्त्व आदि पंच आचार तो अग्निस्थानीय हैं और आत्मा के त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव को शील कहते हैं, यह आत्मा का स्वभाव पवनस्थानीय है वह पंच आचाररूप अग्नि और शीलरूपी पवन की सहायता पाकर पुरातन कर्मबंध को दग्ध करके आत्मा को शुद्ध करता है, इसप्रकार शील ही प्रधान है । पाँच आचारों में चारित्र कहा है और यहाँ सम्यक्त्व कहने में चारित्र ही जानना, विरोध न जानना ॥३४॥

+ ऐसे अष्टकर्मों को जिनने दग्ध किये वे सिद्ध हुए हैं -

**णिद्दङ्ढअट्टकम्मा विसयविरत्त जिदिंदिया धीरा
तवविणयसीलसहिदा सिद्धा सिद्धिं गदिं पत्त ॥३५॥**

अन्वयार्थ : जिन पुरुषों ने [जिदिंदिया] इन्द्रियों को जीत लिया है इसी से [विसयविरत्त] विषयों से विरक्त हो गये हैं, और [धीरा] धीर हैं, परिषहादि उपसर्ग आने पर चलायमान नहीं होते हैं, [तवविणयसीलसहिदा] तप, विनय, शील सहित हैं वे [णिद्दङ्ढअट्टकम्मा] अष्ट कर्मों को दूर करके [सिद्धिगदिं] सिद्धगति जो मोक्ष उसको [पत्त] प्राप्त हो गये हैं, वे [सिद्धा] सिद्ध कहलाते हैं ।

छाबडा :

निर्दग्धाष्टकर्माणः विषयविरक्ता जितेन्द्रिया धीराः,;तपोविनयशीलसहिताः सिद्धाः सिद्धिं गतिं प्राप्ताः ॥३५॥

यहाँ भी जितेन्द्रिय और विषयविरक्तता ये विशेषण शील ही को प्रधानता से दिखाते हैं ॥३५॥

+ जो लावण्य और शीलयुक्त हैं वे मुनि प्रशंसा के योग्य होते हैं -

**लावण्यसीलकुसलो जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स
सो सीलो स महप्पा भमिज्ज गुणवित्थरं भविए ॥३६॥**

अन्वयार्थ : [जस्स] जिस [सवणस्स] मुनि का [जम्ममहीरुहो] जन्मरूप वृक्ष [लावण्य] सर्व अंग सुन्दर तथा [सील] शील, इन दोनों में [कुसलो] प्रवीण / निपुण हो [सो] वे मुनि [सीलो] शीलवान् हैं, [स] वे महात्मा हैं, उनके [गुणवित्थरं] गुणों का विस्तार [भविए] लोक में [भमिज्ज] भ्रमता है, फैलता है ।

छाबडा :

लावण्यशीलकुशलः जन्ममहीरुहः यस्य श्रमणस्य,;सः शीलः स महात्मा भ्रमेत् गुणविस्तारः भव्ये ॥३६॥

ऐसे मुनि के गुण लोक में विस्तार को प्राप्त होते हैं, सर्वलोक के प्रशंसा योग्य होते हैं, यहाँ भी शील ही की महिमा जानना और वृक्ष का स्वरूप कहा, जैसे वृक्ष के शाखा, पत्र, पुष्प, फल सुन्दर हों और छायादि करके रागद्वेष रहित सब लोक का समान उपकार करे उस वृक्ष की महिमा सब लोग करते हैं ऐसे ही मुनि भी ऐसा हो तो सबके द्वारा महिमा करने योग्य होता है ॥३६॥

+ जो ऐसा हो वह जिनमार्ग में रत्नत्रय की प्राप्तिरूप बोधि को प्राप्त होता है -

णाणं ज्ञाणं जोगो दंसणसुद्धीय वीरियायत्तं सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहिं ॥३७॥

अन्वयार्थ : [णाणं] ज्ञान, [ज्ञाणं] ध्यान, [जोगो] योग, [दंसणसुद्धीय] दर्शन की शुद्धता ये तो [वीरियायत्तं] वीर्य के आधीन हैं [च] और [सम्मत्तदंसणेण] सम्यग्दर्शन से [जिणसासणे] जिनशासन में [बोहिं] बोधि को [लहंति] प्राप्त करते हैं, रत्नत्रय की प्राप्ति होती है ।

छाबडा :

ज्ञानं ध्यानं योगः दर्शनशुद्धिश्च वीर्यायत्तः; सम्यक्त्वदर्शनेन च लभन्ते जिनशासने बोधिं ॥३७॥

ज्ञान अर्थात् पदार्थों को विशेषरूप से जानना, ध्यान अर्थात् स्वरूप में एकाग्रचित्त होना, योग अर्थात् समाधि लगाना, सम्यग्दर्शन को निरतिचार शुद्ध करना - ये तो अपने वीर्य (शक्ति) के आधीन हैं, जितना बने उतना हो, परन्तु सम्यग्दर्शन से बोधि अर्थात् रत्नत्रय की प्राप्ति होती है, इसके होने पर विशेष ध्यानादिक भी यथाशक्ति होते ही हैं और इससे शक्ति भी बढ़ती है । ऐसे कहने में भी शील ही का माहात्म्य जानना, रत्नत्रय है वही आत्मा का स्वभाव है, उसको शील भी कहते हैं ॥ ३७ ॥

+ यह प्राप्ति जिनवचन से होती है -

जिणवयणगहिदसारा विसयविरत्त तवोधणा धीरा सीलसलिलेण ण्हादा ते सिद्धालयसुहं जंति ॥३८॥

अन्वयार्थ : [जिणवयण] जिनवचनों के [गहिदसारा] सार को ग्रहण कर [विसयविरत्त] विषयों से विरक्त हो गये हैं, ऐसे [धीरा] धीर [तवोधणा] मुनि [सीलसलिलेण] शीलरूप जल से [ण्हादा] स्नानकर शुद्ध होकर [सिद्धालयसुहं] सिद्धालय के सुखों को [जंति] प्राप्त होते हैं ।

छाबडा :

जिनवचनगृहीतसारा विषयविरक्ताः तपोधना धीराः; शीलसलिलेन स्नाताः ते सिद्धालयसुखं यान्ति ॥३८॥

जो जिनवचन के द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानकर उसका सार जो अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का ग्रहण करते हैं वे इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर तप अंगीकार करते हैं-मुनि होते हैं धीर वीर बनकर परिषह उपसर्ग आने पर भी चलायमान नहीं होते हैं तब शील जो स्वरूप की प्राप्ति की पूर्णतारूप चौरासी लाख उत्तरगुण की पूर्णता वही हुआ निर्मल जल, उससे स्नान करके सब कर्ममल को धोकर सिद्ध हुए, वह मोक्षमंदिर में रहकर वहाँ परमानन्द अविनाशी अतीन्द्रिय अव्याबाध सुख को भोगते हैं, यह शील का माहात्म्य है । ऐसा शील जिनवचन से प्राप्त होता है, जिनागम का निरन्तर अभ्यास करना उत्तम है ॥३८॥

+ अंतसमय में सल्लेखना कही है, उसमें दर्शन ज्ञान चारित्र तप इन चार आराधना का उपदेश है -

सव्वगुणखीणकम्मा सुहदुक्खविवज्जिदा मणविसुद्धा पप्फोडियकम्मरया हवंति आराहणापयडा ॥३९॥

अन्वयार्थ : [सव्वगुण] सर्वगुण जो मूलगुण उत्तरगुणों से जिसमें [खीणकम्मा] कर्म क्षीण हो गये हैं, [सुहदुक्खविवज्जिदा] सुख-दुःख से रहित हैं, [मणविसुद्धा] मन विशुद्ध हैं और जिसमें [कम्मरया] कर्मरूप रज को [पप्फोडिय] उड़ा दी है ऐसी [आराहणा] आराधना [पयडा] प्रगट [हवंति] होती है ।

सर्वगुणक्षीणकर्माणः सुखदुःखविवर्जिताः मनोविशुद्धाः, प्रस्फोटितकर्मरजसः भवन्ति आराधनाप्रकटाः ॥३९॥

पहिले तो सम्यग्दर्शन सहित मूलगुण व उत्तरगुणों के द्वारा कर्मों की निर्जरा होने से कर्म की स्थिति अनुभाग क्षीण होता है, पीछे विषयों के द्वारा कुछ सुख दुःख होता था उससे रहित होता है, पीछे ध्यान में स्थित होकर श्रेणी चढ़े तब उपयोग विशुद्ध हो, कषायों का उदय अव्यक्त हो, तब दुःख-सुख की वेदना मिटे, पीछे मन विशुद्ध होकर क्षयोपशम ज्ञान के द्वारा कुछ ज्ञेय से ज्ञेयान्तर होने का विकल्प होता है वह मिटकर एकत्ववितर्क अविचार नाम का शुक्लध्यान बारहवें गुणस्थान के अन्त में होता है यह मन का विकल्प मिटकर विशुद्ध होना है ।

पीछे घातिया कर्म का नाश होकर अनन्त चतुष्टय प्रकट होते हैं, यह कर्मरज का उड़ना है, इसप्रकार आराधना की संपूर्णता प्रकट होना है । जो चरमशरीरी हैं उनके तो इसप्रकार आराधना प्रकट होकर मुक्ति की प्राप्ति होती है । अन्य के आराधना का एकदेश होता है अंत में उसका आराधन करके स्वर्ग प्राप्त होता है, वहाँ सागरों पर्यंत सुख भोग कर वहाँ से चयकर मनुष्य हो आराधना को संपूर्ण करके मोक्ष प्राप्त होता है, इसप्रकार जानना, यह जिनवचन का और शील का माहात्म्य है ॥ ३९॥

+ ज्ञान से सर्वसिद्धि है यह सर्वजन प्रसिद्ध है वह ज्ञान तो ऐसा हो -

**अरहंते सुहभक्ती सम्मत्तं दंसणेण सुविसुद्धं
सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं ॥४०॥**

अन्वयार्थ : [अरहंते] अरहंत में [सुहभक्ती] शुभ भक्ति का होना [सम्मत्तं] सम्यक्त्व है, वह [दंसणेण] सम्यग्दर्शन से [सुविसुद्धं] विशुद्ध है, [विसयविरागो] विषयों से विरक्त होना [सीलं] शील है और [णाणं] ज्ञान [केरिसं] क्या [पुण] इससे भिन्न [भणियं] कहा है ?

अर्हति शुभभक्तिः सम्यक्त्वं दर्शनेन सुविशुद्धं,;शीलं विषयविरागः ज्ञानं पुनः कीदृशं भणितं ॥४०॥

यह सब मतों में प्रसिद्ध है कि ज्ञान से सर्वसिद्धि है और ज्ञान शास्त्रों से होता है । आचार्य कहते हैं कि हम तो ज्ञान उसको कहते हैं जो सम्यक्त्व और शील सहित हो, ऐसा जिनागम में कहा है, इससे भिन्न ज्ञान कैसा है ? इससे भिन्न ज्ञान को तो हम ज्ञान नहीं कहते हैं, इनके बिना तो वह अज्ञान ही है और सम्यक्त्व व शील हो वह जिनागम से होते हैं । वहाँ जिसके द्वारा सम्यक्त्व शील हुए और उसकी भक्ति न हो तो सम्यक्त्व कैसे कहा जावे, जिसके वचन द्वारा यह प्राप्त किया जाता है उसकी भक्ति हो तब जानें कि इसके श्रद्धा हुई और जब सम्यक्त्व हो तब विषयों से विरक्त होय ही हो, यदि विरक्त न हो तो संसार और मोक्ष का स्वरूप क्या जाना ? इसप्रकार सम्यक्त्व शील होने पर ज्ञान सम्यक्ज्ञान नाम पाता है । इसप्रकार इस सम्यक्त्व शील के संबंध से ज्ञान की तथा शास्त्र की महिमा है । ऐसे यह जिनागम है सो संसार से निवृत्ति करके मोक्ष प्राप्त करानेवाला है, यह जयवंत हो । यह सम्यक्त्व सहित ज्ञान की महिमा है वही अंतमंगल जानना ॥४०॥